गीतामंथन

लेखक

किशोरलाल घ० मशरूवाला

अनुवादक

शंकरलाल वर्मा

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली : लखनऊ

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

संस्करण
मार्च, १९३९ : १०००
दाम
डेढ़ रुपया

मुद्रक,
हरिकृष्ण 'प्रेमी',
भारती प्रि० प्रेस, लाहौर ।

क्षमा प्रार्थना

श्री० किशोरलालभाई का यह 'गीतामंथन' प्रेस में १॥ साल पहले दिया जा चुका था। प्रेस हमारे घनिष्ट मित्र का था। उनके आग्रह-पूर्ण आश्वासन पर ही यह काम उनको दिया गया था। प्रूफ देखने की ज़िम्मेदारी भी उन्होंने अपने ऊपर ले ली थी। पर समय की गति ने ऐसा पलटा खाया कि वे मित्र अपनी दोनों ज़िम्मेदारियों को नहीं निभा सके। किसी भी समझदार प्रकाशक की धीरज को तोड़ने वाली देरी इस पुस्तक के प्रकाशन में हुई और उससे ज्यादा भूलें इसमें रह गई हैं जो कहीं-कहीं तो मूल लेखक के साथ बहुत ज्यादा अन्याय कर जाती हैं; लेकिन जिन मुसीबतों में से इसके मुद्रक ने टक्करें ली हैं और परिस्थितियों के जिन उतार-चढ़ावों में से वे गुज़रते हैं वे अगर पाठकों को मालूम हों तो उनके प्रति सहानुभूति के ही भाव उठेंगे। पुस्तक में जिस प्रकार का टाइप लगा था वैसा दिल्ली में उस समय न मिल सकने के कारण भी हमें लाचारी दर्जे उसी प्रेस में इसे छपाना पड़ा।

आशा है पाठक इन भूलों को और इस देरी को क्षमा करेंगे और अगले संस्करण में इन्हें दूर करने का मौक़ा देंगे।

—मन्त्री

प्रस्तावना

छाछ बिलोते समय बिलोने की क्रिया से उसमें झाग बढ़ते हैं, और छाछ जितनी होती है, उससे अधिक दिखाई देती है। यह 'गीतामन्थन' भी इसी प्रकार का एक बिलोवन है। ऐसा करने में मुख्य उद्देश्य तो यही रहा है कि थोड़ा विस्तार करने से सामान्य पाठकों के लिए कुछ सरलता हो जाती है और स्पष्ट विचार करने में सहायता भी मिलती है।

श्री ज्ञानेश्वर ने गीता का अत्यन्त विस्तार करके जो ज्ञानेश्वरी बनाई है, वह तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन गई है। उनके जैसी कवित्व-शक्ति, योग-शक्ति, शब्दशक्ति तथा पद्य-प्रबन्ध शक्ति मुझमें नहीं है। परन्तु इसी कारण से ज्ञानेश्वरी अधिकांश में अधिकारी व्यक्ति के ही समझने योग्य ग्रन्थ बन गया है।

मुझे सन्तोष होगा अगर इस ग्रन्थ से भगवद्गीता 'स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों' को, अथवा संक्षेप में कहिए तो, विद्वत्ता में बालकों के समान व्यक्तियों में रुचि उत्पन्न करने में समर्थ हो।

गीता सम्बन्धी पुरातत्व चर्चा यहाँ मैं नहीं करना चाहता। अर्थात् महाभारत किस समय लिखा गया, गीता महाभारत की प्रथम रचना का ही भाग रही होगी अथवा पीछे से मिला दी गई, कहीं इसके श्लोकों में पीछे से घटा-बढ़ी तो नहीं हुई होगी, गीता को जो धृतराष्ट्र-संजय तथा कृष्ण-अर्जुन सम्वाद का रूप दिया गया है; वास्तव में वैसा कोई वार्तालाप हुआ भी है या नहीं आदि प्रश्नों की भी मैंने यहां चर्चा नहीं की है। इसका पहला कारण तो यही है, कि मैंने इस प्रकार की चर्चा करने वाले विद्वानों के ग्रन्थों का बारीकी से अध्ययन ही नहीं किया; इतना ही नहीं, मूल महाभारत भी पूरा नहीं पढ़ा, तब वेदादि दूसरे ग्रन्थों की तो बात ही क्या? इसलिए यह चर्चा करने की योग्यता ही मैं अपने में

नहीं पाता। दूसरा कारण यह है, कि श्रेयार्थी के लिए ये प्रश्न अधिक महत्व भी तो नहीं रखते। वह तो यही सोचता है कि ये सात-सौ श्लोक मुझे अपनी जीवन-यात्रा में किस प्रकार के पाथेय (पथ भोजन) का काम दे सकते हैं? इनसे मुझे जीवन विषयक कोई सुस्पष्ट दृष्टि प्राप्त हो सकती है या नहीं. और इनमें ग्रथित सब विचार स्वीकार किये जाने योग्य हैं अथवा उनमें कुछ नीर-क्षीरविवेक करने की ज़रूरत है? ये श्लोक चाहे एक ही समय में और एक ही आदमी द्वारा लिखे गये हों, चाहे जुदा-जुदा समय और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इनकी रचना की हो। इस पुस्तक का आदरपूर्वक अनुशीलन करने के लिए श्रेयार्थी के लिए इतना ही काफ़ी है कि वे उपयोगी हैं। यह मन्थन तो यही दृष्टि रखकर हुआ है। इसमें जहां मुझे कुछ स्पष्ट कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहाँ वैसा कहने में मैंने सङ्कोच नहीं किया है। इसलिए पहले, चौथे तथा ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में जोड़े गये उपोद्घात तथा अन्त का उपसंहार, गीता को समझने के लिए योग्य पूर्व पीठिका देने की इच्छा से, तथा कुछ आवश्यक स्पष्टीकरण करने की दृष्टि से दिये गये हैं। ये उपोद्घात तथा उपसंहार मन्थन का आवश्यक भाग ही समझा जाना चाहिए। यदि कोई इन्हें छोड़कर केवल अध्यायों का किया हुआ विस्तार ही पढ़ेगा अथवा प्रकट करेगा तो वह मेरे साथ अन्याय करेगा, इतना ही नहीं बल्कि अपने और सुननेवाले के मन में असत्य—अर्थात् मेरी दृष्टि से असत्य—विचारों को निर्माण करेगा।

मन्थन में एक-दो स्थानों पर मैंने कहा है कि भगवद्गीता के लेखक वैष्णव सम्प्रदाय के मालूम होते हैं। इससे एक दो पाठकों को आशङ्का हुई है कि कहीं मैं गीता को साम्प्रदायिक रूप तो नहीं देना चाहता? और चूँकि गीता हिन्दू-धर्म के श्रेष्ठ ग्रन्थों में से एक सर्वमान्य ग्रन्थ है इसलिए इसमें प्रतिपादित सम्प्रदाय भी श्रेष्ठ ही गिना जाना चाहिए, यह तो मैं सूचित नहीं करना चाहता। मेरा ख़याल है कि ऐसी शंका पैदा होने का कोई कारण नहीं था; फिर भी वह हुई है तो मैं यह स्पष्ट कर देना

चाहता हूँ कि मुझमें इस प्रकार का साम्प्रदायिक पक्षपात है ही नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि एकेश्वर भक्ति के लिए मुझे इस्लाम की ही तरह आग्रह है और मुझे तो ईश्वर की अवान्तर शक्तियों के नाम पर देवताओं के काल्पनिक स्वरूपों की होती हुई पूजाओं के प्रति भी स्वाभाविक अरुचि है। इसलिए मन्थन में मैंने जो-कुछ लिखा है, वह जुदा-जुदा सम्प्रदायों की तुलना करने की दृष्टि से नहीं, वरन् गीता के कई अध्याय को समझने के लिए जिन मान्यताओं की जानकारी कराना आवश्यक समझा गया, वह कराने और उनका अच्छे-से-अच्छा स्पष्टीकरण करने के लिए जितना आवश्यक था उतना ही लिखा है। फिर उन स्थानों पर मैंने स्पष्ट कह भी दिया है कि साम्प्रदायिक मान्यतायें तात्विक दृष्टि से नहीं, वरन् उपासना की दृष्टि से ही उपयोगी होती हैं और इसलिए अन्य सम्प्रदायवाले उन्हें उससे अधिक महत्व दें, तो भी काम चल सकता है। आशा है कि इस विषय में इतना लिखना पर्याप्त समझा जायगा।

इस 'मन्थन' की उत्पत्ति के लिए भी दो शब्द लिख देना आवश्यक है। 'गांधी विचार दोहन' की तरह इसकी उत्पत्ति भी विले पार्ला के 'गांधी-विद्यालय' के कारण ही हुई है। प्रातःकाल की प्रार्थना में मैं हाज़िर नहीं रह सकता था। इसलिए मैंने काग़ज़ के दो-तीन चौथाई टुकड़ों पर इस प्रकार सम्वाद का थोड़ा-थोड़ा हिस्सा लिखकर भेजने का क्रम शुरू कर दिया था। लिखते समय मैंने अपने सामने ऐसे स्त्री-पुरुष श्रोताओं को रक्खा था जो न तो निरे अपढ़ हों न निरे बालक और न बहुत विद्वान् ही हों। इसलिए सम्वाद की योजना इस तरह की जाती कि जिससे उस दिन कहीं भी उसकी समाप्ति हो जाती। किसी अध्याय का आरम्भ करने से पहले प्रस्तावना-स्वरूप जो-कुछ कहना आवश्यक प्रतीत हुआ वह उपोद्घात के रूप में लिख दिया है। इस प्रकार इस 'मन्थन' में तीन बार उपोद्घात आये हैं। फिर 'गांधी-विद्यालय' में आखिर यह 'मन्थन' पूरा हो ही नहीं सका। पांच-छः अध्याय लिखे गये होंगे कि मैं गिरफ्तार कर लिया गया। इस बीच, 'गुजराती-पत्र' तथा

'गांधी-विद्यालय' दोनों से सम्बन्धित एक सज्जन द्वारा 'गुजराती' के सम्पादक को इसका पता चल गया और उन्होंने 'मन्थन' को अपने पत्र में क्रमशः छापना आरम्भ कर दिया। इसलिए उसी क्रम और उसी पद्धति से शेष भाग मैंने जेल में पूरा किया। जिन विचारों को 'मन्थन' के सम्वादों में मैं नहीं रख सकता था उनको मैंने उपोद्‌घात तथा उपसंहार में दे दिये हैं। 'गुजराती' में यह पुस्तक पहले छपी, उसे अब बाद में सुधार-बढ़ाकर पुस्तकाकार छपवाया है, फिर भी उसकी पद्धति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया गया है। हाँ, पाठकों को एक बार फिर मैं याद दिला देना चाहता हूँ, कि 'मन्थन' लिखते समय मेरे सामने पण्डित-वर्ग नहीं बल्कि विचारवान किन्तु साधारण पढ़ा-लिखा वर्ग ही था।

इस 'मन्थन' में अर्जुन के प्रति विविध प्रकार के और बारम्बार आये हुए सम्बोधन बहुत-से पाठकों को नहीं भाये। इनमें के कई सार्थक हैं, फिर भी सबको यही प्रतीत होता है कि इनका अतिरेक हुआ है तो वह दोष ही समझना चाहिए। इतने पर भी मैंने इनको निकालने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु पाठकों को मेरी सूचना है कि पढ़ते समय जहां-जहां उन्हें ये सम्बोधन अतिरेक के रूप में मालूम पड़ें, वहां वे उनपर चिह्न लगा दें, जिससे कि दूसरी बार पढ़ते समय वे बीच में न आवें।

सेण्ट्रल जेल, नासिक रोड,
१४-३-३२

किशोरलाल घ० मशरूवाला

पुनश्च—इस पुस्तक के छपने में अनुमान से अधिक विलम्ब हो गया। 'गुजराती-पत्र' ने क्रमशः प्रकाशित कर इसका काफ़ी अच्छा प्रचार कर दिया था और इसलिए इसके लिए मांगें बराबर आती रहती थीं। इससे ज्यों-ज्यों देर होती जाती थी वह खटकती थी। किन्तु विलम्ब का एक कारण तो मैं खुद भी था। गुजराती लिपि में कई अक्षरों की बनावट देवनागरी-जैसी करने का मैंने प्रयोग शुरू किया था, और

उसके लिए कई नये टाइप भी बनवाये थे। मेरी इच्छा थी कि इन अक्षरों का उपयोग इस पुस्तक में करूँ। किन्तु अपेक्षा से ज्यादा तरह के टाइपों की आवश्यकता प्रतीत हुई और इससे काम रुकने लगा। इस लिए अन्त में यही निश्चय करना पड़ा कि वर्त्तमान लिपि में ही पुस्तक छपा ली जाय।

'गुजराती-पत्र' के संचालकों ने इस पुस्तक को अपने पत्र में प्रकाशित कर आरम्भ में ही इसे पाठकों तक पहुँचा दिया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। पत्र में छपा उसकी अपेक्षा इस पुस्तक में, मुख्यतः अठारहवें अध्याय में, वर्ण-धर्म सम्बन्धी श्लोकों का विस्तार तथा उपसंहार बढ़ा दिया गया है। एक-दो अन्य स्थानों पर भी कुछ परिवर्द्धन किया गया है। अन्यथा लेखन-शुद्धि तथा भाषा-शुद्धि के सिवा इसमें और कोई फेरफार नहीं किया है।

वर्धा, २४-१-३५ कि० घ० म०

विषय सूची

उपोद्घात	...	—३
१. अर्जुन का दुःख	...	—१६
२. ज्ञान तथा योग के सिद्धान्त	...	—२३
३. कर्म-सिद्धान्त	...	—८५
४. ज्ञान द्वारा कर्म-संन्यास	...	—१२२
५. ज्ञान-दशा	...	—१७१
६. चित्त-निरोध	...	—१८७
७. प्रकृति-विज्ञान	...	—२१४
८. योगी का देह-त्याग	...	—२२७
९. ज्ञान का सार	...	—२४२
१०. विभूति वर्णन	...	—२६३
११. विराट् दर्शन	...	—२७३
१२. भक्ति-तत्त्व	...	—२८९
१३. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार	...	—३०४
१४. त्रिगुण निरूपण	.	—३१७
१५. पुरुषोत्तम-स्वरूप	...	—३२७
१६. दैवी और आसुरी संम्पद	...	—३३६
१७. गुण से क्रियाओं का भेद	...	—३६०
१८. गुण-परिणाम	...	—३६८
उपसंहार	...	—३९७

गीतामंथन

उपोद्घात

१

गीता को हिन्दुओं का सर्वमान्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। वेदान्त की सब शाखाओं के आचार्य और क्या स्मार्त और क्या वैष्णव सम्प्रदाय—सभी गीता का आदर करते हैं, और अपने सिद्धान्तों में यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वे उसी का अनुसरण कर रहे हैं। इससे आज लगभग ऐसी स्थिति होगई है कि जो गीता को स्वीकार नहीं करता उसे हिन्दूधर्मी कहा जाय या नहीं, यह शङ्का होजाती है।

गीता का यह महत्त्व होने के कारण प्रत्येक जिज्ञासु को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना ही पड़ता है।

धर्म के सभी उत्कृष्ट ग्रन्थों की यह विशेषता होती है कि उनमें चर्चित विषय कभी पुराने नहीं होते, क्योंकि वे प्रत्यक्ष जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। हमें ईश्वर-परायण आध्यात्मिक जीवन बिताना हो, अथवा संसार के बाह्य सुख-दुःखों की ही चिन्ता-युक्त भौतिक जीवन-निर्वाह करना हो, जीवन के प्रश्नों के सम्बन्ध में जहाँ-कहीं चर्चा होती हो बुद्धिमान मनुष्य को उसमें रस उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकता। इसलिए गीता जैसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में कभी ऐसा नहीं होता, कि अब यह पुराने ज़माने का ग्रन्थ होगया।

जीवन का अध्ययन कभी पूरा नहीं होता। मनुष्य मरता है तबतक

अपने तथा दूसरे के जीवन के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ नई-नई जानकारी प्राप्त करता ही रहता है। प्रतिदिन उसे नये अनुभव होते हैं और वे उसकी बुद्धि में जीवन के अटल नियमों के सम्बन्ध में नया प्रकाश उत्पन्न करते रहते हैं।

इसके कारण, जीवन-सम्बन्धी विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों का अध्ययन भी कभी पूरा नहीं होता। ऐसा कभी होता ही नहीं कि अब गीता का पूरा पूरा विचार होगया, उसका अर्थ ठीक तौर पर समझ लिया गया, और अब उसके पुन: पढ़ने की आवश्यकता न रही। गीता इस प्रकार की छाछ नहीं कि एक बार उसे अच्छी तरह बिलो लिया और उसमें से जितना मक्खन निकल सकता हो निकाल लिया। इसका मन्थन तो जीवन के अन्त समय तक पूरा नहीं होता। ज्यों-ज्यों इसे बिलोते रहेंगे, त्यों-त्यों इसमें से हमारी बुद्धि पर नया-नया प्रकाश पड़ता जायगा।

आचार्य और सन्त गीता का आजीवन अध्ययन और मनन करने का उपदेश करते हैं। इसका कारण यह नहीं है, कि गीता कोई बहुत ही पुरानी अथवा कठिन भाषा में लिखी गई पुस्तक है, और इसे समझने की कोई गूढ़ कुंजी अथवा चाबी है जो खो गई है और इसलिए अब वह मिल नहीं सकती। असल में इसका कारण तो जीवन की ही अपनी गूढ़ता है। गीता ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसे केवल व्याकरण अथवा शब्दकोष की सहायता स कोई समझ ले। इसमें तो अत्यन्त संक्षेप में जीवन-विषयक कितने ही अटल नियम तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन नियमों और सिद्धान्तों का अर्थ कितना गहरा और व्यापक है, इसका ध्यान तो हमें अपने जीवन के विकास के साथ ही होता जाता है। ज्यों-ज्यों जीवन के विषय में अपना अनुभव बढ़ता है, और ज्यों-त्यों वह सूक्ष्म विचारयुक्त और व्यापक होता जाता है, त्यों-त्यों हमें इन

नियमों एवं सिद्धान्तों की सूक्ष्मता और व्यापकता की नित्य नई प्रतीति होती जाती है।

इसलिए, यह न समझना चाहिए कि गीता कोई गोलमोल अथवा गुप्त भाषा में लिखा ग्रन्थ है और इसलिए वह गूढ़ है। बात यह है कि हमारा जीवन निरन्तर विकासशील है और उसका पृथक्करण आसानी से नहीं होता, यही उसकी गूढ़ता का कारण है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, गीता गूढ़ नहीं बल्कि जीवन गूढ़ है और चूंकि गीता जीवन से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है इस कारण वह गूढ़-सा बन गया है।

२

गीता का मन्थन बार-बार करना क्यों आवश्यक है, वह इस सम्बन्ध में इतना कह देने के बाद अब हम गीता की रचना पर विचार करें।

गीता महाभारत का एक भाग है। महाभारत को समान्यतः इतिहास कहा जाता है। किन्तु उसे साधारण अर्थ में इतिहास अथवा तवारीख या हिस्ट्री कहना भूल है। वह इतिहास नहीं बल्कि ऐतिहासिक काव्य है।

पाण्डव और कौरव के जीवन की कई खास-खास घटनाओं का वर्णन करने के लिए कवि ने एक महाकाव्य के रूप में उसकी रचना की है। कवि का उद्देश यह नहीं कि वह घटना-क्रम का ज्यों-का-त्यों वर्णन करदे। उसका मुख्य उद्देश्य तो है एक महाकाव्य की रचना करना, और उस महाकाव्य के लिए उसकी मुख्य योजना है कुरुवंश के युद्ध को उसका अपना विषय बनाना।

काव्य होने के कारण इसकी कितनी ही घटनायें, कितने ही पात्र और कितने ही विवरण आदि कल्पित हो सकते हैं। इसमें अगर कहीं दो व्यक्तियों के बीच कोई संवाद आया है तो हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह संवाद किसी रिपोर्टर का लिया हुआ अथवा किसीने ज्यों-

का ज्यों लिखकर किसी सरकारी दफ़्तर में सुरक्षित रख दिया होगा और उसके आधार पर महाभारत में उसे लिखा है। वास्तव में होगा तो यह कि कवि ने अपने काव्य को सुन्दर और रसमय बनाने की इच्छा से खुद ही उसे घड़ लिया होगा। यह भी सम्भव है कि ऐसे दो व्यक्ति संसार में कभी पैदा ही न हुए हों अथवा हुए भी हों तो उनमें इस प्रकार का कोई संवाद तो हुआ ही नहीं हो।

८ काव्य लिखते समय कवि यह तो चाहता ही है कि लोगों का मनोरञ्जन हो। इस लिए वह ज़रूर ही तरह तरह की अद्‌भुत उपकथायें, विविध रस तथा वर्णन वगैरा का समावेश भी करता है। इसलिये यह न मानना चाहिये कि मूल में इतिहास का आधार होगा ही।

काव्य, कथा, पुराण वगैरा संवाद की पद्धति पर रचे जाते रहे हैं। हमारे देश में यह एक पुरानी रूढ़ि है। कवि को किसी घटना अथवा स्थान का वर्णन करना हो तो, उसे किसी प्रश्न की चर्चा करनी हो, अथवा किसी विषय पर अपना सिद्धान्त प्रकट करना हो तो हमारे देश के कवियों ने उसके लिए समान्यतः संवाद-पद्धति का आश्रय लिया है। यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थ-रचना की यह एक रूढ़ि सी बन गई है।

९ इसलिए, अमुक बात धृतराष्ट्र ने पूछी और संजय ने उसका उत्तर दिया, अथवा अर्जुन ने पूछा और कृष्ण ने जवाब दिया अथवा अगर यह बताया गया हो कि सारा महाभारत दो मुनियों के बीच हुई चर्चा की रिपोर्ट है, तो हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह सब इसी तरह घटा था, असल में यह तो केवल कवि की रचना है, काव्य-चातुरी है।

१ गीता पर भी हमें इसी दृष्टि से विचार करना चाहिये। श्री कृष्ण और अर्जुन के सम्वाद के रूप में हम गीता पढ़ते हैं, इस लिए सचमुच

श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच ऐसा संवाद हुआ होगा और वह कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय और उसी स्थान पर हुआ होगा यह मानना उचित नहीं। वास्तव में यह तो कवि की सजावट मात्र है।

३

किन्तु, महाभारत के लेखक केवल लोक-रंजनार्थ आख्यान रचनेवाले कवि न थे। वह तो ऋषि थे, धर्म के सूक्ष्म शोधक थे, और प्रजा को दृष्टि-प्रदान करनेवाले महान् ब्राह्मण थे। उनका ज्ञान एवं अनुभव कितना अगाध था, इसका इसीपर से अनुमान किया जा सकता है कि 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' यह एक कहावत रूढ़ होगई है। इसका यही अर्थ है कि जीवन-सम्बन्धी एक भी विषय ऐसा नहीं, कि जिसकी चर्चा महाभारत में न की गई हो। इसीलिए महाभारत के लिए कहा गया है कि वह ज्ञान का कोष एवं ज्ञान की निधि अथवा भण्डार है।

किन्तु यदि ग्रन्थ का रचयिता भिन्न-भिन्न दृष्टि से भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन करके बैठ रहे, तो वह केवल उसका सम्पादक कहा जायगा। उसपर से यह नहीं मालूम हो सकता कि महाभारत के रचयिता का अपना निज का सिद्धान्त क्या था। हम कह सकते हैं कि महाभारत के लेखक ने जीवन के तमाम पहलुओं पर विचार करके जो निर्णय किया उसे गीता में लिख दिया है। इसलिए भगवद्गीता महाभारत का सबसे महत्व का भाग होजाती है। भगवद्गीता महाभारत का सार नहीं है; उसमें तो महाभारतकार ने जीवन कैसा हो, उसमें मनुष्य को किस तरह बरतना चाहिए, जीवन का आदि और अन्त क्या है, इन तमाम बातों के सम्बन्ध में अपना अन्तिम निर्णय दे दिया है। दूसरे, जिस तरह वह भगवद्गीता में है, वैसा महाभारत के दूसरे किसी भी भाग में नहीं है।

यह काम इन्होंने श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद की कल्पना करके किया है। श्रीकृष्ण और अर्जुन महाभारत की कहानी में दो ऐसे पात्र हैं जो मुख्य कहे जा सकते हैं। उनके चरित्र को महाभारत में सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इसलिए दोनों उस के उच्च-से-उच्च पात्र हैं अतएव, अगर कवि इन दोनों के बीच संवाद की योजना करके अपने अन्तिम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करे तो इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

कवि ने महाभारत के युद्ध को इस सवाद का निमित्त कारण बनाया है। उन्हें तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है, वे ऐसे हैं, जो जीवन की कठिन-से-कठिन परिस्थिति में लागू किये जा सकते हैं, और यही बताना भी चाहते हैं। हर हालत में युद्ध तो कठिन प्रसंग है ही। किन्तु महाभारत के युद्ध में केवल युद्ध की ही विकटता नहीं थी। महाभारत केवल दो राष्ट्रों की प्रजाओं अथवा राज्यों के बीच का युद्ध न था, वह तो एक ही कुटुम्ब की दो शाखाओं का—सगों-सगों का—युद्ध था। इस युद्ध के दोनों पक्षों के पारस्परिक सम्बन्ध इतने नाज़ुक थे कि यदि मनुष्य में ज़रा भी कोमल भावनाओं का अंश हो तो उसे इसमें पड़ने की इच्छा ही न हो।

ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि जिनमें तीव्र धर्म-भावना हो तथा प्रेम एवं आदर-सम्बन्धी गहरी लगन हो, वे अपना व्यवहार किस प्रकार का रक्खें? ऐसे समय जीवन-सम्बन्धी सच्चा दृष्टि-बिन्दु प्राप्त होने पर ही मनुष्य को विवेकयुक्त, धर्मयुक्त एवं शङ्का-रहित मार्ग दिखाई दे सकता है।

इसलिए व्यास भगवान ने गीता के आरम्भ में अत्यन्त विकट प्रसंग का निर्माण कर, तीव्र धर्म-भावना-युक्त तथा अतिशय उच्च पात्रों द्वारा जीवन के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं।

४

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कौटुम्बिक युद्ध का यह निमित्त केवल विषय को प्रतिपादित करने के लिए ही खड़ा किया गया है। इस पर से यह नहीं कहा जासकता कि युद्ध के सम्बन्ध में व्यासजी का स्वतन्त्र मत क्या था? किसी भी प्रसंग पर युद्ध करना उचित है अथवा नहीं, एवं युद्ध में होनेवाली हिंसा उन्हें स्वीकार्य्य है या नहीं, ये प्रश्न गीता का विषय नहीं है।

व्यासजी ने अपने काव्य के लिए जिस समाज की कल्पना की है वह मर्यादित विचार रखनेवाला समाज ही था। उस समाज में इस हद तक 'विचारों की प्रगति हुई ही नहीं थी कि युद्ध करना ही अनुचित है। युद्ध करने से पहले यह युद्ध धर्म्म है या अधर्म्म?' बस इतना विचार करने तक ही इस समाज की प्रगति हुई थी। व्यास ने यह मर्यादा रखकर ही अपने काव्य की रचना की है।

युद्ध के विषय में उनके अपने क्या विचार थे, इसकी झाँकी महाभारत के अन्य भागों से होसकती है। उदाहरणार्थ, इन्होंने अनेक प्रकार से यह दिखाया है कि महाभारत के युद्ध से किसी का कल्याण नहीं हुआ। आस्तिक के आख्यान में भी इन्होंने नागों की हिंसा के दुष्परिणाम तथा उसे रोक देने से हुआ लोक-कल्याण दिखाने का प्रयत्न किया है। अपने मुख्य नायक श्रीकृष्ण से इन्होंने शस्त्र छोड़ने का सङ्कल्प कराया है। विजय के मिलने पर युधिष्ठिर को इन्होंने प्रसन्न नहीं होने दिया, बल्कि उलटे रुलाया है। अर्जुन के धनुर्विद्या-सम्बन्धी अहङ्कार को मिथ्या सिद्ध किया है। इन सब पर से अगर हम चाहें तो युद्ध के सम्बन्ध में इनका मत जान सकते हैं। किन्तु यह प्रस्तुत विषय नहीं है।

यहाँ तो युद्ध का निश्चय हो चुका है और उसमें से बच निकलना सम्भव नहीं, यह मानकर ही यह रचना की गई है। किसी भी प्रसङ्ग पर युद्ध करना उचित समझा जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न का इसमें स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया गया है।

५

अब हम गीता के आरम्भ के पहले की कतिपय घटनाओं का विचार कर लें।

पाण्डव और कौरवों के पारस्परिक कलह का चरू तौर पर सलाह-मशवरे से निपटारा करने के सब प्रयत्न निष्फल हो चुके थे। धर्मराज को यह युद्ध ज़रा भी पसन्द नहीं था। युद्ध को रोकने के लिए एक हद तक अपने स्वाभिमान को भी ताक में रखने के लिए वह तैयार होगये थे। किसी भी तरह से दोनों कुटुम्बों के बीच सुलह होजाय और आनेवाली भयङ्कर हिंसा किसी प्रकार रुक जाय, यही उनकी अभिलाषा थी। यदि किसी प्रकार युद्ध रुक सकता हो, तो अपने साथ हुए छल-कपट को, द्रौपदी के अपमान को, भीम और अर्जुन के रोष को तथा द्रौपदी के तानों को भी—सबको वह क्षमा-वृत्ति से सह लेने के लिए तैयार थे। और इसलिए अपनी तरफ़ से एक अन्तिम प्रयत्न की दृष्टि से वह श्रीकृष्ण को भी सन्धि-चर्चा के लिए भेज चुके थे।

श्रीकृष्ण का दोनों पक्षों पर प्रभाव था। सभी इन्हें पक्षपात-रहित, न्यायपरायण तथा बुद्धिमान मानते थे। जिस समय श्रीकृष्ण सन्धि-चर्चा के लिए गये, उन्हें सन्धि की बहुत आशा नहीं थी। किन्तु इन्हें भी धर्मराज का दृष्टिकोण पसन्द था। इन्हें भी युद्ध में कुछ श्रेय नहीं दिखाई देता था। द्रौपदी का अपमान हुआ था, उसका इन्हें दुःख तो था ही। वह यह भी समझ सकते थे कि द्रौपदी और भीम का रोष स्वाभाविक है।

यह भी वह जानते थे कि भीम और द्रौपदी चाहते ही नहीं कि सुलह हो, इन दोनों की तो इच्छा यही थी कि श्रीकृष्ण यही संवाद लेकर वापस लौटें कि सन्धि असम्भव है। किन्तु श्रीकृष्ण को युधिष्ठिर की धार्मिक प्रवृत्ति के प्रति आदर था। उन्हें प्रतीत होता था कि युधिष्ठिर की दृष्टि अधिक उदार और लोक-कल्याण-कारिणी थी। यदि किसी प्रकार मेल हो जाता तो भीम और द्रौपदी को तो सान्त्वना दी जा सकने की आशा थी, किन्तु यदि युद्ध करना ही पड़ा तो उससे जो अनर्थ होते वे किसी भी तरह सुधर नहीं सकते थे। इसलिए वह चाहते कि सुलह का कोई उपाय बाकी न छोड़ा जाय, और इसी कारण वह सन्धि-चर्चा के लिये गये भी।

हस्तिनापुर जाकर श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र, भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य सबको धर्म तथा न्याय का मार्ग समझाया। स्वयं दुर्योधन को भी समझाने का प्रयत्न किया। श्रीकृष्ण द्वारा पेश की गई पाण्डवों की माँग को अनुचित ठहराने के लिए कोई तैयार न था। स्वयं दुर्योधन भी न्याय का आश्रय नहीं ले सकता था। किन्तु उसे न्याय और धर्म का आश्रय लेना भी तो मंजूर नहीं था। वह तो मानता था कि पाण्डवों का उत्थान ही कौरवों का पतन है, इसलिए, या तो पाण्डव ही न रहें अथवा खुद वही न रहे। इसलिए दुर्योधन को समझाने में किसीको सफलता नहीं मिली। धृतराष्ट्र, भीष्म तथा द्रोण की सहानुभूति पाण्डवों की ओर थी। किन्तु ये लोग भिन्न-भिन्न कारणों से दुर्योधन की इच्छा का विरोध नहीं कर सकते थे, इसलिए इन सबके उत्तरों का सार यही कहा जा सकता है कि 'श्री कृष्ण, तुम कहते हो वह सब है तो, किन्तु तुम यह सब दुर्योधन को समझाओ। यदि वह स्वीकार करले तो हमें कोई आपत्ति नहीं, उलटे हम प्रसन्न ही होंगे। अगर वह स्वीकार नहीं करेगा, तो हमारे लिए यह असम्भव है कि हम उसकी इच्छा का उल्लङ्घन करें।'

इस प्रकार श्रीकृष्ण का दूतत्व निष्फल गया। युधिष्ठिर को भी यह प्रतीत हुआ कि अब युद्ध के सिवा अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। इससे युधिष्ठिर अथवा श्रीकृष्ण को सन्तोष नहीं हुआ था; किन्तु भीम तथा द्रौपदी को इससे अत्यधिक उत्साह पैदा हुआ। वे तो युद्ध के लिए ही तरस रहे थे। उन्हें सुलह पसन्द न थी।

युधिष्ठिर के नाम से सब मित्र-राष्ट्रों को रण-निमन्त्रण भेजे गये। युधिष्ठिर के पक्ष के सब राजा अपनी-अपनी सेनायें लेकर उनकी सहायता के लिए आ पहुँचे। सात अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिर की ओर से लड़ने के लिए तैयार होगई।

दूसरी ओर कौरवों ने भी तैयारी की। दुर्योधन अधिक साधन-सम्पन्न था और पाण्डवों के वनवास के समय उसने अपना बल बढ़ाने का खूब प्रयत्न किया था। इसलिए उसके पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगई।

दोनों की छावनियँ कुरुक्षेत्र में पड़ी। युद्ध आरम्भ करने में अब कुछ भी बाकी नहीं था। युद्ध करना उचित होगा या अनुचित, अब यह प्रश्न ही नहीं रहा था। इन सब प्रश्नों की छान-बीन हो चुकी थी, और अब तो सिवा कायरता के युद्ध टालने का कोई भी उपाय शेष नहीं रह गया था। धर्मराज की दृष्टि से कहें तो, यह युद्ध उन पर आपड़ा था और अब तो आई हुई परिस्थिति का सामना ही करना उनके लिए रह गया था।

युद्ध और सुलह के लिए इस प्रकार जो बातचीत चल रही थी, उसमें अर्जुन का क्या हिस्सा था, और उसका कौनसा स्थान था, इसका भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसमें अर्जुन का धर्म निश्चित करने में यह बात एक खास महत्व रखती है।

अर्जुन पाँचों पाण्डवों में बिचला था। वह युधिष्ठिर जितना शान्त

न था, न भीम के समान गरम। वह इतना युद्ध-प्रिय था कि उत्साह के साथ युद्ध में भाग ले सकता था और साथ ही युधिष्ठिर की आज्ञा-पालन करने के लिए आत्म-संयम भी कर सकता था। यों तो भीम भी युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन करता था, किन्तु इस आज्ञा-पालन में उसे सदैव सन्तोष नहीं होता था। अर्जुन विचार द्वारा समाधान कर लेता था; किन्तु उसकी भी प्रवृत्ति में तो युद्ध ही था। सुलह सम्बन्धी बात-चीत में उसने धर्मराज जितनी शान्तिप्रियता नहीं प्रकट की थी। हृदय की गहराई में तो उसकी सहानुभूति भीम और द्रौपदी की ओर ही थी। द्रौपदी का अपमान उसे कुछ कम नहीं अखर रहा था। किन्तु भीम उस दुःख को कड़वी भाषा में प्रकट करता था, जबकि अर्जुन उसे नम्रता-पूर्वक प्रकट करता था। बस, इतना ही अन्तर था। युद्ध का निश्चय होने पर अर्जुन को किसी प्रकार का दुःख नहीं हुआ।

वह धनुर्विद्या में कुशल था। दोनों ही पक्ष जानते थे कि युद्ध के जय-पराजय का आधार अर्जुन पर ही है। अर्जुन न होता तो कौरवों को कुछ भय ही न था, और एक अर्जुन के होने पर कौरवों की ग्यारहों अक्षौहिणी सेना खतरे में ही समझी जाती थी। यह भी कहने में कोई हर्ज नहीं कि पाण्डवों ने लड़ाई की जोखिम अधिकांश में अर्जुन की शक्ति पर ही उठाई थी।

खुद अर्जुन को भी अपनी शक्ति का पूरा-पूरा मान था। इन बारह वर्षों में उसने बहुत परिश्रम के साथ युद्ध के लिये कितने ही प्रकार के खास शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे। वह जानता था कि धर्मराज, भीम, द्रौपदी और स्वयं श्रीकृष्ण भी उसपर विजय की आशा रखते हैं; और इसके लिए उसे अभिमान भी था। वह धर्मराज का बड़ा आदर और पूजा करता था, किन्तु धर्मराज की अपेक्षा भी उसे अपने गाण्डीव से अधिक ममता थी।

किन्तु अर्जुन केवल योद्धा ही नहीं था। उसमें अनेक प्रकार की ऊँची भावनाएँ भी थीं। वह संस्कारवान् एवं धर्मपरायण था। इसलिए श्रीकृष्ण का प्रिय मित्र था, द्रोण का प्रिय शिष्य था, और भीष्म को भी वह प्यारा लगता था। वह तो जिसके सम्पर्क में आता, उसीका प्रेम-पात्र बन जाता था।

जिस प्रकार वह सबको प्रिय था, उसी तरह वह खुद भी सबसे प्रेम-भाव रखता था। द्रोण के प्रति उसकी गुरुभक्ति इतनी उत्कट थी, कि जिस समय धृष्टद्युम्न ने द्रोण का सिर काट डाला, उस समय धृष्टद्युम्न के अपने पक्ष का और द्रोपदी का सगा भाई होने पर भी वह उसे मारने को तैयार होगया। पूज्य जनों के प्रति भक्ति और मित्रों के प्रति प्रेम उसके स्वभाव में सहज और उत्कट थे। उसका जीवन शुष्क विचार युक्त अथवा भावना-रहित न था।

यह तो हुई गीता का अर्थ समझने के लिए भूमिका। अब हम गीता का अध्ययन आरम्भ करेंगे। किन्तु इस अध्ययन में टीका की तरह प्रत्येक श्लोक अथवा प्रत्येक शब्द पर मैं विवेचन नहीं करना चाहता। मैं तो इन श्लोकों का कुछ विस्तार करना चाहता हूँ, और श्लोकरूपी ढाँचे को सजाने की भी इच्छा रखता हूँ। यह करते हुए अनेक श्लोकों का एक-साथ मन्थन भी हो जायगा।

कई लोग कहते हैं कि गीता के केवल ७०० श्लोक हैं। सम्पूर्ण गीता का पाठ करने में दो घण्टे से अधिक नहीं लगते। इसलिए युद्ध-भूमि पर, दो घण्टे में, श्रीकृष्णदेव ने अर्जुन को यह उपदेश दिया होगा। किन्तु यह ख्याल ग़लत है। एक घण्टे के व्याख्यान को यदि कोई अक्षरशः उतार ले, तो भी उसके पढ़ने में एक घण्टा नहीं लगता। फिर, यह कोई व्याख्यान भी तो नहीं है। जैसा कि पहले, कहा जा चुका

है, वास्तव में ऐसा सम्भाषण हुआ भी होगा या नहीं, यह प्रश्न ही अप्रस्तुत है। यहाँ तो यही मानना उचित है कि कवि को इस रूप में यह चर्चा करनी मंजूर है।

किन्तु यह विषय इतना गहन है कि रचयिता ने ७०० श्लोकों में भले ही इसका प्रतिपादन किया हो, लेकिन सम्भव है उसे इसपर ७०० ही घण्टे नहीं वरन् कदाचित ७० वर्ष तक एकाग्र चिन्तन और परिश्रम करना पड़ा हो। और अगर गुरु-शिष्य के बीच इस प्रकार की तत्त्व-चर्चा चले, तो ७० घण्टे में तो वह पूरी हो ही नहीं सकती।

इसलिए मैं यहाँ इसकी विस्तार से चर्चा करूँगा, जिससे वह अच्छी तरह समझ में आ जाय।

प्रथम अध्याय

अर्जुन का दुःख

गीता का आरम्भ किस प्रकार होता है ? जैसा कि पहले बता दिया गया है, अब यह सवाल ही नहीं रहा है कि युद्ध करना चाहिए अथवा नहीं, वह उचित है या अनुचित ? युद्ध का निश्चय तो हो चुका है; इतना ही नहीं, वरन् कुरुक्षेत्र की तीर्थ-भूमि में दोनों पक्षों की सेनायें सुसज्जित हो व्यूह बाँधकर खड़ी होगई हैं, और सेनापति की ओर से युद्ध का आरम्भ करने का संकेत भर मिलने की देर है।

श्लोक-संख्या १ से ११

इस तैयारी का वर्णन कवि ने धृतराष्ट्र तथा संजय और दुर्योधन तथा द्रोण के सम्भाषणों द्वारा इस तरह से किया है :—

धृतराष्ट्र संजय से पूछता है—"कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि में दुर्योधन आदि मेरे पुत्र तथा पाण्डव एकत्र हुए हैं, यह तो मैं जानता हूँ। उनके लड़ाई के निश्चय को भी मैं जानता हूँ। अब मुझसे यह कहो कि वहाँ क्या क्या हुआ ! ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र के इस प्रश्न के उत्तर में सञ्जय ने कहा:—युद्ध आरम्भ हो उस से पहले पाण्डवों की सेना को व्यूहबद्ध खड़ी देख कर दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास गया और उनसे कहने लगा। ॥२॥

दुर्योधन ने कहा—गुरुदेव पाण्डवों की इस सेना को देखिए। द्रुपदराजा के पुत्र धृष्टद्युम्न ने इसको व्यूहबद्ध किया है। धृष्टद्युम्न तो आपका ही शिष्य है, इसलिए वह कैसा बुद्धिमान है, यह तो आप जानते ही हैं। कई वर्ष हुए, आपने द्रुपद राजा को पराजित किया था। तबसे वह आपसे वैर का बदला लेने के लिए उत्सुक होरहा है। द्रुपद ने एक ऐसा पुत्र प्राप्त करने के लिए यज्ञ किया था, जो आपका वध कर सके और उसके फलस्वरूप इसे धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदी प्राप्त हुए थे। द्रौपदी का अर्जुन के साथ विवाह कर उसे उसने अपना लिया, और धृष्टद्युम्न तो यही मानता है कि उसका जन्म ही आपका वध करने के लिए हुआ है।

'आचार्यदेव, यह ठीक है कि यह युद्ध मेरे और पाण्डवों के बीच कहा जाता है। फिर भी सच पूछिए तो यह कह सकते हैं कि हम तो केवल निमित्तमात्र हैं। वास्तव में यह युद्ध तो आपके और धृष्टद्युम्न के बीच है। हमारा सारा दारोमदार तो आपपर है। दोनों ही पक्ष के अग्रगण्य योद्धाओं के आप ही गुरु हैं। अतः आपसे बढ़कर और कौन हो सकता है? जिस तरह हमारा सब दारोमदार आप पर है, उसी तरह पाण्डव द्रुपद के बल पर जूझते हैं। इनकी पीठ पर यदि पाञ्चाल राजा न होते तो ये पाँच पाण्डव अकेले ही क्या कर सकते थे? इसलिए आप तो यही मानिए कि यह युद्ध आपका है और इसे पार लगाने का उत्तरदायित्व भी आप ही के ऊपर है।'

दुर्योधन ने फिर कहा—'धृष्टद्युम्न के अलावा दूसरे भी बहुतसे महान् योद्धा पाण्डवों के पक्ष में हैं। देखिए, यह है उनकी सूची, इसपर से आप उन्हें जान लें। ॥४–६॥

'अब हमारी ओर के महावीरों की गिनती कराता हूँ। आप तो है

ही। भीष्म पितामह हैं अर्जुन का प्रतिद्वंदी कर्ण भी हमारा ही है। इसके सिवा कृपाचार्य हैं और आपके चिरंजीवी अश्वत्थामा तथा अन्य अनेक शूरवीर योद्धा हमारे पक्ष में हैं हमारी सेना युद्ध में कुशल है, राजभक्त है, और सब साधन-सामग्री से सम्पन्न हैं। ॥७—८॥

हमारी ओर के प्रथम सेनापति के स्थान पर मैंने भीष्म पितामह को चुना है, जब कि विरुद्ध दल में भीम नियुक्त हुआ है। दोनों ओर की सेनाओं की तुलना में हमारा बल मुझे अपरिमित प्रतीत होता है, जबकि दूसरी ओर पाण्डवों का परिमित है। * ॥१०॥ इस सम्बन्ध में तो मुझे किसी तरह की शंका ही नहीं कि विजय तो हमारी ही है किन्तु एक बात मेरे मन में बराबर अशान्ति उत्पन्न कर रही है। वह यह कि सब लोग जानते हैं कि भीष्म पितामह की सहानुभूति पाण्डवों की ओर है। वह पाण्डवों का अपने बेटों की तरह प्यार करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वे तो उन्हीं का भला भी चाहते हैं, और केवल नमकहलाली की भावना से ही हमारी ओर से लड़ रहे हैं। इसलिए मेरे मन में यह शक हो रहा है कि वह मन लगाकर युद्ध नहीं करेंगे। दूसरी ओर मुझे यह निश्चय है कि जबतक भीष्म जीवित हैं, पाण्डवों की रत्तीभर भी नहीं चलेगी। अतः मेरी आपसे प्रार्थना है, कि आप भीष्म पितामह की सब तरह से रक्षा करें। ॥११॥

---

* बहुतसे टीका कारों ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है, कि कौरवों का बल अपर्याप्त अर्थात् अपूर्ण है और पाण्डवों का पर्याप्त अर्थात् पूर्ण है। किन्तु अपर्याप्त अर्थात्—अपार अमर्यादित, तथा पर्याप्त अर्थात् सीमावाला—मर्यादित भी होता है। लोकमान्य तिलक ने इसी प्रकार अर्थ किया है और मुझे वह अधिक सही प्रतीत होता है। महाभारत में यह श्लोक दो-तीन जगह आता है और वहाँ इसका अर्थ इसी तरह किया जाना चाहिए यह स्पष्ट मालूम होता है।

श्लोक १२ से १९

पितामह भीष्म जान गये कि दुर्योधन के दिल में उन के प्रति कुछ अविश्वास-सा है। अतः इस बात का दुर्योधन को निश्चय कराने के लिए उनकी सहानुभूति भले ही पाण्डवों की ओर हो, किन्तु नमकहलाली में एवं कर्तव्य-पालन में वह कभी चूकने वाले नहीं हैं। उन्होंने ज़ोर से गर्जना-पूर्वक युद्ध-नाद किया। ।१२।

अब तो दोनों दलों में रण वाद्य बजने लग गये। दोनों ओर से पृथ्वी तथा आकाश को गुँजा देनेवाला भयङ्कर वाद्य-रव हुआ। ॥१३॥
प्रत्येक वीर ने अपना-अपना शङ्ख बजाकर अपना युद्धोत्साह प्रकट करते हुए अपनी सेना में रणमद का संचार किया। इनमें श्री-कृष्ण तथा अर्जुन भी थे। अर्जुन के शङ्खनाद ने प्रतिपक्षियों के हृदय को थर्रा दिया। ॥१४—१९॥

श्लोक २० से २८

अभीतक अर्जुन के व्यवहार से यह बात प्रकट नहीं होती थी कि युद्ध में कुछ दोष हैं, अथवा युद्ध के लिए उसके मन में कुछ उत्साह नहीं है। सम्भव है कदाचित् उसके हृदय में कुछ तूफ़ान उठ रहा हो; किन्तु उस तूफ़ान ने अभी कोई स्पष्ट रूप धारण नहीं किया था।

शङ्ख बजाने के बाद अर्जुन ने सोचा—'चलो, ज़रा यह तो देखूँ कि मुझे कैसे आदमियों के साथ लड़ना है; दुष्ट दुर्योधन को विजयी बनाने के लिए आये हुए वीरों का मुँह तो देखूँ।' इस विचार से उसने अपने सारथी बने हुए श्रीकृष्ण से अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करने की प्रार्थना की। ॥२०—२३॥

श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही रथ को दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म तथा द्रोण के सामने लेजाकर खड़ा कर दिया। ॥ २४—२५ ॥

अर्जुन ने दोनों पक्षों की सेना को अच्छी तरह देखा, और ज्यों-ज्यों वह देखता गया त्यों त्यों इस युद्ध की भयंकरता उसे प्रत्यक्ष होती गई। उसने देखा कि यह कोई सामान्य विदेशी राज्य के साथ का युद्ध नहीं है; यह तो सगे-सम्बन्धियों का कौटुम्बिक युद्ध है। दोनों दलों में जहाँ देखिये तहाँ सगे-सम्बन्धियों के सिवा और कोई हई नहीं। इस युद्ध का अर्थ है गुरुजनों, आचार्यों, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, श्वसुर, सम्बन्धी, मित्रों तथा स्नेहियों को निघृण हत्या और संपूर्ण विनाश!

यह नहीं कि युद्ध-समिति में बैठ कर विचार करते समय अर्जुन को यह खयाल नहीं आया था; किन्तु जब तक उसने इस समूह को एकत्र हुआ अपनी नज़र से न देखा, तबतक उसे इस विनाश का संपूर्ण साक्षात्कार नहीं हुआ था।

अर्जुन ऐसा भावना-शून्य, पराक्रम-लोभी अथवा 'लड़ नहीं तो लड़नेवाला दे' ऐसा लड़ाका व्यक्ति भी नहीं था। अतः यह दृश्य देखकर उसकी भावुकता एकाएक जाग उठी। युद्ध की बात से उसका मन पीछे हट गया और वह दीन होगया ॥ २६-२८ ॥

दुःख से दीन अर्जुन श्रीकृष्ण से कहने लगा—"हे कृष्ण! मुझे न मालूम क्या हुआ जा रहा है; मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता। मुझे चक्कर-से आते मालूम होते हैं।" ॥२६-३०॥

श्लोक २६ से ३५

यह कह कर वह तो बैठ गया और रोने-जैसा होगया। श्रीकृष्ण इसका कारण समझ तो गये; किन्तु उसे उत्साहित करने के लिए कहने लगे "भाई, अकस्मात् तुझे यह क्या होगया? अरे, जबकि अपनी सारी शक्ति और शौर्य बताने का समय आपहुँचा है, तू इस प्रकार शिथिल कैसे होगया? शत्रु को देखकर इस तरह तू डर जायगा तो कैसे होगा?

वह देख—विजय, राज्य और सुख सब तुझे वरने के लिए तैयार खड़े हैं। यह निश्चय रख कि एक घड़ी भर में इस युद्ध को समाप्त कर शत्रुओं का संहार करके, तू निष्कण्टक राज्य करनेवाला है।"

इसके उत्तर में अर्जुन ने कहा—"विजय! मुझे तो विजय के कोई भी लक्षण दिखाई नहीं देते, जनार्दन! उलटे पराजय के सब लक्षण दिखाई देते हैं, हाँ, यदि केवल विरुद्ध पक्ष के नाश को ही आप विजय कहते हों तो बात दूसरी है; क्योंकि सौभाग्यवश मुझे आपकी सहायता मिलगई है और इसलिए इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि मैं प्रतिपक्षी का संहार कर सकूँगा। किन्तु कृष्ण! क्या यह विजय पराजय से भी बदतर नहीं होगी? यहाँ इस विरुद्ध पक्ष का अर्थ क्या है? इसे विरुद्ध पक्ष का नाश कहूँ अथवा स्वजनों का संहार कहूँ? क्या अपने कृपालु गुरु द्रोण को मारकर अथवा अपने पूज्य दादा भीष्म को मारकर विजय की खुशियाँ मनाऊ? और ये सामने खड़े हुए क्या कोई दूसरे हैं? इनमें से किसे मारकर विजयानन्द मनाऊँ? यदि दुर्योधन के पुत्र को मारकर आनन्द मानूँ तो फिर मेरे अभिमन्यु को मारकर, अथवा वह मर जाय तो, मुझे क्यों आनन्द नहीं मनाना चाहिए? अरे, ये भीष्म अथवा द्रोण मुझपर तलवार से वार करते आवें तो इसे मैं फूल की माला की तरह गर्दन पर झेल लूँगा। उन्हें प्रसन्न करने के लिए मैं तो सारे त्रैलोक्य के राज्य को भी ठोकर मार सकता हूँ; फिर इस आधे कुरुदेश की क्या बिसात? उसके लिए इतने सगे-सम्बन्धियों का नाश मैं कैसे करूँ और कराऊँगा?" ॥ ३१-३५ ॥

अर्जुन की बात सुनकर श्रीकृष्ण कहने लगे—"तो फिर कौरवों के अन्याय का क्या हो? उन्होंने जो इतना विश्वासघात और अपमान किया, क्या वह योंही गया?"

श्लोक ३६ से ४७

अर्जुन ने कहा -"सचमुच। लोभ के वशीभूत होजाने के कारण कौरवों की मति बिगड़ गई है। उन्हें सार-असार कुछ नहीं सूझता। राज्य और सुख ही उन्हें सर्वस्व प्रतीत होता है। इसीलिए यह भयङ्कर कुल-नाश उन्हें नहीं खटकता। किन्तु यदुनाथ कौरव अधर्म करें इसलिए क्या हमें भी आततायी बनकर शस्त्र लेकर अधर्म करना चाहिए? ज्ञानवान पुरुषों ने कुल क्षय करने का पाप कितना भयङ्कर बताया है? अरे, इस कुल-क्षय का तो अर्थ केवल कुरुवंश का ही नाश नहीं है; यह तो समस्त क्षत्रिय जाति का और उसके द्वारा सारे आर्यावर्त्त का नाश होने जारहा है मैं तो अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष देख सकता हूं कि यदि इस भयङ्कर युद्ध को हम नहीं रोकेंगे, तो इससे तो सनातनधर्म, कुल-धर्म तथा जाति-धर्म सबका उच्छेद करने के हम पाप-भागी होंगे। इससे जनता का जो अधःपात होगा, उससे वह हज़ारों वर्ष तक सँभल नहीं सकेगी।

"अहा! केशव, अच्छा हुआ कि देर से ही सही किन्तु मेरी आँख आज खुल तो गई। ओह! दो दिन के राज्य-वैभव के लिए हम कैसा भयंकर अधर्म करने के लिए तैयार होगये! धिक्कार है इस राज्य-लोभ को और धिक्कार है ऐसे मिथ्या शौर्य को! जनार्दन! क्षत्रियपने का मेरा सारा अभिमान आज चूर-चूर होगया है। मैं कह देना चाहता हूं कि मुझे अपना धर्म अब दीपक के प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखाई देता है बस, मैं अब युद्ध नहीं करूँगा। लो, यह मैं निःशस्त्र हो कर बैठता हूं—भले ही कौरव आकर मेरा वध कर जावें।" ॥३६-४६॥

इस प्रकार कहकर अर्जुन उद्वेगयुक्त हृदय से धनुष-बाण छोड़कर रथ की बैठक पर बैठ गया। ॥ ४७ ॥

द्वितीय अध्याय

ज्ञान तथा योग के सिद्धान्त

श्रीकृष्ण अर्जुन की यह दीन दशा देखकर तथा उसके शब्द सुनकर स्तम्भित होगये। ऐसा कुसमय का हृदय-दौर्बल्य उन्हें ठीक नहीं लगा। उन्होंने कहा—'भाई वाह! तू खूब धर्म का विचार करना सीखा है!

श्लोक २ से ३

क्या मुझे यही समझाने के लिए तू दौड़ा-दौड़ा द्वारिका आया था और उस दिन प्रातःकाल के समय मेरे पलंग के सामने बैठा रहा था? तू जो यह कहता था, कि तुम मेरे पक्ष में रहो, फिर भले ही सारे यादव कौरवों के साथ चले जायँ, क्या वह इसीलिए था कि यहाँ आकर मैं तेरी इस कायरता को ठीक तरह से देख सकूँ? इस प्रकार की आर्यों को शोभा न देनेवाली प्रसंग के प्रतिकूल प्रतिष्ठा तथा कीर्त्ति का नाश करनेवाली, कुसमय की कायरता तुममें कहाँसे आगई? यदि तुम जैसा पुरुष मृत्यु का दर्शन कर स्तब्ध होजाय तो फिर यही कहना पड़ेगा कि अब आर्यावर्त्त में क्षात्रवृत्ति टिक न सकेगी।

"चल, अब होश सम्भालकर कार्य में लग और इस दुर्बलता को छोड़ दे। यह बात ऐसी नहीं जो अर्जुन को शोभा दे।" ॥२-३॥

श्रीकृष्ण की इस ताड़ना का अर्जुन पर कुछ भी असर न हुआ। उसने कहा—"कृष्ण! तुम यह क्या कहते हो, मेरी समझ में नहीं आ रहा है। तुम तो तत्त्वज्ञान, धर्म तथा नीति के जाननेवाले हो। युद्ध के द्वेषी हो। यह

श्लोक ४ से ६

युद्ध तुम्हें जरा भी पसन्द नहीं है और इसलिए तुमने इसमें शस्त्र ग्रहण

न करने की प्रतिज्ञा की है। मैं उस समय निद्रा में—मोह में—था। तुम्हारा अनुसरण करने की योग्यता मुझमें न थी। मुझे धर्म का ज्ञान नहीं हुआ था। देर मे—अन्तिम घड़ी पर मैं जगा हूँ। मर ही जावें पर मारें नहीं; यह विचार ही श्रेष्ठ है यह बात मैं आज जान सका हूँ। ऐसी दशा में तुम किस प्रकार मुझे इसी विचार में दृढ़ करने के बदले इससे विचलित करना चाहते हो?

'जनार्दन, जिनके चरण धोकर पीता था और अब भी पी सकता हूँ, उन भीष्म और द्रोण को बाणों से बेधने के लिए मैं किस तरह खड़ा होऊँ? आह, ऐसे गुरुजनों का वध करने से इन्कार करने के कारण भीख माँगकर भी जीवित रहना अच्छा। किन्तु इनके रक्त से रञ्जित त्रिलोकी के राज्य को भी लात मार देना उचित है। ॥४—५॥

"फिर इस सम्बन्ध में भी अभी तो शङ्का ही है कि इस युद्ध में हम विजयी हों तो अच्छा होगा या पराजित हों तो वह अच्छा होगा; क्योंकि कौरवों को मारकर जीवित रहने की इच्छा करना हमें शोभा नहीं देता।" ॥६॥

"अर्जुन के यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण ज़रा हँसे और कहने लगे—ऐसी बात है? तो तेरा यही निश्चय है?"

अर्जुन ने कहा—"हाँ, इस क्षण तो मुझे प्रतीत होता है कि यह मेरा निश्चय ही है क्योंकि यह मुझे धर्म

श्लोक ७ से ६ के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है।"

श्रीकृष्ण ने पूछा "देख और सोच ले। तुझे अपने विचारों में कहीं दोष तो नहीं दिखाई देता? अगर तू अपना धर्म समझकर युद्ध से विरत होगया और फिर शेष रहे दूसरे योद्धा युद्ध आरम्भ करदें, तो क्या तू उसे शान्तिपूर्वक देख सकेगा? तेरी सहायता के अभाव

में पंगु बने हुए धर्मराज की कहीं पराजय होजाय, तो क्या तू उसे शान्ति से सहन कर लेगा? कौरवों की सभा में द्रौपदी का अपमान हुआ उस समय तू पराधीन था इसलिए तुझे वह अपमान पी जाना पड़ा था। यदि कौरव पाण्डवों को पराजित कर फिर द्रौपदी का अपमान करें और तू अकेला युद्ध में से हट जाने के कारण स्वतंत्र रह जाय, तो क्या उस समाचार को तू शान्त चित्त से सुन सकेगा? और अपनी इस निवृत्ति को कायम रख सकेगा? फिर एक अन्तिम प्रश्न पूछ लेता हूँ। मान लो कि तेरा यह निश्चय जानकर कि तू युद्ध नहीं करेगा, प्रतिपक्षी तेरी हंसी उड़ाव और तेरे गाण्डीव की निन्दा करें, तो क्या उसके सहने की तुझमें शक्ति है? मेरे प्यारे मित्र, धर्म-निर्णय की मैं तुझे एक कसौटी बताता हूँ? धर्म के मार्ग में अवश्य ही शारीरिक अथवा आर्थिक कष्ट आते हैं, किन्तु वह मार्ग चित्त की प्रसन्नता में से सूझता है और उस प्रसन्नता को बढ़ाता है। तू कहता है कि तूने अपने धर्म को पहचान लिया है, तो मैं तुझसे पूछता हूँ कि क्या तुझे वह प्रसन्न चित्त से सूझा है? और, उसका आचरण तेरे चित्त की प्रसन्नता और शान्ति को बढ़ावेगा अथवा घटावेगा?"

श्रीकृष्ण की प्रश्नावलि से अर्जुन घबरा गया और कहने लगा—"मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरे चित्त में प्रसन्नता नहीं भारी दुःख भरा हुआ है। यदि धर्म का मार्ग प्रसन्न-चित्त द्वारा ही खोजा जा सकता हो, अगर यह भी सत्य हो कि अपना धर्म पहचानने के बाद मनुष्य को ज़रूर ही प्रसन्नता का लाभ होता है, तब तो अवश्य ही मैं इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

"फिर मैं यह भी तो विश्वास नहीं दिला सकता कि तुमने जिस-जिस परिस्थिति का उल्लेख किया उसमें मैं शान्ति जरूर धारण कर सकूँगा, लड़ने की इच्छा नहीं करूँगा, अथवा मेरे मन में वैर तथा

क्रोध की आग धधक नहीं उठेगी। मेरे इस प्यारे गाण्डीव का अपमान तो मैं प्रत्यक्ष आर्य धर्मराज को भी नहीं करने दूँगा, फिर इन कौरवों से तो मेरा केवल एक कौटुम्बिक रिश्ता-मात्र है। इनसे प्रेम करने का दावा तो मैं नहीं कर रहा हूँ। इन्हें मैं किस तरह क्षमा कर सकूँगा।

"तो भी, अपनी विचार-सरणी में मुझे कहीं भी दोष नहीं दिखाई देता। क्योंकि मेरे लिये तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ओर से खेद और शोक ही शोक है। क्योंकि भीष्म और द्रोणसहित कौरवों को मारकर सारे त्रिभुवन का राज्य भी मुझे मिल जाय तो मुझे उससे शान्ति नसीब नहीं हो सकती। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि इन्हें मारकर भी मैंने केवल धर्म का ही आचरण किया है?

अर्जुन ने फिर कहा—"वासुदेव आपकी दलीलों पर मुझे जो शङ्कायें होती हैं इन्हें सुनकर आप उनका निराकरण करें। यदुनाथ, यह तो हम अक्सर देखते ही हैं कि मनुष्य को सत्य-धर्म दिखाई देने पर भी पहले के विरोधी संस्कारों के कारण उसके लिए उस धर्म का पालन करना कठिन हो जाता है। क्या हम यह नहीं देखते कि नये सूझे हुए सत्य पर जब हम अमल करना शुरू करते हैं तो उस समय पुराने संस्कार जाग उठते हैं और हमारी शान्ति और प्रसन्नता को हर लेते हैं? फर्ज कीजिए कि किसी पक्के शराबी को यह सूझता है कि शराब पीना बुरा है और इसलिए उसके छोड़ने का निश्चय करता है। किन्तु प्रति दिन शराब पीने का समय आने पर लोभ उसके सामने आकर खड़ा होजाता है। यदि वह पीता है तो सूझे हुए धर्म का भंग होता है, और उसे खेद होता है यदि नहीं पीता है तो पीने के लालच को रोकने के लिए उसे अपना बल खर्च करना पड़ता है। इस-में भी उसके मन की प्रसन्नता तो नहीं टिक पाती। इस प्रकार हम

देखते हैं कि धर्माचरण का प्रयत्न करते हुए प्रसन्नता नहीं होती। इसलिए अब बताइए कि यहाँ पर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्म का निश्चय करने में दोष हुआ है?

'मुझे इस विषय में तो ज़रा भी शंका नहीं है कि अपने वंश की इस प्रकार घोर हिंसा करना सर्वथा अधर्म है। इसलिए ऐसे समय तो यही धर्म समझा जायगा कि आदमी ऐसे वंश-विनाशक युद्ध से अपने आपको हटा लेते हैं। इसमें यह संकट अवश्य है कि इस धर्म का पालन करते समय पूर्व-संस्कार शान्ति को हर लेते हैं। किन्तु, तब यह सवाल उठना है कि मनुष्य को अपना चित्त धर्म के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए या अपने धर्म का निश्चय इस प्रकार करना चाहिए कि वह हमारे पूर्व-संस्कारों के अनुकूल हो?

"बस, मुझे तो प्रतीत होता है कि हमारे बीच यही सबसे अधिक महत्व-पूर्ण प्रश्न है। मेरी समझ में नहीं आता कि इस प्रश्न को कैसे हल करें। प्यारे वासुदेव, धर्माधर्म का निर्णय करने में, समस्त आर्यावर्त में, आज आपके जैसा कोई विद्वान नहीं है। महर्षि व्यास, भीष्मपितामह, ज्ञानी चचा विदुर तथा आर्य धर्मराज तक तत्व-निर्णय में आप ही के निर्णय को अन्तिम मानते हैं। मैं आपका बालमित्र हूं, किन्तु आज मैं शिष्य-भाव से आपकी शरण में आता हूँ। कृपा कर मेरे मन की इस उलझन को दूर करो तथा जो सत्य-धर्म हो उसीका मुझे बोध कराओ। जबतक आप मेरे मन का समाधान नहीं कर देंगे, तबतक मैं लड़नेवाला नहीं हूं।" ॥७–८॥

"मेरा समाधान नहीं करोगे तबतक मैं लड़नेवाला नहीं हूँ" यह कहकर अर्जुन तो खिन्न वदन हो बैठ गया। एक क्षण

श्लोक ६ से १३ तक श्रीकृष्ण अर्जुन को कौतूहलपूर्वक देखते रहे। ज्ञानवान् पुरुषों की-सी मालूम होने वाली किन्तु भूल-भरी इन दलीलों को सुनकर उन्हें ज़रा हँसी आगई। किन्तु इन दलीलों की तह में अर्जुन की निष्ठा और सत्य-धर्म के प्रति उसकी जिज्ञासा को देखकर उन्हें उसके प्रति अत्यन्त प्रेम तथा दया उत्पन्न हुई। अपने प्रिय मित्र को अपना सर्वस्व ने के लिए श्रीकृष्ण तो तड़प ही रहे थे। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की मैत्री की जड़ में कोई ऐहिक स्वार्थ नहीं था। अत्यन्त तप, चिन्तन तथा पुरुषार्थपूर्वक श्रीकृष्ण ने खुद कुछ जीवन के सिद्धान्त खोज निकाले थे और वे इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि अर्जुन जैसे सब प्रकार से योग्य मित्र के मन में उन्हें समझने और तदनुकूल आचरण करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो। वह क्षण आज उपस्थित हो गया था। उस यात्री की कैसी दशा होती है जो रास्ता नहीं जानता और ऐसी जगह आकर रुक जाता है जहाँ से दो रास्ते फूटते हैं। उसकी दुविधा तबतक नहीं दूर होती जबतक कोई जानकार आदमी आकर उसे ठीक रास्ता नहीं दिखा देता। वह तबतक बराबर शंकाशील बना ही रहता है और आगे नहीं बढ़ सकता ठीक वैसी ही स्थिति अर्जुन के मन की आज हो रही थी। धर्माधर्म के स्पष्ट सिद्धान्त समझ में आने पर ही वह बढ़ सकता था। इसलिए प्रकट मे कुछ विनोद करते हुए किन्तु भीतर से हृदय में अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने सिद्धान्त समझाना आरम्भ किया। विनोदभरी आँखों से वह अर्जुन की ओर यों देखने लगे मानों उसका मज़ाक उड़ा रहे हों, और बोले :—

'वाह! अर्जुन, तुम्हें धन्य है। धर्मशास्त्र समझने के लिए तूने ठीक स्थान और समय ढूँढा। पर मुझे तो मालूम होता है तूने फिर भी जल्दी

की। अरे भाई, युद्ध का आरम्भ तो हो जाने देता। तब कहा होता कि अब तत्त्व-चर्चा करो, नहीं तो यह लो मैं चला।' तो कुछ फबता भी तो। और फिर दलीलें भी कैसी पण्डित्य-पूर्ण और ज्ञानियों जैसी हैं! मैं तो तुझसे हमेशा से कहता आया हूं कि भाई, तू ठहरा सैनिक, पण्डितों जैसी तात्त्विक-चर्चा करना तेरा काम नहीं। किन्तु तुझे तो है अपनी बुद्धि का बड़ा भारी अभिमान। तू तो अपने दिल में समझता है कि मैं जिस तरह धनुर्विद्ध और वीर हूँ उसी तरह कुशल न्याय-शास्त्री भी हूं इसलिए उसमें भी मुझे दखल देना ही चाहिए। किन्तु भाई, जानता है न कि जो दूसरों का धन्धा करने जाता है वह अपना धन्धा तो बिगाड़ता ही है, पर चूँकि दूसरे का धन्धा बनता नहीं इसलिए उसे भी बिगाड़ता है।

"अर्जुन, अज्ञानी मनुष्य अपनी मर्यादा को जानते हैं और इसलिए तत्त्व की छानबीन में नहीं पड़ते। ज्ञानी पुरुष संकेत मात्र में तत्त्व समझ जाते हैं, किन्तु अर्द्धज्ञानी पण्डितों को सरल बातों को कठिन बनाकर समझने की आदत होती है। जहाँ कोई कठिनाई नहीं होती वहाँ ये कठिनाई खड़ी कर लेते हैं और थोड़े शब्दों में तो समझते ही नहीं शोक न करने योग्य बातों का शोक करते हैं, और पण्डिताई की भाषा में बातचीत कर अपनी विचार-शक्ति को उलझा देते हैं। ॥१०॥

"किन्तु तुझे अब तत्त्वज्ञान के ही समाधान की आवश्यकता है तो उठ, सावधान हो अपनी बुद्धि को सूक्ष्म करके और जबतक तेरी शङ्काओं का निवारण होकर तू शङ्का रहित नहीं बन जाता तबतक बराबर प्रश्न कर कर के विषय को छान डाल मैं सब दृष्टियों से तेरा समाधान-कर, तेरी बुद्धि से ही तेरा निर्णय कराऊँगा"

श्री कृष्ण ने आगे कहा—"देख अर्जुन! सुन तेरे हृदय में उत्पन्न तात्त्विक उलझन का मैं तीन तरह से उत्तर देना चाहता हूँ—एक केवल

तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से, दूसरे सर्वसाधारण लोगों की विचार-सरणी के अनुकूल व्यावहारिक पुरुषों की दृष्टि से और तीसरे तत्त्वज्ञान तथा व्यवहार का जहाँ मेल होता है ऐसे धर्मशास्त्र अथवा जिसे मैंने कर्मयोग नाम दिया है उसकी दृष्टि से।

"इनमें पहले तत्त्वज्ञान का निर्णय सुन। पार्थ, तूने तत्त्व-ज्ञानियों की-सी कई दलीलें की हैं। किन्तु तेरी सारी दलीलें अज्ञानयुक्त हैं। तेरी सब दलीलों का आधार जीवन और मृत्यु के बीच के अन्तर तथा सगे और पराये की भेद-भावना-पूर्ण दृष्टि पर है। यही तो तेरा अज्ञान दिखाई देता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवन और मृत्यु में कभी भेद नहीं देखते। जीना सुख है और मरना दुःख, यह दृष्टि तो अज्ञानी की है। समुद्र में किसी कारण लहरें अथवा बुलबुले उठते हैं और शान्त हो जाते हैं, उससे जिस प्रकार समुद्र के समुद्रपने में कुछ अन्तर नहीं पड़ता और जिस प्रकार कोई समझदार आदमी यह नहीं कहता कि लहर अथवा बुलबुलों का उठना अच्छा और शान्त हो जाना बुरा है, वैसी ही दृष्टि तत्त्वज्ञानियों की इस संसार के विषय में है। ॥ ११ ॥

"पार्थ, तुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं, तू ये सब राजा और सैनिक, इनकी वर्तमानकाल में तो हस्ती है और जब हम सब मर जायँगे तब हमारा अस्तित्व मिट जायगा। इसी विचार सरणी में से यह भी निश्चित होता है कि जन्म के पहले हम सबका कोई अस्तित्व ही नहीं था और इस जन्म से ही अस्तित्व में आये हैं। इसी कारण मर जाने का मतलब तू समझता है अस्तित्व का मिट जाना। फिर उसके साथ ही तेरा यह भी खयाल मालूम होता है कि अस्तित्व मिटता है इसलिए दुःखी होना चाहिए। इसीलिए तू सगे-सम्बन्धियों का अस्तित्व नहीं मिटाना चाहता।

"कौन्तेय, तत्वज्ञान का ऐसा निर्णय नहीं है। ज्ञानियों ने यह निश्चय किया है कि विविध प्रकार के आकारवाले इस जगत् तथा इसमें दिखाई देनेवाले सब देहधारी प्राणियों तथा पदार्थों में दो धर्म दिखाई देते हैं। एक तो ऐसा धर्म है जो बदलता, पैदा होता, बढ़ता घटता है और अन्त में नष्ट होता प्रतीत होता है। यह अस्थिर धर्म है। और दूसरा इस अस्थिर धर्म की तह में इसका आधार-रूप स्थिर धर्म है। अर्जुन, द्वारिका में समुद्र के किनारे बैठकर हम ने कई बार देखा है कि समुद्र में अनेक लहरें और बुलबुले उठ आते हैं। वे बड़े होते हैं, छोटे होते हैं। कभी-कभी कई इकट्ठे होकर उनका एक बड़ा बुलबुला बन जाता है, अथवा अनेक टुकड़ों में वह बँट जाता है। ये लहरें, ये बुलबुले ये फेन तथा सूर्य की किरणों के कारण इनपर दिखाई देने-वाले विविध रंग हमने आनन्दपूर्वक कई बार देखे हैं। पार्थ, ऐसा कोई बड़ा बुलबुला अगर फूट जाय अथवा कोई लहर अनेक छोटी-छोटी लहरों में विभक्त हो जाय, तो हमें उसपर कभी शोक नहीं होता। इनकी उत्पत्ति तथा विनाश दोनों कौतूहलवर्द्धक एवं आनन्ददायक ही लगते हैं, क्योंकि इन सबको हम पानी के अस्थिर तथा किसी निमित्त से उत्पन्न हुए भावों के रूप में ही ग्रहण करते हैं। हम जानते हैं कि इन आकारों के पैदा होने न होने अथवा उत्पन्न होकर नाश हो जाने से समुद्र के समुद्रपन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

समुद्र के उदाहरण की आत्मा के साथ तुलना करते हुए श्रीकृष्ण ने फिर कहा—"भाई अर्जुन, लहरों और बुलबुलों की तुलना में जिस प्रकार समुद्र अधिक स्थिर तथा सद्‌वस्तु है, उसी प्रकार इस जगत् तथा भूत प्राणियों की अपेक्षा यह चैतन्य रूप आत्मा ही स्थिर तथा सद्‌वस्तु है। यही समझ लेना कि चैतन्य का एक महान् और अपार सागर सर्वत्र भरा हुआ है। जहाँ कुछ है ऐसा नज़र आता है, वहाँ भी यह

मूल तत्त्व चैतन्य मौजूद है, और जहाँ कुछ नहीं है ऐसा प्रतीत होता है वहाँ भी यह है ही। इस अपार चैतन्य सागर में ब्रह्माण्डों के ये असंख्य गोले बुलबुलों की तरह पैदा होते हैं ये सब भूत प्राणी भी इसीमें उत्पन्न होनेवाली अनेक लहरें, तरंगे, छोटे-मोटे बुदबुदे तथा रंग बिरंगे फेन-से हैं। यह चैतन्य-रूप सागर सदैव गरजता रहता है। एक क्षण भी उसकी क्रिया बन्द नहीं रहती। इसलिए इसमें उत्पन्न होने वाले इन विविध आकारों में प्रतिक्षण फेरफार होता ही रहता है। कितने ही आकार फूटते हैं, टूटते हैं, दूसरों के साथ मिल जाते हैं, बड़ों से छोटे और छोटों से बड़े बनते हैं। जिस प्रकार हम समुद्र की लहरों को आनन्द तथा कौतूहल से देखते थे, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भी इस संसार के प्रतिक्षण होते रहनेवाले इस उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय को आनन्द तथा कौतूहलपूर्वक देखते हैं। इसमें शोक करने जैसी कोई बात उन्हें नहीं दिखाई देती।

"कौन्तेय! ज्ञानी पुरुष हमारे शरीर, मन तथा इन्द्रियों आदि के भावों में भी इस प्रकार चैतन्य का सतत चलता रहनेवाला प्रवाह ही देखते हैं। जबतक मनुष्य के शरीर में बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था आती है, तबतक वह यह समझता रहता है कि अभी तक यह एक ही जीवन चालू है, किन्तु मृत्यु नाम की क्रिया होते ही वह डर जाता है और यह समझता है कि अब जीवन समाप्त होगया। किन्तु! मित्र, यह अधूरी समझ है। बुद्धिमान पुरुष तो जानते हैं कि इसमें भी जीवन की ही क्रिया चल रही है। जिस प्रकार एक बुलबुले के छोटे से बड़ा होकर फूट जाने पर पानी का नाश नहीं होता, बल्कि इस बुलबुले के काम में आया हुआ पानी दूसरे ही क्षण दूसरा आकार धारण करने के लिए स्वतन्त्र हो जाता है, उसी प्रकार देह-रूपी एक आकार के नाश होने पर उसके काम में आया हुआ चैतन्य का अंश अन्य आकार

निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र होजाता है। इसलिए मरण नाम की क्रिया से बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता। ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण की यह दलील सुनकर अर्जुन बोला—"केशव, तुम्हारा यह कथन कि जीवन और मरण के बीच का भेद

श्लोक १४–१५ अज्ञान से भरा हुआ है, मैं समझा। किन्तु, तब जीवन में सुख-दुःख किस लिए है? समुद्र के बुल-बुलों और लहरों की तरह यदि हम सुख-दुःख के ज्ञान से रहित होते अथवा दूर रहकर देखनेवाले साक्षी होते, तो मारना या न मारना इस तरह का कोई विचार ही उत्पन्न होने का कुछ प्रयोजन नहीं था। किन्तु जहाँ सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव है, मृत्यु का प्रत्यक्ष भय है, वहाँ इस जड़ समुद्र तथा बुलबुले की उपमा से किस प्रकार सन्तोष हो सकता है?"

अर्जुन की इस शङ्का का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—"अर्जुन तुम ठीक कहते हो। द्वारिका के आस पास गर्जना करने वाले समुद्र तथा चैतन्य सागर के बीच ज़रूर अन्तर है, यह चैतन्य सागर में अनेक भूतप्राणी रूपी लहरें, तरंगे, बुलबुले आदि उठते हैं, वे सब चेतनावान होते हैं और इस लिए प्रतिक्षण जो हेर फेर होता रहता है, उसका उस उस स्थान पर मान भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार के हेर फेर को ही हम इन्द्रियों के विषय, अथवा सुख दुःख आदि द्वंद्वों के नाम से पहिचानते हैं। ऐसे अनेकों हेर फेर के प्रति विविध कारणों से प्राणियों में राग अथवा रुचि एवं दूसरी ओर कितनों ही के प्रति द्वेष अथवा अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इस लिए प्राणी कुछ हेर फेरों को सुख कहते हैं, और कितनों ही को दुःख। किन्तु अर्जुन, हेर फेर अथवा परिवर्त्तन सुख देने वाले हों अथवा दुःख देने वाले। किन्तु सच तो यह है कि कोई परिवर्तन अधिक समय तक नहीं टिकता। सभी

आते हैं और जाते हैं। क्षण भर के लिए प्राणी समझता है कि वह अत्यन्त सुखी है अथवा अत्यन्त दुःखी है। किन्तु दूसरे ही क्षण उसका सुख-दुःख केवल इतिहास अथवा स्मृति का विषय बन जाता है। एक क्षण में "है" के बदले 'था" बन जाता है। जो अनुभव जैसा प्रतीत हुआ था, वह केवल एक स्वप्न सा बन जाता है। इस लिए समुद्र की लहरों के तथा प्राणियों के जीवन के परिवर्तनों में ज्ञान अथवा मान का भेद भले ही प्रतीत हो, फिर भी तत्वतः दोनों का मूल्य एक सा ही है। इसी लिए ज्ञानी पुरुष इस क्षण मात्र टिकने वाले सुख-दुःख को व्यर्थ का महत्व नहीं देते, बल्कि धैर्य पूर्वक सहलेते है।

"और अर्जुन, देखो ता, यह तत्वज्ञान-नामक जो वस्तु है न, उसका फल, उसके लिए आवश्यक योग्यता अथवा व्यावहारिक रूप में उसको समझने के लिए उसका सार, जो कुछ चाहे कहलो वह यही है कि आदमी यह शक्ति और वृत्ति प्राप्त करले कि संसार के सुख-दुःखों से वह व्याकुल न हो, उन्हें शान्ति से सहलें उस के लिए आशा निराशाओं के कर में पड़ कर दौड़ धूप न करे, या हाथ पैर न पटके अथवा अपने ऊपर इनका नशा न करने दे। जो ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है, समझ लेना चाहिए कि वह तत्वज्ञान का सार समझ गया है, वही मुक्त होता है।" ॥ १४–१५ ॥

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—

श्लोक १६–१७ "अर्जुन, सब बातों का सार रूप मुझे तुझे जो कुछ कहना है, जुदी-जुदी तरह से तेरी शङ्काओं का समाधान करते हुए अन्त में जिस वस्तु पर भार रखना है, उस सब का आशय यही है कि किसी भी उपाय से हर्ष-शोक, सुख-दुःख से परे होजा। फिर तू चाहे तो सूक्ष्म तत्वज्ञान से यह स्थिति प्राप्त कर, चाहे ईश्वर की भक्ति से चित्त को इतना बलवान बना, चाहे धर्माचरण

की भावना से यह शक्ति प्राप्त कर, अथवा चाहे तो सात्विकगुणों के उत्कर्ष द्वारा हर्ष-शोक से परे हो। जिस तरह बन पड़े विचार करके द्वन्द्व से अलग हो, तो तू सब प्राप्त कर लेगा। जबतक ऐसी स्थिति नहीं होजाती, तबतक यही समझना कि कुछ भी हासिल नहीं किया। किन्तु, अभी तो मैं तुझे तत्त्वज्ञान की ही दृष्टि से अच्छी तरह समझाना चाहता हूँ।

"प्रिय भारत, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ज्ञानियों ने यह निर्णय किया है, कि प्रतिक्षण परिवर्तनशील इस संसार के मूल में जो आधार-रूप वस्तु है, वह सदा चैतन्य-रूप आत्मा है। यह आत्मा ही सदैव एकरूप रहता है, और कभी था-कभी न था ऐसा नहीं होता। इस-लिए ज्ञानी यह कहते हैं कि यह आत्मा ही सत् है। और तो यह सब संसार है, यह कहने में ही उसका निषेध हो जाता है। इसलिए, वे संसार को असत्—न होने के समान—बताते हैं।

'अर्जुन, यह सत्-स्वरूप आत्मा ही इस जगत् के मूल में और सर्वत्र ओतप्रोत एक सनातन वस्तु है। अविनाशी है। यह इसे किसी ने बनाया नहीं है और इसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं जो इसका नाश कर सके।" ॥ १६-१७ ॥

श्लोक १८

अर्जुन जगद्गुरु श्रीकृष्ण का इस प्रकार तत्त्व-निरूपण एकचित्त से सुन रहा था। केवल चैतन्य-रूप आत्मा के ही अस्तित्व का यह प्रतिपादन जैसा पहले न कभी जाना, न सुना, न समझा, उसे सर्वथा नवीन तथा आश्चर्यजनक प्रतीत हुआ। क्षण भर के लिए वह उक्त निरूपण का अर्थ समझने में मग्न होगया। उस ने अनुभव किया कि आज कुछ नया ही ज्ञान मिलता है, और उसे अधिक समझ लेने के लिए वह बोला—

"प्रिय मित्र श्रीकृष्ण, एकबार फिर तुम मुझे यह विषय समझाओ। एक क्षण तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं समझ गया, और दूसरे ही क्षण ऐसा मालूम होता है कि मानों तुम यह कुछ विचित्र ही बातें कहते हो। किन्तु तुम्हारी इन बातों के सुनने में मेरी अत्यन्त रुचि होती है। ऐसी सुन्दर तत्व-कथा छोड़कर इस नरक में धकेलने वाले युद्ध में कौन पड़े ?"

अर्जुन के ऐसे वाक्य सुनकर श्रीकृष्ण क्षणभर के लिए मौन रहे और कुछ विचारकर बोले—

"अर्जुन, मैं तुझे आत्मा-अनात्मा के भेद तो अवश्य ही समझाऊँगा। किन्तु मैं तुझे चेता देना चाहता हूँ कि तुझे कर्तव्य-भ्रष्ट करके तत्त्वज्ञान भी नहीं समझाऊँगा। आज तो तेरा कर्तव्य यही है कि इस सामने आये हुए युद्ध में अपना पराक्रम बताये। इसमें तुझे जो मोह उत्पन्न होगया है, केवल उसे दूर करने जितने ही तत्त्वज्ञान का मैं निरूपण करता हूँ। स्पष्टतः प्राप्त कर्तव्य को छोड़कर तत्वज्ञान के पीछे पड़ना इसे भी मैं स्वच्छन्दता ही समझता हूँ। मैं तुझे बता देना चाहता हूँ कि लड़ाई का काम कठिन हो अथवा सरल, स्वर्ग में लेजाने वाला हो अथवा नरक में, पर तू इसकी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता।"

इस प्रकार चेतावनी देते हुए श्रीकृष्ण ने आगे कहा—

"अर्जुन, सुन ! मैंने पहले समुद्र और लहरों की उपमा द्वारा तुझे चैतन्य और जगत् का सम्बन्ध समझाया। किन्तु यदि वह कठिन प्रतीत होता हो, तो अधिक सरल रीति से केवल आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध समझ ले।

"यह समझ कि छाछ में जिस प्रकार मक्खन अथवा तिलों में जिस प्रकार तेल समाया रहता है उसी प्रकार इस शरीर में आत्मा व्याप्त है। जिस प्रकार हमारे ग्वाल मक्खन निकाल लेने के बाद शेष बची हुई छाछ का कुछ मूल्य नहीं समझते और अन्त में कुत्तों तक को पिला देते हैं, अथवा जिस प्रकार तेल निकाल लेने के बाद बचे हुए थोदर—खल—को तेली अन्त में जला भी देता है, उसी प्रकार आत्मा-रहित शरीर जला देने अथवा गाड़ने योग्य रह जाता है। अरे, जितनी छाछ अथवा खल की उपयोगिता है, आत्मा-रहित इस देह की उतनी भी उपयोगिता नहीं है।

"अर्जुन, ऐसे इस शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध अत्यन्त विलक्षण है। जो धर्म आत्मा में है वह शरीर में नहीं, और जो शरीर में है वह आत्मा में नहीं। आत्मा के आधार पर हृष्ट-पुष्ट बने हुए तथा चलने-फिरने की शक्ति से युक्त यह शरीर, आत्मा के निकलते ही, मिट्टी के ढेले जैसा निश्चेष्ट बन जाता है और थोड़ी ही देर में सड़कर दुर्गन्धित होजाता है। इसे काटा जासकता है, जलाया जासकता है, दफनाया अर्थात् गाड़ा जासकता है, भिगोया जासकता है और सुखाया जासकता है। किन्तु आत्मा का धर्म इससे सर्वथा विपरीत है। अनित्य, दिखाई देसकने वाले तथा नाशवान शरीर में स्थित यह आत्मा नित्य, अदृश्य तथा अविनाशी है।" ॥ १८ ॥

श्लोक १६-२५

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—"अर्जुन, तू पूछता है कि मैं भीष्म और द्रोण को किस प्रकार मारूं? किन्तु भाई, ये सामने खड़े हुए जो दो वृद्ध दिखाई देते हैं, इनमें भीष्म और द्रोण ये सफ़ेद बाल वाले शरीरों का नाम है अथवा इनके अन्दर निवास करने वाली इनकी आत्मा का? यदि ये शरीर तेरे

पूज्य पुरुष हों, तो इनमें से आत्मा के निकल जाने के बाद स्वयं तूही इन्हें स्मशान में लेजाकर जला देने के लिए उतावला हो जायगा। और यदि इन शरीरस्थ आत्मा को तू अपना दादा और गुरु समझता हो, तो उसका तो नाश होगा ही नहीं। ये जीव तो जिस प्रकार अपनी वासनाओं के अधीन होकर वर्तमान शरीर धारण किये हुए हैं, उसी प्रकार इन शरीरों का नाश होते ही नवीन शरीर धारण कर लेंगे। केवल पुराने कपड़े उतारकर नये कपड़े पहन लेने जैसी ही यह क्रिया है। जो तेरे दादा और गुरु हैं, उन्हें तो तूने अबतक देखा भी नहीं है, और न तेरे बाण ही उनको दूर से भी स्पर्श कर सकेंगे और जिन शरीरों की रक्षा करने के लिए तेरा यह सारा प्रयास है वे एक दिन किसी-न-किसी तरह नष्ट तो होंगे ही। उन्हें मिटाने का कठिन कर्तव्य सिरपर आपड़ा है, केवल इसीलिए तुझे शोक करना उचित नहीं। तू तो इन शरीरों को भूलकर उस आत्मा पर ही दृष्टि रख जो न छेदा जासकता है, न जलाया जासकता है, न भिगोया जा सकता है, न कभी सुखाया जा सकता है। वह नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल, सनातन तथा मन और इन्द्रियों से अगम्य है। कर्तव्य-कर्म के आगे इन क्षणभंगुर शरीरों को कुछ महत्त्व देना उचित नहीं। ॥१६-२५॥

श्रीकृष्ण ने आत्मा और देह के भेद का जो यह निरूपण किया, उसे सुनकर अर्जुन फिर सोच में पड़ गया। वह बोला—

श्लोक २६-२७ 'कृष्ण, तुम मुझे असमञ्जस में मत डालो। तुमने पहले मुझे चैतन्य रूप केवल एक आत्म-तत्त्व को ही स्वीकार करने के लिए कहा। अब तुम आत्मा और अनात्मा, चेतन और जड़, इस प्रकार दो तत्त्व स्वीकार करने के लिए कहते हो। इसमें मैं किसे सच मानूँ ? जनार्दन, मैं जानना चाहता हूँ कि जिस तत्त्व की यह चर्चा आप कर रहे हैं और जिस अविनाशी, अनादि, चैतन्य-

रूप आत्मा की बातें लोग करते हैं, क्या वे आँखों-देखी साधारण बातें हैं अथवा केवल मन-गढ़न्त हैं? शरीर और आत्मा अलग अलग हैं और नाशवान् शरीर में से अविनाशी आत्मा अलग होकर निकल जाता और दूसरा शरीर धारण कर लेता है, इसका क्या प्रमाण है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा तत्त्वज्ञानियों की कोरी कल्पना ही है। वास्तव में यह शरीर और आत्मा अलग हैं ही नहीं। द्रौपदी के स्वयम्वर के समय जिस प्रकार द्रुपद राज ने यन्त्रों की सहायता से मछली को आकाश में घूमती-फिरती रक्खा था और यन्त्रों के रुकते ही उसका घूमना-फिरना बन्द होजाता था, उसी प्रकार पंचभूतों के अद्भुत रसायन से यह शरीर-यन्त्र चलता-फिरता रहता है और उसमें बिगाड़ होते ही यह यंत्र रुक जाता है। इसमें न तो कोई आत्मा प्रवेश करता है, और न निकलता है।"

केवल जड़ प्रकृति का ही अस्तित्व क्यों नहीं होसकता, ऐसी शंका उत्पन्न करनेवाले अर्जुन की बात सुनकर श्रीकृष्ण मुसकराते हुए बोले—

"भाई, आत्मा सद्वस्तु है अथवा कल्पना, इसका संशय रहित निश्चय अधिक सूक्ष्म विचार तथा निरीक्षण से ही होसकता है। किन्तु उसकी चर्चा में उतरने की अभी आवश्यकता नहीं है। तेरी दलीलों को मानकर ही हम अब विचार करें। मान लो कि तेरे कथन के अनुसार यह हिलता-डुलता शरीर आत्मा से भिन्न नहीं है वरन आत्मा शरीर के जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाला और मृत्यु के साथ मर जानेवाला कोई पदार्थ है। तोभी, महाबाहो, तुझे शोक करना उचित नहीं। क्योंकि तेरे कथनानुसार पंचमहाभूतों की किसी रासायनिक क्रिया से इन शरीरों का निर्माण हुआ है, इन महाभूतों की ही किसी रासायनिक क्रिया से इनमें प्रतिक्षण पुराने अणु क्षीण होते हैं और नये उनका

स्थान लेते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण की निरन्तर क्रिया द्वारा शरीर बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था में से गुजरता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। किन्तु जिसे तू मुर्दा कहता है उसमें भी इन पंच महाभूतों का जुदे प्रकार का रसायन और उसकी भिन्न प्रकार की व्यवस्था होती है—इसके सिवा कुछ नवीन बात नहीं होती। मरे हुए शरीर को तू पड़ा रहने दे तो उसमें कीड़े पैदा होजाते हैं, वे बताते हैं कि इसमें पंच महाभूतों की क्रिया तो जारी है ही। इस शरीर को जला दिया जाता है, तो भी वह सूक्ष्मरूप से आकाश में ही रहता है। इससे न तो कुछ नवीन आता है न कुछ जाता है। महाभूतों का संयोग-वियोग अनिवार्य रूप से होता रहता है। उसमें अर्जुन-रूपी महाभूतों के एक संघ का भी हाथ हो तो उसमें शोक करने जैसी कौनसी बात है? ॥ २६—२७ ॥

श्रीकृष्ण ने फिर कहा—

श्लोक २८　　"अर्जुन, पानी की बूँदों की हम एक, दो, तीन इस प्रकार गिनती कर सकते हैं, उन्हें हम अलग-अलग कर सकते हैं और जबतक वह पानी रहता है तबतक यह तालाब का पानी है और वह नदी का पानी है इस प्रकार भेद कर सकते हैं। किन्तु पानी की जो बूँद भाफ बनकर उड़ जाती है, वह बूँद विश्व में से नष्ट नहीं होती, यह जानते हुए भी, उसका उसके बाद क्या होता है, यह हम अच्छी तरह देख अथवा जान नहीं सकते। अर्जुन, पानी की बूँद उड़ जाने के बाद जिस प्रकार उसका इतिहास अगम्य बन जाता है, उसी प्रकार आकाश में से बूँद बनकर टपकने से पहले भी वह कहाँ थी और किस प्रकार भाफ बनी आदि भी हम कुछ नहीं जानते।

"पार्थ, भूत मात्र के जीवन की भी यही स्थिति है। अमुक मनुष्य जन्मा और मर गया, उस बीच के उसके जीवन की बातें हम स्पष्ट तौर पर जानते हैं। किन्तु उसके जन्म के पहले की और मरण के बाद की स्थिति अप्रकट-अव्यक्त है। इस प्रकार, प्राणीमात्र का एक छोटा-सा समय ही हमारे देखने में आता है। इसके अनादि भूतकाल को तथा अनन्त भविष्यकाल को हम नहीं जानते। धनञ्जय, सगे-सम्बन्धियों के इस अपरिमित काल की हम किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते, कर भी नहीं सकते। तब उनके इस प्रकट हुए थोड़े-से काल के लिए क्या चिन्ता की जाय?' ॥ २८॥

श्रीकृष्ण ने फिर कहा—

श्लोक २९–३० "प्रिय पाण्डव, तेरे मन में जो यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यह आत्मा सत्य वस्तु है अथवा केवल कल्पना मात्र है, और यह प्रत्यक्ष के समान दिखाई देनेवाली जड़ प्रकृति ही सत्य क्यों नहीं है इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। यह विषय ही इतना सूक्ष्म और कठिन है, कि सैकड़ों वर्षों से बड़े-बड़े विचारक इसकी खोज में हैं और इसकी छान बीन में लगे हुए हैं, तो भी इसके अन्त को नहीं पा सके हैं। इतना ही नहीं संसार के बड़े-बड़े तत्वज्ञानी भविष्य में भी सैकड़ों वर्षों तक इसकी चर्चा करते और जुदे-जुदे मत स्थापित करते रहेंगे। इन सबमें एक ही बात समान रहती है, और वह यह कि यह विषय तत्वज्ञों को सदैव आश्चर्ययुक्त रखता है और उनके चित्त को बेचैन किये हुए है, इतने पर भी कोई इसका अन्त पाने में समर्थ नहीं होता। महर्षि इसे 'नेति नेति' कह कर ही चुप होजाते हैं और यह मन और वाणी से परे है, ऐसा निर्णय करते हैं। ॥ २९ ॥

'फिर भी तुझे मेरा निश्चित सिद्धान्त जानना हो तो मैं कहता हूं कि सब शरीरों का आधार-रूप आत्मा नित्य है और अवध्य है, और इसलिए किसी भी प्राणी के लिए शोक करना उचित प्रतीत नहीं होता।' ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण ने फिर कहा—"प्रिय कौन्तेय, तत्त्वज्ञान की दृष्टि से न तो कोई मरता है, न कोई मारता है। मैंने मारा

श्लोक ३१ से ३७ अथवा मैं मारा गया, ऐसा समझने वाले दोनों अज्ञानी हैं। यह आत्मा न कभी जन्मा है, न कभी मरने-वाला है। मैंने तुझसे कहा है कि अनादिकाल यह एक ही अविकारी स्वरूप में विद्यमान है। इसलिए, ऐसे तत्वज्ञानी पर सरल अथवा कठिन जो कर्तव्य आ पड़ता है, उसे वह निःशंक चित्त एवं दृढ़ मन से करता है और उसके परिणाम के विषय में कुछ शोक नहीं करता।

"किन्तु,तत्त्वज्ञान की यह दृष्टि तुझे विचार और आचार में परिणत करनी बहुत कठिन प्रतीत होती हो, तो तू केवल साधारण किन्तु श्रद्धालु लोगों की दृष्टि से इसका विचार कर देख। इस दृष्टि से भी तुझे यह प्रतीत हुए बिना न रहेगा, कि युद्ध करना ही तेरा कर्तव्य है। यदि तू यहाँ खड़े लाखों सैनिकों से उनका मत पूछेगा, तो वे तुझसे एकस्वर से यही कहेंगे कि मनुष्य जिस स्थिति में जन्मा हो अथवा आ पड़ा हो, उस परिस्थिति के अनुरूप कर्तव्य-पालन करते हुए मरने के सिवा उसके लिए कोई दूसरा धर्म ही नहीं है। वे कहेंगे कि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध में लड़ने से बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं, और इससे बड़ा कोई जीवन का लाभ नहीं है। यह तो ऐसा प्रसंग है मानों देवताओं ने

क्षत्रिय को स्वर्ग में प्रवेश करने के लिए स्वयं ही द्वार खोल दिये हैं। रण-भूमि में शस्त्र से घायल होकर मरने से बढ़कर क्षत्रिय के लिए और कोई उत्कृष्ट मृत्यु नहीं। यदि तू ऐसे धर्मयुद्ध से पीछे हट जायगा तो अठारह अक्षौहिणी सेना में से एक भी सैनिक तेरे काम को उचित नहीं बतायगा। वे तुझे धर्मभ्रष्ट, कायर तथा नरक का अधिकारी समझेंगे। तेरे शत्रु तेरे बहादुरी के पिछले सब कामों पर कालिख पोत देंगे और तुझे निन्दा तथा अपकीर्ति ही प्राप्त होगी। प्रिय अर्जुन, तेरे लिए इस से बढ़ कर दुःख और क्या हो सकता है? ऐसी अपकीर्ति प्राप्त कर के जीवित रहने की अपेक्षा तेरा मर जाना कम दुःख की बात होगी। अर्जुन, लौकिक दृष्टि तो यही मानती है कि क्षत्रिय के लिए दो ही मार्ग हैं—या तो युद्ध में मर कर स्वर्ग जाना, या विजयी होकर पृथ्वी का भोग करना। इस प्रकार यदि तू इन लाखों लोगों की राय लेगा, तो ये तुझे दृढ़-निश्चय से लड़ने का ही मार्ग बतावेंगे।" ॥३१—३७॥

श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित साधारण लोगों के दृष्टि बिन्दु का अर्जुन पर बहुत असर न हुआ। उसने कहा—

अर्जुन द्वारा जनता की निन्दा

'वासुदेव, साधारण अज्ञानी एवं पामर लोगों की विचार-सरणी आप क्या सोचकर मेरे सामने पेश कर रहे हैं? यदुपति, भूख, निद्रा, भय तथा काम केवल इन चार विषयों को ही समझनेवाला साधारण जन-समूह क्या कोई मनुष्य-जाति है? मैं तो इन्हें केवल पशु अथवा बन्दर के समान ही समझता हूँ। जिस प्रकार मस्त किया हुआ हाथी, गैंडा, भैंसा अथवा मेंढा मूढ़ होकर लड़ने आता है, किन्तु उसमें उसका अपना क्या हिताहित है यह समझ नहीं सकता, उसी

प्रकार यह अठारह अक्षौहिणीसेना हमारे उत्तेजनात्मक भाषणों से तथा स्वर्ग के लोभ मे अथवा हमारे बताये बड़े-बड़े इनामों के लालच से याज्ञिक ब्राह्मण के पीछे जाने वाले मेंढे की तरह अपने नाश के लिए ही हमारे पीछे आती हैं धर्म-अधर्म की जैसी कल्पना हमने इन के दिमाग़ में बैठा रक्खी है उसी प्रकार वे उसे पकड़े बैठे हैं और तदनुकूल आचरण करते हैं। इनके द्वारा होनेवाली कीर्ति अथवा निन्दा दोनों का ही मैं एकसमान मूल्य करता हूँ। साधारण जनता की प्रशंसा से अपने कृत्य की सत्यता अथवा औचित्य निश्चित करनेवाले और उस के तिरस्कार से अपनेको असत्यधर्मी माननेवाले पुरुष को मूर्ख ही समझना चाहिए। कृपाकर उसके दृष्टि-बिन्दु से मुझे अपना धर्म निश्चित करने की प्रेरणा न करें।"

श्रीकृष्ण की अर्जुन को फटकार

सर्वसाधारण जनता के सम्बन्ध में अर्जुन के मन में ऐसी तुच्छ बुद्धि है, यह जानकर श्रीकृष्ण को आश्चर्य और दुःख हुआ। गोप-ग्वालियों के प्रेमामृत से पले हुए श्रीकृष्ण मन में सोचने लगे—'ओहो अर्जुन को अपनी बुद्धि पर इतना गर्व है, यह तो मेरे ध्यान में ही नहीं आया था। आन-बान के इस प्रसंग पर अर्जुन को ऐसा मोह उत्पन्न हुआ है अब मुझे इसका आश्चर्य प्रतीत नहीं होता। ऐसा अहंकारयुक्त चित्त स्पष्ट धर्म समझ ही नहीं सकता और ज्यों-ज्यों वह बुद्धि का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक उलझता ही जाता है। यह अर्जुन यह समझता मालूम होता है कि बुद्धि का अर्थ ही तर्क-शक्ति है। वह यह नहीं जानता कि अकेली बुद्धि तो वासना अथवा आवेश की दासी है।

किसी वासना का आधार लेकर बुद्धि तर्क चलाती है। खुद इस वासना का भाव ही उचित है अथवा नहीं, इसका निर्णय करने के लिए दूसरे ही प्रकार की बुद्धि की आवश्यकता रहती है। इसलिए भावना की शुद्धि तथा नम्रतापूर्वक सत्य-शोधन की वृत्ति बिना चाहे जैसा पण्डित हो तो भी वह धर्म का मार्ग जान नहीं सकता। इसलिए पहले मुझे अर्जुन के इस गर्व का खण्डन करना चाहिए।"

श्रीकृष्ण तो पतित, पामर, श्रद्धालु तथा भोले-भाले स्त्री-पुरुषों के ही हितैषी थे। उनके प्रेम का स्मरण होते ही ज्ञानी होते हुए भी, वे भाववश हो जाते थे। ऐसी दशा में अर्जुन द्वारा की गई सर्व-साधारण जनता की इस निन्दा को वे सह न सके। अर्जुन उनका प्रिय सखा था और आज शिष्य-भाव से शरण में आया हुआ था, फिर भी उनकी वाणी में कुछ भाव-विशेषता और रोष प्रकट हुए बिना न रहा। उन्होंने कहा—

"ध्वजा अथवा पताका पर वानर का चिह्न रखनेवाले और बन्दर के समान ही घुटनों तक लम्बे हाथ होने का गर्व रखनेवाले मेरे प्रिय धनुर्धर अर्जुन! अपने जान-माल की परवा न कर केवल स्वामीभक्ति की ही भावना के वशीभूत होकर आये हुए भले भोले और बहादुर सैनिकों के आत्म-समर्पण का मूल्य तूने खूब आँका है। यही तेरी भलमनसाहत है? तेरी तो मानों यह धारणा मालूम होती है कि ये लाखों सैनिक जिनके पास न सम्पत्ति है और न अधिकार, केवल पशु ही हैं। इनमें न बुद्धि है न विचार-शक्ति। सिवा पेट भरने और मरने के ये कुछ जानते ही नहीं और मनुष्य तो बस तुम सिर्फ सम्पत्तिशाली मुट्ठीभर अधिकारी और चतुर कहे जानेवाले लोग ही हो! अर्जुन, भला तेरे मन में ऐसा मिथ्या अभिमान कबसे पैदा हुआ?

किन्तु. मुझे यह प्रश्न करने की आवश्यकता ही नहीं। क्योंकि बुद्धि की जिस मलिनता के कारण तूने यह कुसमय का संवाद खड़ा किया है, ये विचार भी उसी के अनुकूल हैं।

"किन्तु कौन्तेय सामान्य जनता के सम्बन्ध में मेरे विचार जुदा ही हैं, यह मैं तुझे समझाऊँगा।"

फिर सामान्य जनता के सम्बन्ध में अपने विचार बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा – 'अर्जुन तेरी यह धारणा गलत है कि सामान्य जनता बुद्धि-हीन होती ह, और तेरे जेसे बुद्धिमान पुरुष जो कुछ संस्कार उस पर डाल देते हैं उन्हें वह आँख मूँदकर पकड़े बैठी रहती है। हाँ, यह बात सच है कि साधारण लोग तर्क कुशल नहीं होते। यह भी सच है कि वे अपने संस्कारों पर श्रद्धापूर्वक दृढ़ रहते हैं और उनके समर्थन में उदाहरण अथवा दलीलें देकर वाद-विवाद नहीं कर सकते। यह भी सत्य है कि तुम जैसे न्यायशास्त्र पढ़े हुए विद्वान उनकी श्रद्धा के खिलाफ शास्त्रार्थ करें तो वे बेचारे उलझन में पड़ जायँगे और उत्तर न दे सकेंगे। किन्तु अगर कोई व्यक्ति अपनी श्रद्धा का समर्थन तर्क द्वारा न कर सके तो वहश्रद्धा मूढ़ता युक्त है, अथवा उसके मूल में अपने हिता-हित की कोई प्रतीति ही नहीं है, यह न समझना चाहिए।

"पार्थ, वे बुद्धिहीन भी नहीं होते और भावना-रहित भी नहीं होते। इसके विपरीत, तुझे मैं बताऊँगा, कि जिन्हें हम साधारणतः बुद्धिमान समझने के लिए ललचाते हैं, उनकी अपेक्षा इनकी भावना तथा उसी प्रकार बुद्धि भी विशेष स्थिर और तीक्ष्ण होती है।

"किन्तु सच तो यह है अर्जुन, कि साधारण मनुष्यों की भावना और बुद्धि के बीच, एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए तालाबों की तरह, सतह का भेद नहीं होता। उनकी भावना जितनी विकसित होती है, वहींतक

इनकी बुद्धि सोच सकती है और जितना उनकी बुद्धि सोच सकती है उतने पर दृढ़ रहने के लिए उनकी भावना तैयार रहती है। जहाँ ये लोग भावना द्वारा नहीं समझ सकते, वहाँ बुद्धि दौड़ाने का प्रयास ही नहीं करते।

'फिर, जिस प्रकार स्थिर हुए पानी में प्रतिबिम्ब एकदम और स्पष्ट दिखाई देता है, किन्तु हिल जाने के बाद स्थिर होनेवाले पानी में प्रतिबिम्ब की रेखायें धीरे-धीरे दिखाई देने लगती हैं और पूरी तरह स्थिर हो जाने तक थोड़ी बहुत अस्पष्ट ही रहती हैं, उसी तरह साधारण लोग जितना ग्रहण करते हैं उतना एकदम और पूर्णरूप से ग्रहण कर लेते हैं जब कोई वस्तु आँख में आती है तब मानो बिना विचार किये ही आँख मिचती हुई दिखाई देती है: किन्तु वस्तु दीखना, आँखें मूँदने का सकल्प करना और उनका मिच जाना इन सब क्रियाओं का हमें अलग अलग भान नहीं होता, उसी तरह सामान्य लोग जितना समझ लेते हैं उस में बुद्धि की क्रिया के भेद परख नहीं सकते। इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो ये विचार की बुद्धि से नहीं वरन् भावना से—उस विचार सम्बन्धी राग द्वेष से ही—ग्रहण करते हैं।

"धनञ्जय" मेरा जीवन क्या सामान्य भोली भाली तथा बुद्धिहीन समझी जानेवाली तथा क्या पढ़ी-लिखी और श्रीकृष्णद्वारा कथित सुसंस्कृत मानी जानेवाली जनता, दोनों ही में अपना अनुभव व्यतीत हुआ है। इसलिए दोनों के सम्बन्ध में मेरा अनुभव सुनने योग्य होगा।

अस्थिर ग्राम-वासियों तथा गाड़ियों रूपी घर-द्वार वाले "कपिध्वज,व्रजरूपी सीधे भोले अहीरों में मेरी बाल्यावस्था व्यतीत हुई है। द्वारका की समृद्धि की तुलना में यह जीवन अनेक प्रकार के कष्ट तथा जोखिम से भरा था।

नन्द-यशोदा कोई मेरे जन्मदाता माता-पिता न थे, गोप-गोपिकाओं का मैं कोई सगा-सम्बन्धी न था। बड़े भाई तथा मेरे लिए इन गरीब अहीरों को भारी खतरे में रहना पड़ता था। किन्तु गोकुल में मैंने जिस प्रेम का अनुभव किया, जो लाड़-प्यार वहाँ हुआ और जो भक्ति देखी जब उसका स्मरण करता हूँ और उसके साथ अपनी द्वारका की स्थिति की तुलना करता हूँ, तब मेरा हृदय भर आता है, मेरी आँखों में आँसू आजाते हैं और इस समय यह बात करते-करते भी मेरा मानों गला रुँधा जाता है।"

इतना कहते हुए श्रीकृष्ण दो क्षण के लिए बोलते हुए रुक गये। फिर अपनी आँख पोंछकर और स्थिर होकर कहने लगे—

"पाण्डव, यादवों को समृद्ध बनाने के लिए मैंने एक भी उपाय शेष नहीं छोड़ा। इनके हित के लिए मैंने न तो दिन देखा न रात देखी। इसमें मैंने रत्तीभर भी अपना स्वार्थ साधन नहीं किया। उसके परिणामस्वरूप यादवों को अत्यन्त यश तथा समृद्धि प्राप्त हुई है। किन्तु इसका नतीजा क्या निकला है? अनेक प्रकार के व्यसनों में फँसे रहकर जनता को सताने और परस्पर लड़ाई-झगड़े बढ़ाने के सिवा वे क्या करते हैं?

"अरे, देवकी-वसुदेव तो मेरे साक्षात माता-पिता हैं। किन्तु जो विश्वास और प्रेम मैं नन्द-यशोदा में अनुभव करता था, वह मुझे द्वारका में अनुभव नहीं होता। क्षात्र-वृत्ति तथा बाल्य-स्वभाव के अनुसार गोकुल में हम कितना ऊधम मचाते थे! अर्जुन, द्वारका में यादवों के लिए चाँदी के घड़े का जो मूल्य है उससे गोपियों के मिट्टी के घड़े अधिक मूल्यवान थे; किन्तु बचपन की मस्ती में हम झट उन्हें फोड़ डालते थे। उनमें पानी, होता तो पानी अथवा दही मक्खन होता तो वही, बखेर देते, दही,-मक्खन उड़ा जाते अथवा बन्दरों तक को खिला देते

किन्तु ये बाल-वत्सल अहीर क्षणभर के लिए क्रोध-सा बनाते जाते, पर फिर आन्तरिक प्रेम के कारण झट हँस पड़ते और उनका रोष व्यर्थ चला जाता। वे मेरे मक्खन की लूट को आजतक कितने प्रेम से याद करते हैं, उसका वर्णन तुझे उद्धव सुना सकेंगे। उन्होंने मुझे चिढ़ाने के लिए मेरे माखन-चोर और ऐसे कितने ही दूसरे नाम अवश्य रक्खे थे, किन्तु इन नामों में प्रेम के सिवा दूसरा भाव नहीं था। ऐसी तो लाखों चोरियों को मीठा विनोद मान लेने के लिए वे तैयार थे। इसके विपरीत इन यादवों को देख। मैं तुझसे यह शपथपूर्वक कहता हूँ कि जबसे मैं समझदार हुआ हूँ तबसे जान-बूझकर एक भी अधर्म का काम मैं ने किया हो यह मुझे याद नहीं आता। फिर यादवों के साथ मैंने अपना सम्बन्ध केवल उनके कल्याण के लिए ही कायम रक्खा है। फिर भी यादवों को मुझपर स्यामन्तक मणि चुराने का दोष लगाते हुए ज़रा भी संकोच न हुआ।

"पाण्डव, गोप-ग्वालों तथा यादवों के प्रेम, उदारता और सौजन्य का अन्तर मैंने तुझे बतलाया। अब उनकी विचार-शक्ति तथा सत्य का अनुसरण करने की क्षमता के सम्बन्ध में मेरा अनुभव सुन—

अर्जुन, ये यादव शूर हैं, समृद्ध हैं, समझदार हैं, सारासार का विवेक रखते हैं, नीतिज्ञ पुरुषों की सभाओं में वाद-विवाद कर सकने योग्य हैं; किन्तु ये मद्य के व्यसन में कितने डूबे हुए हैं, यह तू अच्छी तरह जानता है। अरे, दूसरे की बात जाने दें, हमारे बड़े भाई तक शराब पीकर पागल बनते हैं। और शराब के पीछे जुआ, दूसरों के धन तथा दारा स्त्रीका अपहरण आदि दुर्गुण तो छाया की तरह साथ लगे ही रहते हैं। मैं तुझसे आज ही यह भविष्यवाणी किये देता हूँ कि शराब ही हमारी जाति के विनाश का कारण बनेगी। इस व्यसन से छुड़ाने के

लिए मैंने अपने वृद्ध पिताजी के द्वारा कितने ही आदेश निकलवाये हैं, कितनी ही बार यादवों को समझाया है, किन्तु पत्थर पर पानी गिरने की तरह सब व्यर्थ गया। मैं तुझे निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे अहीरों में यदि कोई ऐसा व्यसन होता, तो मैं एक शब्द कहकर ही उन-से उसे छुड़वा सकता था। उन्होंने मेरी बात पर विचार कर इन्द्र जैसे का यज्ञ तक बन्द कर देने में देर नहीं लगाई। इन्द्र कुपित होगा तो कितनी भयंकर आपत्ति आ पड़ेगी, यह डर बिठाने वाले कुछ कम न थे। किन्तु उन्होंने मेरी दलील समझते ही किसी भी दुष्परिणाम की आशंका किये बिना ही, उसपर अमल शुरू कर दिया।

"इससे भी अधिक, उसका अमल होने के बाद, कुछ ही दिनों में अकस्मात् मूसलाधार वर्षा आरम्भ हुई। सारा व्रज डूबने को होगया। सबने बड़ी कठिनाई से गोवर्द्धन पर्वत पर चढ़कर अपनी रक्षा की। समझदार लोग कहने लगे कि इन्द्र का यज्ञ बन्द कराने का यह फल मिला है; किन्तु जिन्हें तू केवल उदर-विषय-परायण पामरजन समझता है, उनमें इससे बुद्धि-भेद पैदा नहीं हुआ। इन्द्र का हिंसामय यज्ञ बन्द हुआ सो हुआ ही।

"अर्जुन, मैंने तुझसे पहले भी कहा है, और फिर कहता हूँ, कि मनुष्य को बार-बार एक ही बात समझनी है। वह यह कि

श्रीकृष्ण का क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इसका

मान्य जनता पर एकबार निश्चय होजाने पर फिर उस निश्चय के

अनुसार आचरण करने में सुख आये अथवा दुःख, यश मिले अथवा अपयश, लाभ हो अथवा हानि, किसीकी परवाह न करते हुए केवल तदनुकूल आचरण करना—यही धर्म है।

"इस सम्बन्ध में तू जिन्हें पामर पशु के समान समझता है, वे चतुर तथा समझदार कहे जानेवाले लोगों की अपेक्षा कितने उच्च हैं, यह तू जल्दी ही जान जायगा। तू देखेगा कि इन अधिकार-रहित छोटे सिपाहियों में से एक भी अप्रामाणिक, कुटिल अथवा अपने स्थान से भ्रष्ट होनेवाला न निकलेगा। ऐसा नीच कर्म हमसे हो ही नहीं सकता, यह धारणा उनके मन में इतनी दृढ़ता से जम गई है कि वे किसी भी लालच के वशीभूत न होंगे। इसके विपरीत चतुर और व्यवहार-कुशल समझे जानेवाले नेता-नायकों में कितने झगड़े पैदा होते हैं, यह तू देखेगा। यह कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। किन्तु नायकों के पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष के कारण ये अपना नाश करायेंगे। 'मैं बड़ा होऊँ कि तू बड़ा होवे' इस विवाद में कितने ही रूसेंगे, कितने ही मनेंगे, कितने ही विरुद्ध पक्ष में मिल जाने की धमकी देंगे, तो कितने ही अपने ही पक्ष के बलवान योद्धा को जान-बूझकर मरने देंगे और कितने ही प्राणदान के प्रसंग पर तटस्थ बनकर खड़े रहेंगे। सबको मनाते-मनाते दुर्योधन के नाकोंदम आजायगा।

"पाण्डव, यदि ज्ञान अथवा बुद्धि का यही परिणाम निकलता हो, तो यह ज्ञान अथवा बुद्धि रत्तीभर मूल्य की भी नहीं। इसकी अपेक्षा ये अज्ञानी, एकनिष्ठ तथा विश्वासपात्र सामान्य जन सहस्रों धन्यवाद के पात्र हैं।

"साथ ही, अर्जुन, एक दूसरी बात सुन—

"मैंने तुमसे कहा है कि अहीरों ने तो इन्द्र का यज्ञ तुरन्त बन्द कर दिया। किन्तु यदि यही सलाह मैं तुम लोगों को स्त्रियों की धर्मदृष्टि दूँ, तो तुम्हें समझाने में मैं सफल होऊँगा इसका मुझे भरोसा नहीं। क्योंकि तुम तो सब चतुर, शास्त्र-विद तथा अर्थ लगाने में कुशल व्यक्ति ठहरे। भिन्न-भिन्न यज्ञों के

फल-सम्बन्धी शास्त्र तुम मुझे सुनाओगे और मुझे निरुत्तर कर दोगे।

'इन अहीरों के सम्बन्ध का ही एक उदाहरण देता हूँ। एक दिन हम सब ग्वाल गौएँ चराते थक गये। दोपहर होगई थी और पेट में कड़ाके की भूख लग रही थी खाने को कुछ पास था नहीं। नज़दीक ही ब्राह्मणों का निवास था। वहाँ डाढ़ी बढ़ाये विद्या-प्राप्त ब्राह्मण यज्ञ-हवन आदि कृत्यों में संलग्न थे। वहाँ जाकर हमने भोजन माँगा। पण्डितों ने कहा, 'भोजन तो यज्ञ के लिए तैयार हुआ है, इसमें से तो दिया ही नहीं जा सकता।' हम भूखे ही पीछे लौट रहे थे। किन्तु जो यज्ञ-धर्म ये वेद पढ़-पढ़कर कर्म-जड़ ए ब्राह्मण न समझ सके, वह वेद के अधिकार से रहित इनकी पत्नियाँ अधिक अच्छी तरह समझी हुई मालूम पड़ीं। उन्होंने सोचा, 'अरे! ये भूखे बालक भोजन बिना बिलखते हैं, उन्हें न देकर अग्निमुख में डालने का यज्ञ-धर्म कहाँ से आया? क्या वेदों ने मनुष्य को ऐसा धर्म सिखाया होगा? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पति वेद भले ही पढ़े हों, किन्तु धर्म को तो भूले हुए ही हैं। हम तो भूखों को खिलाने रूपी धर्म का पालन करके ही कृतार्थ होंगी, फिर भले ही हमारे पति वैश्वानर यज्ञ में घी और भात होमते बैठें!' इस प्रकार विचारकर उन्होंने हमें अपने पास बुलाया, प्रेम से बिठाया और पेट-भर भोजन कराकर पानी पिला के विदा किया।

"पार्थ, यदि सच पूछा जाय तो, यदि हमें ऐसा होता हो कि यह अपठित वर्ग धर्माधर्म के विषय में विचार कर सकने कर्मकाण्डी याज्ञिक की शक्ति नहीं रखता, तो इसका कारण यह नहीं कि इसमें बुद्धि कम है, वरन् हमारे समझदार समझे जानेवाले मनुष्य ही इसका कारण हैं। इन समझदार मनुष्यों ने स्वयं

अपनी बुद्धि को तर्कों में उलझा रक्खा है, और इस उलझन में वे जनता को भी डालना चाहते हैं इससे, जनता या तो उलझन में पड़जाती है या फिर पण्डित कहे जानेवाले लोगों को समझ ही नहीं सकती। "यज्ञ-हवन करने में व्यस्त ऋषियों की अपेक्षा उनकी धर्म-पत्नियाँ यज्ञ-धर्म का तत्त्व कितना अधिक ठीक तरह से समझती थीं यह मैंने तुझे बतलाया। वेदपाठी केवल मीमांसा-धर्म में पड़े हुए सभी कर्म-जड़ ब्राह्मणों की यह दशा है। यह अवश्य है कि सामान्य पुरुष धन धान्य, स्त्री-पुत्र इत्यादि प्राप्त करने में सुख मानते हैं; किन्तु उसके लिए वे रात-दिन सीधा परिश्रम करते हैं, और उस श्रम के द्वारा उन्हें प्राप्त करने की आशा रखते हैं। किन्तु ये पढ़-लिख कर पण्डित हुए वेदज्ञ ऐसा श्रम करने की भी शक्ति नहीं रखते। ये तो, इतनी ही कामनायें रखते हुए भी, अटपटी विधियों वाले यज्ञ और कर्मकाण्ड का आडम्बर रचने में ही लगे रहते हैं। पुत्र की इच्छा हो तो यह यज्ञ, पुत्री की आवश्यकता हो तो वह, बछड़ी के लिए अमुक और बछड़े के लिए दूसरा, वर्षा के लिए अमुक अनुष्ठान, और धन के लिए कुछ और · इस प्रकार इन्होंने अनेक प्रकार के यज्ञों, अनेक प्रकार के अनुष्ठानों और अनेक प्रकार के विधि-विधानों का जंजाल रच रक्खा है। अनेक देवताओं को मानते हुए भी वस्तुतः नास्तिक, पढ़े-लिखे होते हुए भी वस्तुतः अज्ञानी, वासनाओं से ओत-प्रोत, विविध कामनाओं की तृप्ति को सर्वस्व माननेवाले और इससे विधियों की भौंचक कर डालनेवाली फलश्रुतियों में आसक्ति वाले ये लोग एकनिष्ठ होकर किसी भी एक देवता, कर्म अथवा बुद्धि पर दृढ़ नहीं रह सकते। अभी एक को अपनाते हैं, और फिर दूसरे को। जिस समय जैसी वासना इन्हें सताती है, विह्वल होकर वे उस समय उस वासना के अनुकूल नवीन कर्म करते हैं और उसे धर्माचरण समझते हैं, और स्वयं जैसा समझते हैं वैसा ही दूसरों को भी समझाकर उलटे रास्ते लेजाते हैं।"

श्रीकृष्ण की जनता के प्रति अत्यन्त प्रेम और आदर प्रदर्शित करने-वाली तथा भावना के आवेश से युक्त वाणी का प्रवाह

अर्जुन का प्रश्न

अर्जुन के मद को न मालूम कहाँ बहा लेगया। जो लाखों सैनिक उसके लिए प्राणार्पण करने आये हुए थे, उनके प्रति उसने जो तुच्छ भाव प्रकट किया था, उससे वह लज्जित होगया। जिन जनार्दन के बल पर मुकुटधारी अपने मुकुट की रक्षा का दारोमदार मानते हैं और मुकुट हीन मुकुट प्राप्त करने की आशा रखते है, एवं जिनके बल पर कुल हीन यादव भारतवर्ष में अजेय बनकर फिरते रहते हैं, उन श्रीकृष्ण का साधारण जनता के प्रति ऐसा प्रेम देखकर अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उसने उनके अपार ऐश्वर्य तथा भाव का रहस्य देख लिया हो। लज्जा से नम्र होकर उसने कहा—

"प्रिय सखा श्रीकृष्ण, सामान्य जनता के प्रति मैंने जो अनादर प्रकट किया है, उसके लिए मुझे क्षमा करो। धर्म का तत्त्व पढ़े-लिखे ही समझ सकते हैं, अपढ़ नहीं समझ सकते, अपने विचार की यह भूल मैं समझ गया हूँ। अब यह बताओ कि धर्माधर्म निश्चित करने का मार्ग क्या है? तुमने वेद-शास्त्र-सम्पन्न शास्त्रियों को भी इस कार्य के अयोग्य ठहरा दिया है। तब, अब मेरा कर्त्तव्य क्या है, यह निर्णय करने का जो वास्तविक मार्ग हो, वह मुझे बताओ, जिससे मैं निश्चित रूप से अपना धर्म समझ सकूँ।

"तुमने जो तत्वज्ञान का मार्ग बतलाया, उससे मैं इतना समझ सका हूं कि आत्मा का नाश नहीं होता और शरीर को अविनाशी रखना सम्भव नहीं, इसलिए जीते-मरे का भेद करके धर्माचरण छोड़ देना उचित नहीं है। किन्तु उसका अर्थ तो यह होता है कि मनुष्य जैसा मन में आवे वैसा कर सकता है। वह जिसे चाहे मारे तो भी कुछ हानि नहीं। क्या

तुम्हारे कहने का यही आशय है ? यदि ऐसा हो तो तुम शस्त्र छोड़कर बैठने का निश्चय किस प्रकार कर सकते हो ? तुम्हारा धर्म तो न मारने का और मेरा मारने का, यह भेद किस लिए ? कृपाकर मैं जिस प्रकार स्पष्ट रूप से समझ सकूँ उस प्रकार मुझे समझाओ।"

अर्जुन का प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण प्रसन्न स्वर से बोले—

श्लोक ३८-४९

"धनंजय, मेरा प्रयत्न यही है कि तू सत्य को समझ सके। तेरे लिये एक तत्वज्ञान और मेरे लिए दूसरा, तेरे लिए धर्म निश्चित करने की एक रीति और मेरे लिए दूसरी, यह बात है ही नहीं। सबके लिए तत्वज्ञान एक ही है, और धर्माधर्म निर्णय करने का मार्ग भी एक ही है।

"मैंने अभीतक तेरे सामने जो आत्मा-अनात्मा के विवेक की दृष्टि रक्खी, वह तत्वज्ञान का मार्ग कहलाता है। मनुष्य का यही अन्तिम अवलम्बन है। हमपर सुख आपड़े या दुःख आपड़े, हमारे करने का कार्य रुचिकर हो अथवा कठोर हो, अन्त में हमें समाधान रखने और प्राप्त करने के लिए तत्वज्ञान के सिवा दूसरा कोई आधार नहीं है।

"परन्तु कौन्तेय, तत्वज्ञान की दृष्टि कहने मात्र से समझ में नहीं आ-सकती, और केवल समझ लेने से उसमें स्थिर हुआ नहीं जाता। फिर केवल आत्मा-अनात्मा के विवेक से ही किस मनुष्य को किस समय कौनसा कर्म करना उचित होता है और कौनसा अनुचित यह मालूम नहीं हो जाता। जिसे कर्माकर्म का विवेक पहले से ही प्राप्त हो चुका हो और जो तदनुसार विवेकपूर्वक बर्तते हुए जीवन में आनेवाली सुख-दुःख की नदियों को उतरना और उनमें स्थिर रहना चाहते हैं, उनके लिए तत्वज्ञान उपयोगी होता है। इस कारण जिस प्रकार ज्ञानयोग अर्थात् कुशलतापूर्वक ज्ञान का अवलम्बन लेना समझना चाहिए, उसी प्रकार

कर्मयोग अर्थात् कुशलतापूर्वक कर्म-अकर्म का निर्णय करने और कुशलतापूर्वक उसका आचरण करने तथा तत्त्व-दृष्टि से उसमें स्थिर रहने की योग्यता प्राप्त करनी ही चाहिए। इसीको मैंने योग-शास्त्र की, अथवा अधिक निश्चितता से कहूँ तो, कर्मयोग की दृष्टि कहा है। मैं चाहता हूँ कि कर्मयोग को तू जितना सम्भव होसके स्पष्टता से समझ ले। क्योंकि यह निर्विघ्न मार्ग है; थोड़े ही क्षेत्र में इसका आचरण हो, तो उतने ही में यह बड़े बड़े पापों और क्लेशों से बचा देता है, बुद्धि को डावाडोल न होने देकर उसे स्थिर रखता है। और यदि इसका दृष्टि-बिन्दु ठीक तरह से समझ लिया गया हो तो मनुष्य शङ्का के भँवर में नहीं पड़ता। ॥३८-४१॥

श्लोक ४२–४६

"अर्जुन मैंने तुझे पहले मीमांसकों का दृष्टि-कोण बतलाया। उन्होंने मनुष्य के हृदय में जितने प्रकार के भोग और एश्वर्य की वासना होती है उन प्रत्येक की तृप्ति के लिए अतिसूक्ष्म विधियुक्त अटपटा कर्म-काण्ड बना रक्खा है। जितनी विधियाँ उतने ही देवता, उतने ही मन्त्र; उतने ही फल तथा उतने ही प्रायश्चित्त उन्होंने बना रक्खे हैं। उसमें अमुक इच्छा हो तो अमुक अनुष्ठान करना, अमुक अरिष्ट टालने के लिए अमुक देवता की पूजा करना, इत्यादि उलझनों का कुछ पार नहीं। वे स्वयं इनमें उलझे रहते है और सामान्य जनता को भी फँसाये रखते हैं। जुदे जुदे देवताओं का भय, अरिष्टों का भय, अथवा सुख एवं भोग की लालसा – इस प्रकार भयों से वे अभिभूत अथवा लालसाओं से मोहित रहते हैं। इस लोक के सुख अथवा स्वर्ग के सुख इन दो से आगे जाना उनकी कल्पना में ही नहीं होता। उन के लिए राग और द्वेष से

विरहित अवस्था न तो इस जीवन में है, न दूसरे जीवन में। जिस प्रकार कोई राजा को रिझाकर प्याज की टोकरी इनाम में माँगे, उसी प्रकार उन्होंने समस्त वेदों की योजना ऐसे विनाशक, निःसत्त्व, त्रिगुण दोषों से युक्त, बुद्धि को अस्थिर कर डालनेवाले तथा सदैव आवागमन के बन्धन में बाँध रखनेवाले परिणामों के लिए ही की है॥ ४२–४४॥

"अर्जुन, ऐसे निःसत्व कर्मशास्त्र को मैं महत्व नहीं देता। मैं इसमें तेरी बुद्धि को उलझाना नहीं चाहता। मैं तुझे त्रिगुण से परे राग-द्वेष-रहित, नित्य सत्त्वस्थ तथा योग क्षेम-चिन्ता से मुक्त स्थिति की ओर ले-जानेवाले, ऐसी स्थिति में रहनेवालों को भी उचित कर्म से विमुख न करने वाले, न तो कर्म-जड़ और न जड़तापूर्वक कर्म हीन ऐसे कर्मयोग का बोध कराना चाहता हूँ। ॥४५॥

"जिस कर्मयोग का मैं तुझे बोध कराना चाहता हूँ, वह तत्त्वज्ञान का विरोधी नहीं है। इसके विपरीत तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों को अच्छी तरह व्यवहार में लाने का मार्ग वह कर्मयोग ही है। इससे बुद्धि एकनिष्ठ और स्थिर होती है प्रत्येक स्थिति में क्या करना उचित है और क्या न करना उचित है इसका तत्काल निर्णय करने की शक्ति उसमें आती है। वह न तो वेदों के कर्मकाण्ड का सर्वथा निषेध करती है, न मानों वही सर्वस्व हो इस प्रकार उनका अन्धानुकरण ही करती है। प्रत्युत् जिस प्रकार मनुष्य सरोवर में से जितना अपने को आवश्यक हो उतना ही पानी भर लेजाता है, उसी प्रकार यह बुद्धि वैदिक कर्मों में से उतना ही ग्रहण कर लेती है जितना कि जरूरी होता है। ॥ ४६ ॥

'ऐसे इस ज्ञान-युक्त कर्मयोग को तू आलस्य छोड़कर ध्यान-पूर्वक सुन—

"धर्मानुजे, मीमांसक अपने सारे शास्त्र को धर्मशास्त्र कहते हैं। वे जिस किसी भी सकाम अथवा निष्काम यज्ञ-याग तथा विधि-विधान का निरूपण करते हैं उस सबको धर्म का विधान कहते हैं और उसीको धर्माचरण मानते हैं। इससे मीमांसक जिसका प्रचार करते हैं, वह साधारण व्यवहार में भी धर्मशास्त्र कहलाता है। फिर इस धर्मविधि का दूसरा नाम कर्मकाण्ड भी है। इसलिए मीमांसकों को कर्मकाण्डी भी कहा जाता है।

श्लोक ४७-४६

'जैसा कि मैंने पहले तुझसे कहा है। यह शास्त्र अधिकतर भोग तथा ऐश्वर्य-वासना की तृप्ति के लिए ही प्रचलित हुआ है। इसलिए मोक्ष-परायण तत्त्वज्ञानियों के मन में इसके प्रति अनादर देखने में आता है इसी कारण से कर्ममात्र का निषेध करनेवाला एक सम्प्रदाय निर्माण होगया है। बहुत कुछ येही सांख्यवादियों के नाम से जाने जाते हैं

"अब इस सम्बन्ध में मेरे जो विचार हैं वह मैं तुझसे कहता हूँ।

"अर्जुन, धर्मशास्त्र तथा तत्वज्ञान दोनों का अध्ययन करने के बाद मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ, कि धर्मशास्त्रों में बताये सब धर्मों का त्याग न तो उचित ही है, न सम्भव ही है। इस लिए धर्मशास्त्र में वर्णित धर्मों के मैंने दो विभाग किये हैं-कर्म और अकर्म। जो धर्म व्यवहार करने योग्य हैं, मुक्ति के बाधक नहीं होते, तत्त्वज्ञान में स्थिर करते हैं, जो जनता के धारण और पोषण के लिए भी आवश्यक हैं तथा आचरण कर्त्ता के सत्व को स्थिर तथा शुद्ध करते हैं, उनको मैं कर्म कहता हूँ। इसके विपरीत जो धर्म केवल वासना-युक्त बुद्धि से ही होसकने योग्य हैं, जिनका राग-द्वेष बिना आचरण हो ही नहीं सकता, जिनका आचरण न करने से कितने ही नाशवान् तथा अनावश्यक भोगों की प्राप्ति न होने के सिवा हमारा अथवा जनता का किसी प्रकार अहित नहीं होता, तथा जो सत्व-संशुद्धि में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करते, ऐसे धर्मों को मैं

अधर्म कहता हूं। पुत्रादि की प्राप्ति के लिए शत्रु के नाश के लिए, वर्षा के लिए अथवा स्वर्ग में एकाध झोंपड़ी खड़ी करने के लिए किये जानेवाले यज्ञ हवन तथा ग्रह-पूजा आदि ऐसे अकर्म हैं।

"पाण्डव, मैं तुझे ऐसे अकर्मों के प्रति श्रद्धावान् बनाना नहीं चाहता। इन धर्मों का आचरण न करने से किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होता। इतना ही नहीं, वरन् इससे विपरीत इनके सम्बन्ध में उदासीन रहने से बुद्धि स्थिर, पुरुषार्थी तथा स्पष्टदर्शी बनती है। इसके उलटा, इनके जाल में फँसी हुई बुद्धि उलझी हुई और शङ्काशील बनजाती है तथा उसकी स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति नष्ट होजाती है॥

"अर्जुन, मैं चाहता हूँ कि अकर्म के प्रति तेरी आसक्ति न हो।

पार्थ, इस प्रकार मैंने तुझे कर्म-अकर्म का भेद समझाया। कर्म अर्थात् अवश्य आचरणीय धर्म और अकर्म अर्थात् अनावश्यक धर्म।

"किन्तु सव्यसाची कर्म के आचरण के भी दो मार्ग हैं, उनका भेद तू समझले। मैंने तुझे जो कर्म बताये हैं वे समस्त संसार के निर्वाह के लिए—व्यक्ति एवं जनता का जीवन अच्छी तरह चलने के लिए—अनिवार्य रूप से करने पड़ते हैं, किन्तु इन कर्मों के करने में मनुष्य की बुद्धि दो तरह की होती है। सामान्य लोग इनके फलों पर दृष्टि रखकर ही ये कर्म करते हैं। इतना ही नहीं, उनकी यही इच्छा होती है कि इन फलों का लाभ उनकी धारणा के अनुसार ही प्राप्त हो; यदि वैसा लाभ न हो तो वे निराश और दुःखी होते हैं।

'किन्तु कपिध्वज, कर्म सदैव अपने विचार के अनुकूल ही फल दें, लाभदायक हों, और स्वयं आचरणकर्त्ता के लिए ही लाभदायक हों, ऐसा सदैव होता नहीं। उनमें अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं जो मनुष्य की गिनती को गलत और कर्म को निष्फल अथवा हानिकारक बना देते हैं।

अथवा किसी अकल्पित प्राणी के ही लिए लाभदायक होजाते हैं। ऐसी परिस्थिति में अज्ञानी तथा कर्म-फल के विषय में आसक्ति रखने-वाला व्यक्ति धीरज खो बैठता है और अपने चित्त को दुःखी बनाता है। किन्तु तत्त्वज्ञानी अनासक्त पुरुष ऐसे समय में धीरज रखकर अपनी शान्ति को भङ्ग नहीं होने देता।

'भारत, योगी तथा अयोगी, ज्ञानी तथा अज्ञानी में तू इतना ही भेद समझ। अवश्य करने योग्य कर्मों को विवेकपूर्वक और बुद्धि से सोचे जासकने योग्य सब शुद्ध उपायों से करने और फिर उनका फल मिले न मिले अथवा अपनी धारणा के विपरीत किसी तीसरे ही आदमी को मिले इन सब परिस्थितियों में चित्त की समता–स्थिरता–रखनेवाला पुरुष योगी तथा ज्ञानी है। इस फल की आशा न छोड़ सकनेवाला अयोगी और अज्ञानी है।

"पृथानन्दन, मैं तुझसे कर्मयोग के सिद्धान्त और भी संक्षेप रूप में कह जाता हूँ, वह तू ध्यानपूर्वक सुन।

"मेरा मत है कि अपकर्म करना अर्थात् धर्म-विरुद्ध कर्म करना, अथवा काम्य कर्म करना अर्थात् धर्मशास्त्रोक्त होने पर भी उक्त कथनानु-सार वासनात्मक कर्म करना अथवा कर्तव्य-कर्मों का भी त्याग करना, ये सब अकर्म हैं। ऐसे अकर्म में तेरी आसक्ति न होनी चाहिए। किन्तु तुझे कर्म अर्थात् नियत कर्म, सत्कर्म तथा कर्तव्य-कर्म सावधानी के साथ और कुशलतापूर्वक ही करने उचित हैं।

"किन्तु यदि तू ऐसे कर्मों को भी फल के आग्रह की बुद्धि से करेगा। तो वे कर्म तेरे लिए बन्धनकारक हुए बिना न रहेंगे। अमुक कर्म करना कर्तव्य ही है, यह निश्चय होजाने पर भी, जो पुरुष कर्तव्य को महत्त्व देने की अपेक्षा उसकी सिद्धि-असिद्धि को महत्त्व देता है, अथवा

इसका फल अमुक व्यक्ति को ही मिले यह आकांक्षा रखता है। वह उस कंजूस आदमी की तरह रंक वृत्ति का पुरुष है जो अपने अथवा अपने दास दासियों के लिए आवश्यक आहार में काटकसर करके थोड़े में ही काम बनाने की इच्छा रखता है अथवा इतना अधिक खाना पड़ता है यह देखकर दुःखी रहता है। वह कर्त्तव्य-कर्म करते हुए भी सदैव अशान्त और अतृप्त ही रहता है। इसलिए कर्म का आचरण ही सब कुछ नहीं है, प्रत्युत् उसके फल के प्रति अनासक्ति अथवा कर्म के आचरण के अन्त में लाभ हो, हानि हो, यश मिले, अपयश मिले, इन दोनों स्थितियों में चित्त की ज्ञानयुक्त समता रखना यह अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। जो ऐसा न हो तो करोड़ों ग़रीब आदमी सदैव शान्ति ही भोगते रहें, क्योंकि वे भोग-विलास के लिए कुछ करते नहीं, वरन् जिस प्रकार अतिशय ज्ञानी भी केवल शरीर के निर्वाह के लिए कर्म करता है उसी तरह वे उतने ही कर्म करते हैं। किन्तु उनको भी शान्ति नहीं है, क्योंकि फलासक्ति के कारण उनके लिए ये कर्म नियत और थोड़े ही होने पर भी बन्धनकारक होजाते हैं।

"गाण्डीवधर, कर्मयोग शब्द का अर्थ अब तेरी समझ में आगया होगा। कर्म शब्द से काम्यकर्मों का, अपकर्मों का और उसी प्रकार अकर्मण्यता का निषेध होता है; केवल सत्कर्मों, नियत कर्मों एवं कर्तव्य-कर्मों का ही उसमें समावेश होता है। और योग शब्द का अर्थ कुशलता-पूर्वक तथा यश-अपयश में चित्त की समतापूर्वक—अथवा फल के प्रति अनासक्तिपूर्वक—व्यवहार होता है। ॥ ४७ ४६ ॥

"गुडाकेश, ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों के जीवन-व्यवहार की परीक्षा कर मैंने निर्णय किया है, कि यह जो कहा जाता है

श्लोक ५०–५१ कि अमुक कृत्य करने से पुण्य लगता है और अमुक के करने से पाप, इसका कारण यह नहीं है कि वह

कृत्य अच्छा लगता है अथवा कठिन है। वरन् पहले तो यह कृत्य धर्म्य है अथवा अधर्म्य, अर्थात् धर्मशास्त्र में कहे अनुसार है या नहीं, यह देखना पड़ता है। यदि वह अधर्म्य हो तो पापमय कहा जाता है. और धर्म्य हो तो पुण्यमय। ॥५०॥

"यह तो पाप-पुण्य की दृष्टि से विचार हुआ। किन्तु तत्वज्ञानी केवल ऐसे पाप पुण्य का विचार नहीं करते। वे तो कर्म बन्धनकारक है अथवा मोक्षदायक है, इस दृष्टि से उसका विचार करते हैं। इस दृष्टि से विचारने पर हम देखते हैं कि ऐसा कुछ नहीं है कि पुण्यकारक धर्म बन्धन कारक न हो। इसमें तो कर्म के फल के प्रति आदमी की दृष्टि वास्तव में महत्व की वस्तु होती है। कर्म का आचरण करने से बन्धन होता है और अनाचरण से मुक्ति, यह मत मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। मेरे मत से तो फल के प्रति आसक्ति होने के कारण कर्म से निवृत्त होना भी बन्धनकारक और ऐसी आसक्ति के बिना कर्म में प्रवृत्त होना भी मोक्षप्रद होता है। अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष कर्म के फल के प्रति आसक्ति-रहित होकर उसका—कर्म का—सविवेक आचरण करता है, उसके लिए वह बन्धन-रूप नहीं वरन् मोक्षप्रद ही होता है।" ॥ ५१ ॥

श्लोक ५२-५३

योगेश्वर श्रीकृष्ण के कर्मयोग के ये सिद्धान्त अर्जुन की समझ में स्पष्ट रूप से नहीं आये। उसकी शून्यवत दृष्टि से श्रीकृष्ण जान गये कि यह तो 'भैंस के आगे बीन बजाने वाली बात चरितार्थ होने जा रही है. इसलिए इसकी तन्द्रा दूर कर इसे जगाने के लिए कुछ चेतना की आवश्यकता है। क्योंकि तत्वज्ञान का विषय ही ऐसा है कि श्रोता पग-पग पर गुरु के वाक्यों का भावार्थ समझता जाय, और उसमें बुद्धिपूर्वक रस लेकर प्रश्न करके सुने हुए विषय का विकास करता जाय, तभी उसकी

गाड़ी आगे चलती है। श्रीकृष्ण को यह आशङ्का हुई कि इतना सब निरूपण कर जाने पर भी अर्जुन ने एक भी प्रश्न नहीं किया, इसलिये कदाचित् यह असावधान तो नहीं होगया है। अतः उन्होंने कहा—

"अर्जुन, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने तुझसे जो यह सब कुछ कहा, वह तेरी समझ में नहीं आया क्योंकि, तेरी बुद्धि आज शोक और मोह के दरिया में गोते लगा रही है। मैंने तुझसे पहले ही कहा था कि धर्म का मार्ग चित्त की प्रसन्न अवस्था में सुझाई देता है। दुखी आदमी का चित्त उद्विग्न होता है। उसे ज्ञान ही नहीं होता कि मैंने क्या तो सुना और अब क्या विषय सुनूंगा। इसलिए उसका चित्त निःशङ्क नहीं हो सकता। शास्त्रों की अनेक प्रकार की बातें सुनकर तेरी बुद्धि व्यग्र होरही है। जब विचार की एकाग्रता पर आजायगी, तभी तू विचार करने में समर्थ होगा और विषय के मर्म समझ सकेगा।" ॥५२-५३॥

श्रीकृष्ण के अन्तिम शब्दों से अर्जुन मानों अकस्मात् चौंक उठा। हड़बडाकर वह सीधा बैठगया। श्रीकृष्ण के मुँह से

श्लोक ५४

यह सुनकर कि तेरी बुद्धि व्यग्र होरही है, अर्जुन को उपालम्भ-सा प्रतीत हुआ। इसलिए यह दिखाने के लिए कि उसने खूब सावधान होकर श्रीकृष्ण का एक एक वाक्य सुना है, उसने उनका अन्तिम वाक्य पकड़ लिया और उसपर से प्रश्न उत्पन्न करके बोला—

"केशव, तुमने यह किस तरह जाना कि मेरी बुद्धि व्यग्र होरही है, स्थिर नहीं ? स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं ? वह किस तरह बोलता। बैठता और चलता है ? ॥ ॥ ५४ ॥

अर्जुन की युक्ति चतुर-शिरोमणि श्रीकृष्ण बराबर पहचान गये। वे वह जान गये कि भाई साहब को झोका आगया था। उसे छिपाने के लिए

इन्होंने अंतिम उपालम्भ के वाक्य में से मानों सिद्धान्त का प्रश्न उपजा हो, इस तरह बड़ा-सा प्रश्न पूछ लिया है। इतनी देर से इसके आगे कर्मयोग के सिद्धान्त का निरूपण मैं कर रहा था वह इसने अच्छी तरह सुना ही नहीं, और इसलिए फिर श्रीगणेश से समझना होगा। किन्तु गुरु, माता तथा मित्र का सहज स्वभाव ही होता है कि अपने शिष्य, पुत्र अथवा सखा की त्रुटियों को जानते हुए भी उन्हें वे प्रेम से निभा लेते हैं। फिर अर्जुन के प्रेम में तो वह ऐसे बँध गये थे कि इन्होंने उसका रथ हाँकना तक स्वीकार कर लिया था। उसे तो पचीसबार भी समझाना पड़े तो वह कहीं उकतानेवाले थोड़े ही थे? इसलिए उन्होंने अर्जुन के अप्रस्तुत प्रश्न को भी प्रस्तुत बना लिया और शातनिष्ठ पुरुष के सम्बन्ध में अपना आदर्श उसे समझाने का अवसर साध लिया।

अर्जुन के प्रश्न का विस्तारपूर्वक उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

श्लोक ५५

'अर्जुन, तूने यह कैसा प्रश्न किया? तू यह समझता होगा, कि स्थिर बुद्धि वाले पुरुषों के बोलने चलने तथा बैठने का कोई खास तरीका होता होगा और उसे सीखकर आदमी स्थित-प्रज्ञ होसकता है। यदि केवल बोलने चलने बैठने की ही बात हो तो ले मैं एक ही शब्द में उसका उत्तर दिये देता हूँ। वह शब्द 'सहज' है। ज्ञानी पुरुष सहज अथवा अकृत्रिम भाव से बोलते हैं, चलते हैं, बैठते हैं कहीं भी दिखावा नहीं करते। दिखावा उनके स्वभाव के बाहर की बात है। इसलिए ज्ञानी के तौर-तरीकों की नकल करके अगर कोई चाहे कि मैं ज्ञानी होजाऊँ या लोग मुझे ज्ञानी समझने लग जायें तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि वे अधिक समय तक नकल नहीं कर सकते। स्वभावतः बात यह है कि ज्ञानी बिलकुल सीधा-सादा होता है। अपने स्वभाव के विपरीत उसे कभी इच्छा ही नहीं

होती। क्योंकि जो आदमी स्वभाव को छिपाने का प्रयत्न करता है और अधिक बुद्धिमत्ता, समझदारी, विवेक तथा ज्ञान इत्यादि दर्शाने की चेष्टा करता है, उसे स्पष्ट ही अपने सहज स्वभाव से पूरा सन्तोष नहीं होता और उसे यह भी खयाल रहता है कि दूसरों को भी सन्तोष नहीं होता होगा। जिस आदमी के चित्त में अपने ही प्रति सन्तोष न हो उसके नकली व्यवहार में स्वाभाविकता आही कैसे सकती है? वास्तव में जबतक चित्त की समस्त वासनाओं का क्षय नहीं हो जाता और जबतक मन में कुछ-न-कुछ प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है, तबतक चित्त में पूर्ण सन्तोष भी कहाँ से हो! इसलिए तू तो यह समझले कि वासना-रहित पुरुष का आत्म-सन्तोषी तथा विवेक-युक्त अकृत्रिम आचरण ही स्थिर बुद्धि का प्रथम लक्षण है। ॥५५॥

श्लोक ५६—५७

जब श्रीकृष्ण ने आत्म-सन्तुष्ट पुरुष के अकृत्रिम आचरण को ही ज्ञानी का प्रथम लक्षण बताया, तो अर्जुन के मन में एक शङ्का उत्पन्न हुई। उसने कहा—"जनार्दन, कई बार ऐसा देखने में आता है कि मदोन्मत्त पुरुष आत्मसन्तोषी-सा दिखाई देता है, और एक तरह से देखने पर अपने मद के कारण दूसरों के प्रति अकृत्रिमरूप से आचरण करता है। फिर कोई व्यक्ति सबके सामने काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार आदि को तो नहीं दबा सकता। किन्तु जिसे वह अपने से विशेष समझता हो, उसके सामने वह इन विचारों को दबाकर व्यवहार करता है। दूसरा व्यक्ति अपने अभिमान में इतना मस्त रहता है कि वह दुनिया में किसीकी परवाह नहीं करता और अपने स्वभाव को डंके की चोट प्रकट करने में ज़रा भी नहीं शर्माता। बाह्य दृष्टि से पहले व्यक्ति का आचरण कृत्रिम है और दूसरे का अकृत्रिम। किन्तु क्या इससे उसे

ज्ञानी कहा जासकता है ? यदि वह सदैव ज्ञान की भाषा का उपयोग करता हो, तो क्या उसे स्थित-प्रज्ञ कहा जासकता है ?"

अर्जुन के प्रश्न से श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि अब उसकी सुस्ती उड़ गई है, इसलिये वे प्रसन्न हो कर बोले—

"अर्जुन, तूने ठीक प्रश्न किया। सच पूछा जाय तो कोई पुरुष ज्ञानी है अथवा अज्ञानी, यह एक-दो प्रसंगों में ही नहीं समझा जासकता। उन लोगों को अक्सर धोखा होगा जो एक-दो बार के परिचय से ही किसी व्यक्ति को ज्ञानी अथवा अज्ञानी ठहरा देते हैं। मनुष्य का ज्ञान अथवा अज्ञान गहरे परिचय से ही जाना जाता है। अगर कोई सचमुच स्थिर बुद्धि की सीमा को पहुँच गया है, तो चाहे जितना दुःख आपड़ने पर भी वह विह्वल नहीं होगा, धर्य्य नहीं खो बैठेगा, और न वह ईश्वर अथवा दैव को दोष देता हुआ अथवा चिड़-चिड़ बड़-बड़ करता हुआ दिखाई देगा। इसी प्रकार उसे तू सुख के लिए हाय-तोबा करते भी नहीं पावेगा। वह सुख प्राप्त होने पर हर्षोन्मत्त न होगा, वरन् सुख और दुःख दोनों में उसका जीवन एक ही समान शान्ति तथा धैर्य्य-पूर्वक बीतता हुआ दिखाई देगा। फिर चाहे जितने लम्बे समय का परिचय होजाय, तू कभी उसे राग, भय अथवा क्रोध से पराभूत नहीं पावेगा। इस प्रकार यह कहने में कुछ हानि नहीं कि शुभ-अशुभ दोनों प्रसंगों पर समान भाव से हर्ष-शोक तथा राग-द्वेष रहित, विचारमय तथा आसक्ति-रहित जीवन ही स्थित-प्रज्ञ का लक्षण है। ॥ ५६—५७ ॥

"फिर हे अर्जुन, ज्ञान से जिनकी मति स्थिर होगई है, उन के कई बाह्य लक्षण मैं कहता हूं वह सुन। युवावस्था अथवा वृद्धावस्था शरीर में उत्पन्न होती है उस समय वह शरीर के किसी एक या दो अवयवों में ही प्रकट नहीं होती, वरन्

श्लोक ५८

धीरे-धीरे शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय ही नहीं मनुष्य के रोम-रोम तक में उसके चिह्न प्रकट होजाते हैं, अथवा जिस प्रकार मनुष्य को हर्ष अथवा क्रोध का अत्यन्त आवेश होता है, तो वह उसके मुख, आँख, कान हाथ, पैर आदि सब इन्द्रियों में स्पष्ट रूप से प्रकट होजाता है, उसी प्रकार मनुष्य के चित्त में उत्पन्न हुआ ध्यान उसकी प्रत्येक इन्द्रिय तथा कृति में प्रकट हुए बिना नहीं रहता।

"कौन्तेय, मनुष्य की ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय उसके हृदय में और बुद्धि में जैसा ज्ञान अथवा अज्ञान समाया हुआ है, उसे प्रकट करनेवाले साधन हैं। ये साधन कुछ स्थूल (जैसे-तैसे) होते हुए भी कुछ हद तक हमें मनुष्य की स्थिति की कल्पना दे सकते हैं। इसलिए ज्ञानी का उसकी इन्द्रियों के साथ का सम्बन्ध अवश्य जान लेना उचित होता है।

"इस सम्बन्ध में मेरा यह निश्चित मत है, कि स्थिर बुद्धि वाले पुरुष की इन्द्रियाँ सम्पूर्णतः उसके आधीन होती हैं। जिस प्रकार कछुआ अपने शरीर को सिकोड़ सकता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपनी इन्द्रियों को तुरन्त ही रोक सकते हैं। धनुर्धर, यदि तू जानना चाहे कि अमुक मनुष्य की बुद्धि सचमुच कितनी स्थिर हुई है, तो यह देख कि इन्द्रियों के विषय का वेग उसके कितना वश में हुआ है, कितना घटा है, तथा उसका आचरण कितना विवेकपूर्ण और संयमी हुआ है। यह परख महत्त्वपूर्ण है।" ॥५८॥

इन्द्रिय-जय के सम्बन्ध में ज्ञानी पुरुष किस प्रकार का आचरण करें, इस विषय में श्रीकृष्ण का मत सुनकर अर्जुन के मन में फिर एक शंका हुई। उसने कहा:—

श्लोक ५९-६१

"केशव, तुमने जो यह कहा कि ज्ञानी पुरुष कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच लेते हैं, सो क्यों इन्द्रियों को उनके

विषयों को भोगने के अयोग्य करके खींचना चाहिए, अथवा इसका कोई दूसरा उपाय है? आँख देखती है, तभी कुमार्ग पर चलती है न? यदि इस आँख-पर माता गांधारी की तरह पट्टी बाँध ली जाय, तो वह किस प्रकार चञ्चल होगी? क्या इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों को निराहार रखते हैं? और इन्द्रियों को वश करने का यदि ऐसा ही उपाय हो, तो वह कब और कहाँ तक करना चाहिए? क्योंकि तुम्हें तथा महर्षि व्यास आदि जिन प्रसिद्ध ज्ञानियों को मैं देखता हूँ, उन्हें मैं इस प्रकार इन्द्रियों को सिकोड़कर बैठे हुए नहीं देखता।"

अर्जुन के प्रश्न का स्वागत करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—'पार्थ इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रियों को उनके विषय का स्पर्श न कराने से उनकी बहुत-सी चञ्चलता कम होजाती है। यदि तुम भाइयों ने इन्द्रप्रस्थ की सभा रची ही न होती और दुर्योधन को उसे देखने के लिए बुलाया ही न होता, तो उसे तुम्हारा वैभव देखकर जो ईर्ष्या उत्पन्न हुई, वह कदाचित् न हुई होती। किन्तु तुम्हारी ही मिसाल क्यों दूँ? मैंने द्वारका को जिस प्रकार समृद्धिशाली तथा भोगों से परिपूर्ण बनाया है, ऐसा न किया होता तो यादवों में आज जो दुर्व्यसनों ने घर जमाया है उससे वे मुक्त रहे होते। मेरे गोकुल वासियों को मन तथा इन्द्रियों को बिगाड़ देनेवाले शराब, जुआ आदि विषयों के संयम का प्रयत्न थोड़े ही करना पड़ता है। जिस गाँव न गये हों और जिसका नाम तक न सुना हो वह स्वप्न में भी नहीं दिखाई देता, उसी तरह जिन विषयों से इन्द्रियों को सर्वथा अलग रक्खा हो, वे विषय इन्द्रियों को नहीं सताते। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रियों को अनेक विषयों का स्वाद न लगाना एक उपयोगी और आवश्यक साधन है। विवेकवान तथा ज्ञान और योग के जिज्ञासु पुरुष के लिए साधन की अवहेलना करना उचित नहीं है।

'इतने पर भी अर्जुन, इन्द्रियों को उनके विषयों से वञ्चित रखने से ही सब काम नहीं चल सकता, अथवा इसीसे ज्ञान-प्राप्ति हो जाती है यह नहीं कहा जा सकता। मैं इसके कारण बताता हूँ, वह सुन।

"प्रथम तो सब इन्द्रियों को उनके विषयों से सदैव के लिए सर्वथा दूर रक्खा नहीं जा सकता। यह मान लो कि माता गांधारी की तरह कोई आँख पर पट्टी बाँध रक्खे अथवा आँखें फोड़ भी डाले, तो केवल आँख के विषय से चित्त में उत्पन्न होने वाली मलिनता से वह बच जायगा। किन्तु यह सम्भव है कि उससे दूसरी इन्द्रियाँ अधिक प्रबल होजायँ और वे अपने विषयों की ओर भी ज्यादा ग्रहण करने लगें। फिर मरने के सिवा सब इन्द्रियों को इस प्रकार निराहार किया भी नहीं जा सकता। मनुष्य कदाचित् अन्धा, बहरा, गूंगा तथा घ्राणशक्ति-रहित होकर जीवन बिता सके; किन्तु सारे शरीर में व्याप्त स्पर्शेन्द्रिय को वह निराहार किस तरह कर सकता है? जिह्वा के विषय को कबतक निराहार रख सकता है? इस प्रकार इन्द्रियों को निर्विषयी बनाने में कठिनाई है।

"फिर, इन्द्रियों को विषयों से वंचित रखने में सफल हो सकें तो भी यह सम्भव है कि इन्द्रिय लोलुपता कम न हो। क्योंकि जबतक चित्त अनासक्त नहीं होता, तबतक यदि वह प्रत्यक्ष रूप से विषयों को भोग न सके तो कल्पना से उन्हें भोग लेने की आदत डाल देता है। बुद्धिमान पुरुषों ने देखा है कि जिसने एकबार एकाध विषय का रुचि पूर्वक स्वाद लिया होता है, वह पचास वर्ष में भी उसका स्मरण होते ही उस रस में लीन होजाता है। और, यह चित्त कल्पना करने में इतना समर्थ है कि न भोगे हुए विषयों का भी यह कल्पना से निर्माण कर लेता है और केवल कल्पना से ही उनका रस लेता है।

"इसलिए कौन्तेय, जबतक चित्त में से विषय-सम्बन्धी आसक्ति

घटती नहीं, तबतक केवल इन्द्रियों को विषयों से वञ्चित रखने से ही सब काम नहीं चलता।

"विषयों-सम्बन्धी यह रुचि—आसक्ति—किस प्रकार दूर हो। यह मैं अब तुझे बताता हूँ, उसे ध्यान देकर सुन।

"अर्जुन, हम जब छोटे थे तब हमें प्रामाणिकता, स्वच्छता, टीपटाप, पवित्रता एवं सुघड़ता इत्यादि का न कुछ ज्ञान था और न परवाह ही थी। अथवा 'हम' कहने की अपेक्षा मैं निज की ही बात कहूँ न। क्योंकि तू तो राज-भवन में दास-दासियों के बीच पला है, इससे सम्भव है बचपन से ही तुझे वैसी शिक्षा मिली हो; किन्तु मैं तो प्रकृति की गोद में जंगल का जीवन बितानेवाले, रात-दिन ढोर-डंगर के बीच रहकर उनके गोबर मूत्र को साफ करनेवाले और चारों ओर उनसे ही सटकर सो रहनेवाले, मोटी आदतों वाले गोप गोपिकाओं के बीच पला हूँ, इससे मुझे अपने बाल्यकाल की आदतों का अच्छी तरह ध्यान है।

"अर्जुन, उस समय स्वच्छता क्या है और गंदगी क्या है। इसका भेद हम नहीं समझते थे। कपड़े के दाग ही क्या, यदि वह सारा कीचड़ में भरा होता, तो भी वह किसी तरह मैला या अटपटा नहीं लगता था। रोटी और मक्खन हाथ में खाकर उस हाथ को अपनी काछनी से पोंछ डालने में किसी तरह जूठे-सखरे का खयाल नहीं होता था। उसी कपड़े से अपनी नाक पोंछ लेते थे और उसीमें रोटियाँ बाँधकर ढोर चराने जाते थे।

"कौन्तेय, क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय अथवा क्या शूद्र। सबके बालक शौचाचार के सम्बन्ध में इस प्रकार एक समान ही उदासीन होते हैं। चमड़ी गोरी हो, कपड़े स्वच्छ हों, विशेष प्रकार के। विशेष रंग और विशेषरूप से पहरे हों, तभी शरीर सुन्दर प्रतीत होगा, इस

भावना का बचपन में अभाव होता है और इसलिए इस सम्बन्ध में बालकों को कुछ परवा नहीं रहती।

"किन्तु मित्र आज तो संसार में हमारी ख्याति रसिक पुरुषों के नाम से है। मेरे मोर-मुकुट, पीताम्बर और कुण्डल, तथा मेरी बाँसुरी बजाने की कला तथा तेरे संगीत और नृत्यकला पर युवा राजकुमार मुग्ध होजाते हैं। क्या यह आश्चर्य नहीं है? कौन्तेय अब तुमसे अथवा मुझसे पिछले गोबर अथवा कीचड़ में सने हुए, कपड़े पहने हुए बिना पहने न जा सकेंगे, स्नान किया तो क्या और न किया तो क्या, यह लापरवाही न की जा सकेगी और कीचड़ भरे हुए पैर से पलंग पर बैठा न जासकेगा। अर्जुन, इतने पर भी गायों और ग्वालों से बढ़कर मुझे कोई अधिक प्रिय न होने के कारण प्रेम रस के आगे इस सब सुघड़ता का मेरे मन में कुछ भी मूल्य नहीं, और यदि मेरे प्रिय गोप गोपिकाएं मुझे सामने मिल जायँ तो मैं ऐसा हूँ कि व गन्दे हैं अथवा स्वच्छ इस का मन में एक क्षण भी विचार न करते हुए उनका आलिंगन करने के लिए दौड़ जाऊँगा, और इसलिए मैं अपने को भी उन्हीं में गिनता हूँ, क्योंकि यदि मैंने इस प्रेम का स्वाद न चखा होता, तो मेरी क्या स्थिति होती, उसका विचार कर के मैं यह कहता हूँ।"

इस प्रकार कहते-कहते श्रीकृष्ण का गला भर आया। वह बोले—

'अर्जुन, गोकुल की स्मृति से मेरा हृदय सदैव भर आता है और कण्ठ अवरुद्ध होजाता है। इससे कहीं मुझे कमज़ोर दिल का न समझ लेना। मैं अब वृद्ध हुआ हूँ और वृद्ध पुरुष को बाल्यावस्था की स्मृतियों तथा स्नेह का उभार सदैव अधिक होता है। किन्तु मेरे भावावेश का कारण यही नहीं है। प्रत्युत् ज्ञान का अन्त पाकर भी मैंने यही तत्त्व निकाला है कि निःस्वार्थ, तथा आसक्ति और विषयों की इच्छा से रहित शुद्ध प्रेम के सिवा इस संसार में दूसरी कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है।

किन्तु यह तुझे विषयान्तर प्रतीत होगा, इसलिए इसे अब यहीं रहने दें।

"हम यह बात कर रहे थे कि बाल्यावस्था में हमें शौचाचार और शरीर के शृङ्गार का कुछ ध्यान न था, किन्तु उसके बाद वय तथा गुरुजनों द्वारा पोषित संस्कारों के कारण इस सम्बन्ध में ऐसी आदत पड़ जाती है कि बाल्यकाल की लापरवाही फिर हममें आ नहीं सकती, इतना ही नहीं वरन् उसके प्रति घृणा होजाती है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों हम धीरे-धीरे स्वच्छता और शरीर-शोभा के रस का अनुभव करते हैं, त्यों-त्यों बाल्यावस्था के अशुद्ध रस के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है और वह अपनेआप छूट जाता है।

"किन्तु कौन्तेय, इन बाल्यावस्था के रसों के छुटने और युवावस्था के रसों के लगने के लिए संस्कार विचार स्वभाव तथा आदत पड़ने तक किसी ज्येष्ठ पुरुष के तीव्र अंकुश की आवश्यकता होती है।

"इतने पर भी, ये केवल इन्द्रियों के बाह्य विषयों के रस हैं और अन्त में तो अशुद्ध और त्याज्य ही हैं। इनका रस छूटने के लिए यह जरूरी है कि सर्वोत्तम और शुद्ध रस का स्वाद चखने में आवे। और इसी रस की आदत पड़ने तक संस्कार से, स्वभाव और हित-चिन्तक गुरु के अङ्कुश से वह बने, क्योंकि मनुष्य चाहे कितना ही बुद्धिमान् हो, विवेकशील हो, सावधान रहना चाहता हो, तो भी इन्द्रियों का स्वभाव इतना प्रबल होता है कि मन को स्थिर रहने ही नहीं देता और बरबस विषयों की ओर खींच लेजाता है।

"इसीलिए रणधीर, मैं कहता हूँ कि जिसने इन्द्रियों का संयम सिद्ध कर लिया है, इतना ही नहीं, वरन् जिसे विषयों में कुछ भी रुचि नहीं रह गई हो, ऐसे योगी तथा आत्मपरायण पुरुष की ही बुद्धि स्थिर है।" ॥ ५६—६१ ॥

श्रीकृष्ण का केवल इन्द्रिय-जय ही नहीं वरन् रस-जय विषयक इतना आग्रहपूर्ण विवेचन सुनकर अर्जुन ने पूछा—

श्लोक ६२—६३ 'गोपाल कृष्ण, मनुष्य का इन्द्रियों पर पूरा-पूरा अधिकार हो जाने के बाद मन में उनका रस बाकी रह जाय, तो भला उससे बुद्धि की स्थिरता में क्या खामी आती है? मन जब इन्द्रियों को विषयोपभोग से एकबारगी रोक लेने में समर्थ होजाता है तब फिर उसके बाद वह भले ही इसका स्मरण क्यों न करता रहे? मन के द्वारा आत्मा का ही चिन्तन होना चाहिए इसकी क्या आवश्यकता है! मन का तो स्वभाव ही किसी न किसीका चिन्तन करना है, यदि वह विषय का चिन्तन करे, तो उससे जितेन्द्रिय पुरुष का क्या बिगाड़ हो सकता है?"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा :—

"अर्जुन, तेरी यह शङ्का मन के अधूरे परीक्षण का परिणाम है। मन के धर्म और बुद्धि पर होनेवाले उनके प्रभाव को तू अच्छी तरह जान नहीं सका है। मन किस प्रकार बुद्धि को अस्थिर कर अन्त में पुरुष को विनाश-पथ पर लेजाता है, वह सुन।

"महाबाहो, मेरी इन्द्रियाँ मेरे वश में हैं, यह मानकर मन को खुला छोड़ देनेवाला पुरुष ही विषयों का ध्यान करने लगता है। उसे पहले तो ऐसा मालूम होता है कि वह इन विषयों का तटस्थ रूप में, बिना आसक्ति के, केवल कुतूहल के लिए अथवा अध्ययन की दृष्टि से ही विचार करता है, किन्तु अर्जुन, विषय का विचार करते-करते धीरे-धीरे उसमें एक प्रकार का रस उत्पन्न हो जाता है। उसका चिन्तन करना उसे मधुर लगता है और ऐसा भी प्रतीत होता है मानो वह तो उसे उसके चित्त को एकाग्र बनाने का एक सुन्दर साधन मिल गया है। वह योग-मार्ग के इस उपदेश का भी कि

चित्त को एकाग्र करने के लिए अध्ययन के विषय के रूप में मन को प्रसन्न करनेवाला कोई विषय भी लिया जा सकता है, आधार लेता है।

"पार्थ, जिस क्षण मन विषय में रस लेने लगता है, यह समझना चाहिए कि उसी क्षण से उसे आसक्ति उत्पन्न होगई है। उसकी तटस्थता की, केवल अध्ययन की अथवा केवल कौतूहल-वृत्ति की; सब बातों में यह समझना चाहिए कि वह केवल अपनी प्रवंचना ही करता है। किन्तु अभी यह आसक्ति इतनी तीव्र नहीं होती कि यदि वह सावधान होजाय तो उससे छुटकारा न पा सके। फिर भी, बहुत थोड़े मनुष्य इस प्रकार सावधान होते हैं। अधिकांश का तो पैर आगे ही बढ़ता जाता है।

"इस विषय में बहुत से ब्रह्मचारियों के उदाहरण मिलते हैं। गुरुकुलों तथा स्नातकों को ही लो। युवावस्था में प्रवेश करनेवाले तरुण ब्रह्मचारी के मन में काम-विकार का पूरा ज्ञान होने के पहले ही स्त्रियादिक के विषय में रस उत्पन्न होने लगता है। एक ओर वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के आदर्श का पालन करने और सारा जीवन पवित्रतापूर्वक बिताने की आकांक्षा रखते हैं। फिर भी, दूसरी ओर युवती बालाओं की प्रवृत्तियों में, उनके साथ बात-चीत इत्यादि में, उनके कार्यों में सहायता पहुंचाने में तथा उनके प्रति विशेष प्रकार का आदर इत्यादि दर्शाने में, उनकी उमंग बढ़ती जाती है। वे इन सब क्रियाओं को अन्तःकरण से निर्दोष, सात्विक, तथा केवल पुरुषत्व को शोभित करनेवाला सद्भाव ही मानते हैं। उन्हें ज़रा भी अन्देशा नहीं रहता कि इनसे उनका मन विचलित हो जायगा।

"किन्तु, अर्जुन, धीरे धीरे इस तरुण का ध्यान सर्वार्थी रहने के बजाय एकाध बालिका के प्रति विशेष रूप से आकर्षित होता जाता है। उसके प्रति वह अधिक ध्यान-मग्न रहता है।

"ऐसा होते हुए ही यदि कोई उसे जगाकर सचेत करदे और वह जाग्रत हो जाय तो वह बच जाता है। किन्तु अपनी इन्द्रियों पर अपना पूरा अधिकार है, इस विश्वास के बल पर शायद ही कभी ऐसा होता है। फलतः एक दिन अकस्मात उसे मालूम होजाता है कि उसका चित्त विकार-रहित नहीं रहा, वरन् काम ने उसे पराभूत कर दिया है।

"अर्जुन, तरुण ब्रह्मचारी में किस प्रकार काम का उदय होता है, यह मैंने तुझे समझाया; किन्तु वास्तव में देखा जाय तो ब्रह्मचर्य-विनाशक विकार के सम्बन्ध में ही ऐसा होता हो सो बात नहीं है। किसी भी विषय का अत्यधिक ध्यान होने पर उसमें आसक्ति उत्पन्न होजाती है और आसक्ति से उस विषय के प्रति काम उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, वह विषय मुझे प्राप्त होना ही चाहिए, उसके बिना मैं दुःखी हूँ, वह मिलेगा तभी मैं सुखी होऊँगा, वही मेरे जीवन का सर्वस्व है, तथा उसके लिए मैं सर्वस्व तक होम दूँगा, इस प्रकार उसके प्रति तीव्र आग्रह उत्पन्न होता है।

"कौन्तेय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय हों अथवा धन, राज्य, कीर्त्ति, विद्या, बल आदि सूक्ष्म विषय हों, इनमें से जिस किसी भी विषय के प्रति ऐसा अनुराग उत्पन्न होता है, यह समझ लो कि वह क्रोध को न्यौता देता आता है। उस विषय की प्राप्ति में विघ्न डालनेवाले पुरुष को वह सहन नहीं कर सकता। यह विघ्न डालने वाले चाहे उसको जन्म देनेवाले माता-पिता हों, कृपालु गुरु हों, बाल-सखा हों, पुत्र हों, पत्नी हो, कोई भी हो, इनमें से किसीके प्रति वह सहिष्णु नहीं हो सकता। विषय के प्रति उसका राग जितना तीव्र होगा, उसकी प्राप्ति में विघ्न आने पर उतना ही तीव्र उसका क्रोध भी होगा। इस प्रकार काम में से ही क्रोध भी उद्भव होता है।

"क्रोध के परिणामस्वरूप सम्मोह अर्थात् बुद्धि की मूर्च्छित अवस्था होती है। क्रोधी मनुष्य बुद्धि का उपयोग नहीं कर सकता, शान्ति रख नहीं सकता। उसे दलील से समझाया नहीं जा सकता। वह विह्वल हो जाता है। इतना ही नहीं, बोलता-चलता होने हुए भी उसकी दशा पागलों की-सी अथवा सन्निपातग्रस्त की-सी हो जाती है। क्रोध के कारण कर्मेन्द्रियों पर उसका वश नहीं रहता, तो ज्ञानेन्द्रियों की तो बात ही क्या? उसके हाथ-पैर काँपने लगते हैं, होठ फड़कने लगते हैं, और उसके हाथों क्या होजायगा इसका कुछ भान नहीं रहता।

"इस प्रकार सम्मोह अर्थात् बुद्धि की मूर्च्छा से स्मृति का नाश होता है। उसके क्रोध का निमित्त बना व्यक्ति उसे दस महीने गर्भ में रखकर छोटे से बड़ा करनेवाली माता है, अथवा उसे जन्म देकर पालन करनेवाला पिता है अथवा उसके पीछे प्राण देने वाली पत्नी है, यह भेद-भाव नहीं रहता। वह न कहने योग्य शब्द सुनाता है, और न करने योग्य काम कर बैठता है। फिर केवल क्रोध का निमित्त बने व्यक्ति को ही वह दण्ड देता हो सो बात भी नहीं होती। जिसपर क्रोध हुआ हो उस व्यक्ति का यदि कुछ बिगाड़ न कर सकता हो, तो वह अपना रोष किसी निर्दोष पर ही निकाल बैठता है। यदि वह स्त्री हो तो सास अथवा पति के दोष के लिए बालक को मार बैठती है। हाथ की निर्जीव वस्तु को तोड़-फोड़ डालती है।

"फिर, निर्दोष पर क्रोध निकालकर ही उसका बुद्धि-भ्रंश रुक जाता हो सो बात भी नहीं। यदि उसका क्रोध इतने से भी शान्त न हो, तो वह आत्म-हत्या तक कर बैठता है।

"सच पूछा जाय तो, बुद्धि के सर्वथा भ्रंश होने को ही सर्वस्व-नाश कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं। किन्तु स्थूल परिणामों की दृष्टि से,

विषयों का चिन्तन आत्म-हत्या तक के परिणाम पर किस तरह पहुँचा देता है, यह मैं तुझे समझाता हूँ।

"मेरा यह निश्चित मत है कि जबतक मन में विषयों का ध्यान रहता है तबतक किसी को इन्द्रियजित कहना निरी भूल है। सच पूछो जाय तो, मनोजय अथवा रस-जय तथा इन्द्रिय-जय दोनों एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं ही नहीं। इन्द्रिय-जय तो केवल रस-जय के परिणाम-रूप ही दृढ़ होता है, और रस रहते हुए भी जो इन्द्रियों पर अधिकार हुआ-सा प्रतीत होता है वह अनेक अंशों में विषयों के प्रति रस कम होने का ही परिणाम होता है। इसलिए इन्द्रियों पर अधिकार करने का प्रयत्न करते हुए भी, विषयों के प्रति रस कितना कम हुआ है इसपर ही तुझे ध्यान देते रहना चाहिए।" ॥ ६२–६३ ॥

श्रीकृष्ण का इन्द्रिय-जय तथा मनोजय के महत्त्व सम्बन्धी इस प्रकार का प्रवचन सुनकर अर्जुन चकरा गया। उसने कहा—

श्लोक ६४ 'वासुदेव, यह तो एक सुलझ न सकने जैसी समस्या दिखाई देती है। इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए यह तो कुछ समझ में आ सकने और कर सकने जैसी बात मालूम होती है, किन्तु तुम तो कहते हो कि विषय का चिन्तन ही न होना चाहिए। फिर तुम्हीं यह भी कहते हो कि इन्द्रियों को सर्वथा निराहार रखना, आँख हो तो भी बिलकुल देखना नहीं, कान होने पर भी बिलकुल सुनना नहीं, इत्यादि बातें तो सर्वथा असम्भव हैं। तब मनुष्य जीवित किस प्रकार रहे? किस तरह देखें, किस तरह सुनें, किस तरह खाव मुझे तो कोई रास्ता ही नहीं सूझता।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन, यह तो सच है कि इन्द्रिय-जय और रस-जय सरल नहीं है। जबतक शरीर हमारे साथ लगा हुआ है, इतना ही नहीं, सांख्यतत्त्ववेत्ता तो यहाँ तक कहते हैं कि जबतक प्रोढ़

में प्रतिबन्ध करनेवाला कोई भी कारण मौजूद है, तबतक इन्द्रियाँ तथा उनके विषय हमारे पीछे हैं ही। फिर भी उन्हींमें से मनुष्य को विवेक-पूर्वक मार्ग निकालना है। इस प्रकार तत्त्व को आचरण में लाने के मार्ग का ही नाम योग है, और वैसा कर जानने वाला पुरुष ही विधेयात्मा अर्थात् निश्चल बुद्धि वाला कहा जाता है।

'तब इन्द्रियों से विषयों का उपभोग किस तरह करना चाहिए, उसकी विधि बतलाता हूँ, वह सुन। योगी पुरुष इन्द्रियों से इस प्रकार विषयों का भोग करते हैं---

"पहले तो अपनेमें जितनी बुद्धि हो, उसका उपयोग करके वह इस बात का निर्णय करना है कि जीवन के धारण-पोषण के लिए कौनसे विषय आवश्यक हैं और कौन से अनावश्यक। यह निर्णय करने में वह जहाँतक सम्भव हो राग-द्वेष से परे रहकर विचार करने का प्रयत्न करता है। इसका अर्थ यह है कि जीवन के धारण-पोषण के लिए क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक है, यह निश्चित करने में वह जीवन के गलत पैमानों से काम नहीं लेता। उदाहरणार्थ, प्रतिष्ठा बनाये रखने अथवा सगे-सम्बन्धियों को प्रसन्न करने के लिए तथा सुविधायें बढ़ाने अथवा असुविधायें घटाने के लिए इतने विषयों के बिना काम न चलेगा, अथवा इतने विषयों का आकर्षण छोड़ा ही न जा सकेगा, अथवा इतने विषय आवश्यक होते हुए भी असचिकर होने के कारण छोड़ दिये जा सकते हैं:—इस प्रकार के विचारों को वह एक ओर रख देता है।

"यह ठीक है कि ऐसा करने में वह आरम्भ से ही सफल नहीं हो जाता, और इसमें कई बार वह गोते भी खाता है। किन्तु सन्तों साधकों तथा विशेष अनुभवी पुरुषों के समागम तथा उपदेशों की सहायता से उसका प्रयत्न जारी रहता है।

"इस प्रकार राग-द्वेष से परे रहकर, भोगने योग्य और त्यागने योग्य विषयों का निर्णय करके, जो विषय अनिवार्य प्रतीत हों उनमें भी इन्द्रियों को लोलुप न होने देते हुए जितना उचित हो उतना ही उपभोग करने का नाम योग है और ऐसा करने वाला पुरुष विधेयात्मा कहलाता है।

"यह सच है कि ऐसे प्रयत्नशील योगी को आरम्भ में तो कठिनाई प्रतीत होती है। किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी साधना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वह कठिनाई कम होती जाती है, और ज्यों-ज्यों प्रयत्न सफल होता जाता है, त्यों-त्यों ऐसा करने में उसके चित्त की प्रसन्नता बढ़ती जाती मालूम देती है। ऐसे प्रयत्न से पहले तो उसे ऐसा भासित होता है मानो सब ओर से वह जंजीरों में जकड़ दिया गया है। किन्तु बाद में तो उसे इससे उलटा ही अनुभव होता जाता है। वह देखता है कि वह चारों ओर से बँधा हुआ क़ैदी नहीं, वरन् अपने निर्माण किये अनेक बन्धनों से मुक्त होकर विशेष स्वाधीन तथा स्वतंत्र पुरुष है। इससे वह दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक चित्त की प्रसन्नता अनुभव करता है ॥६४॥

श्लोक ६५-६६

"अर्जुन, मैंने आरम्भ में ही तुमसे जो कहा था, क्या वह याद है? मैंने बतलाया था, कि धर्म का मार्ग चित्त की प्रसन्नता में से ही सूझता है और चित्त की प्रसन्नता को बढ़ाता है। वही बात मैं तुमसे फिर कहता हूँ कि जैसा मैं बता चुका हूँ, वैसे संयमी पुरुष के चित्त में दिन-प्रतिदिन प्रसन्नता बढ़ती जाती है। इसलिए दुःख में भी वह हँस सकता है हँसा सकता है, और अत्यन्त शोक उत्पन्न होने के कारण एकत्र हो गये हों तो, उस समय भी वह शांति चित्त से उचित-अनुचित का

निर्णय कर सकता है। दूसरे शब्दों में ऐसे ही पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है ॥६५॥

"परन्तु, बुद्धि की ऐसी स्थिरता और भावना की पुष्टि ज्ञान की खाली बातें करने से ही प्राप्त नहीं हो जाती। इसके लिए तो कमर कसकर प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न का नाम है योग। जैसा कि मैं तुझसे कह चुका हूँ, योग का अर्थ है कर्मपरायणता, कर्म-कौशल्य और निष्कामता तथा समता। ऐसे योग के बिना न तो बुद्धि स्थिर होती है, न भावनायें ही शुद्ध होती हैं। और यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं, कि भावना शुद्ध हुए बिना शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती और, जिसे शान्ति नहीं उसे कुछ सुख भी नहीं। ॥६६॥

श्लोक ६७–६८

"पार्थ, सम्भव है कि मेरे शब्दों से तुझे भ्रम हो और तू इस सम्बन्ध में उलझन में पड़ जाय कि मैं मन की विजय पर ज़ोर देता हूँ अथवा इन्द्रिय-जय पर, क्योंकि संसार में इस प्रकार दोनों तरह का मत रखनेवाले पुरुष मिल जाते हैं। कितने ही यह मानते हैं कि मन पवित्र हो, तो भले ही बेचारी इन्द्रियाँ सुखपूर्वक विषयोपभोग करती रहें, उनके संयम की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत बहुत-से इन्द्रिय-जय पर इतना अधिक ज़ोर देते हैं कि इन्हें फोड़ने, काटने तक के उपाय सुझाते हैं और मन के जय को भूल ही जाते हैं। इन दोनों में से एक भी मार्ग मेरे कर्मयोग अभिमत नहीं है।

"इन्द्रिय-जय के अभिमान से जो अपनेको सुरक्षित समझता है उसे मन किस प्रकार पथ-भ्रष्ट कर देता है, यह मैंने तुझे विस्तारपूर्वक समझाया ही है। किन्तु इसके साथ ही तू यह भी समझ रख कि मनोजय का विश्वास रखकर इन्द्रियों को खुला छोड़ देनेवाले का हाल भी वैसा

ही होता है। क्यों कि इन इन्द्रियों और मन के बीच दूध और पानी जैसी मित्रता है, अथवा वस्तुतः जिस प्रकार स्वर्ण और स्वर्णकार नाम मात्र को केवल कहने के लिए ही जुदे कहे जा सकते हैं उसी प्रकार मन तथा इन्द्रियों को भी केवल समझाने के लिए ही जुदा कहा जाता है। वास्तव में जिस प्रकार जुदा-जुदा रूप में घड़ा हुआ सोना ही छल्ला अँगूठी, कड़े, सांकल आदि जुदे-जुदे नामों से बोला जाता है, उसी प्रकार यह मानना चाहिए कि आंख कान, नाक इत्यादि इन्द्रियाँ भी मन के ही जुदे-जुदे रूप हैं। इसलिए यह समझ रखना चाहिए कि किसी इन्द्रिय का विषयों में भ्रमण करना मन का ही भ्रमण है। इस प्रकार यदि कोई पुरुष प्रमाद से अपनी एकाध इन्द्रिय को खुला छोड़ दे तो मन तुरन्त उसके साथ दौड़ जाता है और फिर उस पुरुष की बुद्धि को तूफान में फँसे हुए जहाज की तरह इधर से उधर भटकाकर नष्ट कर देता है। इसलिए मित्र मुझे बार-बार कहना पड़ता है कि यह तू निश्चय मानना कि जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओर से अपने वश में होगई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हुई है। ॥६७-६८॥

"अर्जुन, तूने मुझसे पूछा था, कि स्थिर बुद्धि पुरुष किस प्रकार बोलता है, किस तरह बैठता है, और किस तरह चलता है? इस पर मैंने तुझसे कहा था, कि उसकी सब क्रियायें सहज-स्वाभाविक कृत्रिमता-रहित होती हैं। वह जैसा होता है उससे भिन्न प्रकार का दर्शाने का ढोंग नहीं करता। इसके सिवा उसके

श्लोक ६९

संयमी, कर्म-परायण तथा योगयुक्त जीवन के कारण, स्थूल दृष्टि से रहन-सहन के जो कुछ भेद दिखाई देते, हैं उनके अतिरिक्त, सामान्य मनुष्य की अपेक्षा उसका खान, पान, वेश आदि किसी दूसरी तरह का ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता।

"परन्तु संयमी—स्थिर बुद्धि वाले तथा संसारिक-भोग्यासक्त पुरुष के

बीच जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में ही, उनके उद्देश्यों में ही, रात-दिन का-सा तीव्र भेद है। वह यह कि स्थिर बुद्धि वाला संयमी पुरुष जिन विषयों में उदासीन अथवा रसहीन होता है, वे विषय भोगासक्त पुरुष को अत्यधिक महत्व के और रसीले प्रतीत होते हैं और उनके लिए वह रात दिन प्रयत्न करता रहता है, और जिन बातों के लिए संयमी पुरुष जी तोड़कर परिश्रम करता है, भोगासक्त पुरुष को उनमें जरा भी रुचि नहीं होती। अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाय तो भोगासक्त पुरुष इन्द्रियों के सुख तथा उन्हें प्राप्त करने के साधन—काम और अर्थ इन दो को ही महत्व देते हैं और इन्हींमें अपने जन्म की सार्थकता समझते हैं। इन दो को दृष्टि में रखकर ही वे धर्म तथा ज्ञान की साधना करते हैं, और यदि धर्म का त्याग करने से अथवा अज्ञान का आश्रय लेने से उन्हें सुख अथवा अर्थ की प्राप्ति सम्भव प्रतीत हो तो वे वैसा करने में भी नहीं हिचकिचाते।

"इसके विपरीत, संयमी-विचारशील पुरुष अपने काम तथा अर्थ के प्रति उदासीन होते हैं, और धर्म का त्याग करके अथवा अज्ञान का आश्रय लेकर उनकी प्राप्ति के लिए कभी प्रयत्न नहीं करते। किन्तु रात-दिन धर्म और ज्ञान का आश्रय लेकर प्राणियों के हित के लिए ही प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जिन विषयों में भोगासक्त पुरुष जाग्रत रहते हैं, उनके प्रति भोगासक्त व्यक्ति उदासीन होकर सोते रहते हैं। ॥ ६९ ॥

श्लोक ७०–७१ "कौन्तेय, जो पुरुष शान्ति की इच्छा रखता है, उसके मन में जब-जब जो-जो इच्छा उठे उसके पीछे पागल बन जाने से उसका काम नहीं चल सकता। कैसा पुरुष शान्ति प्राप्त कर सकता है और कैसा नहीं यह मैं बताता हूँ, उसे तू सुन।

"जिस प्रकार स्थिर आधार वाले समुद्र में नदियों का पानी निरन्तर

आता ही रहता है, तिसपर भी ऐसा नहीं होता कि वह भरपूर भर गया हो, वह सदैव अपूर्ण ही रहता है, और इसलिए मूल में स्वभावतः गम्भीर होते हुए भी, उसकी सतह पर निरन्तर खलबलाहट, ज्वारभाटे और लहरों की अशान्ति शान्त होती ही नहीं, उसी प्रकार वासनाओं के फेर में पड़े हुए पुरुष का चित्त, आत्मारूपी स्थिर आधार पर रहने और स्वभाव से गम्भीर होते हुए भी, 'अब तो वासनाओं का बहुत भोग कर लिया, अब तो बस करना चाहिए' इस प्रकार कभी तृप्त नहीं होता और न कभी शान्ति प्राप्त करता है।* ॥७०॥

'किन्तु जो व्यक्ति सब वासनाओं का त्याग कर निस्पृह बनकर आचरण करता है, जिसके मन में अपने और पराये का भेद-भाव नहीं रहता, जिसमें अहमत्व का मद नहीं, और इसलिए 'या तो मैं नहीं, या वह नहीं' अथवा 'अमुक कार्य मेरे ही हाथों पूरा होना चाहिए' 'मुझे ही उसकी सिद्धि का यश मिलना चाहिए'—इस प्रकार का आग्रह नहीं। ऐसे ही पुरुष को शान्ति मिलती है।" ॥७१॥

श्लोक ७२

"अर्जुन, ब्रह्मस्वरूप होने की जो स्थिति कही जाती है, जिसे आत्म-निष्ठा कहते हैं, जो जीवन-मुक्तता की दशा कही जाती है, तथा स्थित-प्रज्ञ के जो लक्षण मैंने बताये हैं, वह सब एक ही है। इस स्थिति को पहुँचे हुए

---

*विद्वान पाठक देखेंगे कि सत्तरवें श्लोक का आशय मैंने भिन्न प्रकार से किया है। साधारणतः चौथे चरण के 'आप्नोति' शब्द के आगे पूर्ण विराम है और न काम कामी (शान्ति माप्नोति) यह दूसरा स्वतन्त्र वाक्य है, ऐसा अर्थ किया जाता है। किन्तु मैंने इस प्रकार अन्वय किया है......तद्वत् सर्वे कामः य प्रविशन्ति, सकाम कामी शान्ति न आप्नोति ॥ 'जिस प्रकार समुद्र कभी शान्त नहीं होता, उसी तरह इस पुरुष का चित्त शान्त नहीं होता।

पुरुषों को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, यह असमञ्जस नहीं होता कि जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से उठता है और उठने में कुछ देर नहीं लगती, उसी प्रकार उनकी बुद्धि में कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय स्पष्टरूप से और इस प्रकार तत्काल होता है मानो पहले से ही विचार कर रक्खा हो।

"कौन्तेय, ऐसी स्थिति प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करनी चाहिए। यही जीवन का स्वभाव बन जाय, ऐसा होना चाहिए। मनुष्य के जीवन का यही सच्चा ध्येय और कर्तव्य है। जीवन के अन्त समय में भी यह स्थिति प्राप्त होजाय, तो जन्म सार्थक समझना चाहिए"। इस स्थिति में रहकर जिसका शरीरान्त होता है, वही निर्वाण-पद को प्राप्त होता है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में पहुँचने के बाद, यह गङ्गा। यह ताप्ती ऐसा पृथक् व्यक्तित्व नहीं रखतीं, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न फूलों का शहद छत्ते में पहुँचने के बाद यह मोगरे का और यह चमेली का इस प्रकार अलग व्यक्तित्व नहीं रखता, उसी प्रकार ऐसे पुरुष की चैतन्य शक्ति विश्वव्यापी, अनन्त एवं अपार ब्रह्म से भिन्न नहीं रहती।

"अर्जुन, तैल और पानी को साथ मिलाया जाय, तो भी वे एक-दूसरे में नहीं मिलते, अलग-अलग ही रहते हैं। इसलिए, तैल लगाई गई वस्तु को पानी से भिगोने के पहले उसपर की तैल की चिकनाहट निकाल डालनी पड़ती है। उसी प्रकार अर्जुन, वासना रूप तैल की सतह के नीचे रहने वाला चैतन्य का अंश ब्रह्म से जुदा रहता है। उस चिकना-हट के धुल जाने से वह ब्रह्म-रूपी निर्वाण को प्राप्त होता है।" ॥७२॥

तृतीय अध्याय

कर्म-सिद्धान्त

श्लोक १ से ३

स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन बोला—"जनार्दन, तुमने स्थितप्रज्ञ के जो ये सब लक्षण बताये, उनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य का अपने स्वरूप को पहचानना और उसमें सन्तोषपूर्वक रहना ही जीवन का ध्येय और सब से श्रेष्ठ स्थिति है। उसके लिए तुमने सब वासनाओं के त्याग पर, इन्द्रियों के संयम पर और मन को वश में रखने पर जोर दिया है। फिर तुमने सांसारिक पुरुषों के और संयमी पुरुषों के जीवन किस प्रकार एक-दूसरे से उलटे होते हैं, यह भी बतलाया। उसी प्रकार फिर विषयों का केवल चिन्तन भी श्रेयार्थी के लिए कितना खतरनाक है यह भी विस्तारपूर्वक समझाया। इस सब को देखते हुए तुम्हारे कहने का अर्थ यह होता है कि मुमुक्षु का सांसारिक कर्मों में पड़ना भूल है, उन्हें तो सांसारिक कर्मों का त्याग कर आत्मज्ञान के साधन-रूप इन्द्रियदमन, मनोनिग्रह तथा वासना-परित्याग के मार्ग पर लगना चाहिए।

"यदि सच बात ऐसी ही हो, तो फिर तुम मुझसे युद्ध जैसा घोर कर्म करने के लिए आग्रह क्यों करते हो? क्या तुम मुझमें ज्ञान के मार्ग पर जाने की योग्यता नहीं देखते इसलिए? अथवा, क्या तुम मेरी परीक्षा लेते हो?

"प्रिय और पूज्य केशव, कृपाकर तुम कभी ज्ञान की और कभी कर्म की महिमा बताकर मुझे उलझन में मत डालो। इनमें से तो मैं यह समझ ही नहीं सकता कि तुम्हारा अन्तिम

और सच्चा आशय क्या है। मुझे तुम अपना स्पष्ट सिद्धान्त समझाने की कृपा करो।" ॥ १—२ ॥

अर्जुन के ये शब्द सुनकर भक्ताधीन श्रीकृष्ण ने कहा:—

"प्रिय धनञ्जय, यह वस्तु मैं तुझे समझा रहा था, किन्तु बीच में तेरा ध्यान भंग होगया था, इसलिए मेरे विचारों को तू ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सका। मैंने उसी समय तुझसे कहा था कि तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ में फँस जाने के कारण व्यग्र होरही है और इसलिए तू मेरे कथन का मर्म ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु जब तेरी बुद्धि स्थिर होजायगी, तब तू मुझे समझने में समर्थ होजायगा।

"इसपर तूने बीच में ही यह प्रश्न किया कि स्थिरबुद्धि के लक्षण क्या हैं? यह प्रश्न थोड़ा अप्रासंगिक था, फिर भी मैंने मनुष्य-जीवन का आदर्श समझाने के लिए उसका उपयोग कर लिया। मैंने आशा की थी कि इसपर से तू प्रस्तुत विषय पर भी आजायगा, और वैसा ही हुआ भी, इसलिए मैं प्रसन्न हूँ।"

यह सुनकर अर्जुन ने नम्रतापूर्वक दोनों हाथ जोड़े और बोला—"केशव, मित्र की तरह भी तुमने मुझपर अपने प्रेम की सीमा नहीं रक्खी, तब गुरु के रूप में अनुग्रह वर्षा में भी सीमा न रक्खो इसमें कहना ही क्या है? मैं सावधान हूँ यह दिखाने का मैंने जो ढोंग किया था, उसके लिए मुझे क्षमा करो।"

यह कहकर अर्जुन श्रीकृष्ण के पैरों पड़ने जाता था, कि श्रीकृष्ण ने उसे पकड़ लिया और बोले:—

"अर्जुन, आज तक तेरे और मेरे बीच का कभी इस प्रकार का शिष्टाचार का सम्बन्ध था? तत्वज्ञान का निरूपण भेद-भाव को मिटा देता है। अखिल विश्व को अपने साथ एकरूप कर डालना यही इसकी महद् इच्छा है। वेदान्तवेत्ता उल्लासपूर्वक यह गाते हैं कि इसके निरू-

पण से गुरु-शिष्य का अद्वैत होजाता है। इसके विपरीत, यदि तेरे और मेरे बीच इस प्रकार का शिष्टाचार का सम्बन्ध होता हो, तो यह अच्छा होगा कि मैं ज्ञान-चर्चा एक ओर रखकर केवल गपशप ही करूँ। किन्तु अब यह बात जाने दे। हम अपनी चर्चा आगे चलावें।

"कौन्तेय मैंने तुझ से कहा न कि मीमांसकों ने अपना शास्त्र अधिकांश में भोग तथा ऐश्वर्य की वासना की तृप्ति करने के लिए बनाया है। इस शास्त्र के अनुरूप विधियों को धर्मशास्त्र अथवा कर्मकाण्ड का नाम दिया गया है। इसका कारण मोक्ष-परायण तत्त्वज्ञानियों के मन में इनके प्रति अनादर दिखाई देता है। इसने कर्म-मात्र का निषेध करनेवाला सम्प्रदाय भी बन गया है और वे लोग सांख्य-योगी अथवा संन्यासी कहे जाते हैं। उनके तत्त्वचिन्तन, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि साधनों में संलग्न रहने के कारण उन्हें ज्ञानमार्गी अथवा ज्ञानयोगी भी कहा जाता है।

"फिर, मैंने तुझ से यह भी कहा था कि मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित धर्म के विवेक द्वारा दो भेद करने चाहिए। कर्म और अकर्म में जो कर्म हों उनका योगपूर्वक अर्थात् ज्ञान-कौशल तथा समतापूर्वक आचरण करना चाहिए। यह मेरा एक दूसरा मत है और इसे कर्मयोग कहते हैं इसपर चलने वाले कर्मयोगी अथवा संक्षेप में योगी कहे जाते हैं। ॥३।

"अब, महाबाहो, सांख्य-प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा अधिकांश में मुझे स्वीकृत होते हुए भी मैं कर्मयोग को क्यों महत्व देता हूँ,

श्लोक ४-६ सो कहता हूँ। प्रियवर, "तत्त्ववेत्ताओं ने यह माना है कि जबतक लवलेशमात्र भी कर्म का बन्धन रहता है, तबतक पुरुष चाहे स्थूल देह में रहता हो अथवा उससे रहित केवल वासनामय लिंग-देह में, प्रवृत्ति से उसका सम्बन्ध नहीं छूटता अथवा मुक्ति सम्भव नहीं होती। इस निष्कर्मता की सिद्धि के लिए वे कहते हैं कि नवीन कर्म न किये जायँ।

"किन्तु कर्म करने का अर्थ क्या है और उनका क्षय अथवा निष्कर्मता सिद्ध करना किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में बड़ा भ्रम फैला हुआ है।

"इस विषय में मेरा तो यह मत है कि निष्कर्मता केवल स्थूल रूप से आचरण करने की कोई विधि नहीं है, वरन् चित्त की शुद्धि का एक परिणाम है। इसलिए केवल कर्म का आरम्भ न करने से अथवा आरम्भ किये हुए कर्म का सन्यास अर्थात् त्याग करने से निष्कर्मता प्राप्ति होती है, यह मैं नहीं मानता ॥४॥

'पार्थ, सांख्यवेत्ताओं ने यह प्रतिपादन किया है, कि जबतक चित्त की पूर्णतः शुद्धि नहीं होजाती, जिस प्रकार आत्मा शुद्ध और ज्ञानमात्र निर्विकार कहलाता है उसी प्रकार चित निर्विकार नहीं होजाता, तब-तक पुरुष इस प्रकृति के आधीन ही रहता है।

"अर्जुन, जबतक ऐसी स्थिति है, तबतक प्रकृति की क्रिया कभी बंद होती ही नहीं। शरीर मुर्दे की तरह स्थिर होकर पड़ा रहे अथवा उसका नाश भी हो जाय, तो भी प्रकृति की क्रिया एक क्षणभर विश्राम किये बिना एकसमान चलती ही रहती है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति के साथ एकरूप होकर रहनेवाले पुरुष का एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं बीतता और प्रकृति के गुणों के साथ सम्बन्ध होने के कारण उक्त पुरुष कर्ता हुए बिना रह नहीं सकता। जबतक चित्त की सम्पूर्ण शुद्धि नहीं होजाती, तबतक इस स्थिति से छुटकारा पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है। इस स्थिति से छूटने का एक ही मार्ग है और वह है चित्त की पूर्णतः शुद्धि।

"इसलिए चित्त की शुद्धि का कुछ प्रयत्न किये बिना उसे विषयों में भटकता रखकर केवल इन्द्रियों को रोक रखने वाला पुरुष निष्कर्मी है, यह नहीं कहा जा सकता; वह तो केवल मोहग्रस्त मिथ्याचारी ही है।" ॥६॥

"अर्जुन, ऐसा होने के कारण जिस प्रकार चित्त की शुद्धि हो उसी प्रकार आचरण का नियम होना चाहिए। इस सम्बन्ध में मैंने जो कर्मयोग कहा है, वही श्रेष्ठ मार्ग है। अर्थात् पहले तो मन की शुद्धि करने के प्रयत्न सहित इन्द्रियों का नियमन होना चाहिए। नियमन का क्या अर्थ है, यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार जो सारथि घोड़ों को अपने वश में नहीं रख सकता वह कुशल नहीं समझा जाता उसी प्रकार जो सारथि घोड़े को मार-मारकर अधमुआ कर डालता है और उसकी कार्य-शक्ति को नष्टकर देता है, अथवा उसकी लगाम इतने जोर से खींचता है कि उसके मुँह से रक्त निकलने लगता है और खिचावके कारण चलना कष्टदायक होजाता है, वह भी कुशल नहीं समझा जाता। इसी प्रकार हाँकनेवाले के रथ में बैठने-वाले व्यक्ति की यात्रा भी सुखकर नहीं होती। घोड़े की उछल-कूद और उसके अकुराने छुटकारा पाने का प्रयत्न रथ को हिला डालता है और बैठने वाले को हिचकोलों से थका देता है। इसके विपरीत कुशल सारथि घोड़ों को इस प्रकार हाँकता है कि एक ओर से उन्हें अपने वश में रखता है, अपनी इच्छा के विपरीत दिशा में एक पग तक उन्हें नहीं रखने देता, फिर भी घोड़ों को ऐसा मालूम होता है मानों वे सारथि के वश में नहीं वरन् स्वतन्त्र हैं और मानों सरपट दौड़ने में उन्हें आनन्द आता है। अर्जुन, इसे घोड़ों का नियमन कहते हैं। इसमें न तो घोड़ों की स्वच्छन्दता है, न उनका दमन ही है।

श्लोक ७–८

"इन्द्रियों का नियमन भी इसी प्रकार होना चाहिए। ऐसा नियमन सरलता से सिद्ध नहीं होता। इसमें घोड़ों को आरम्भ से ही अच्छी तरह सधाना पड़ता है। अटपटा न लगे इस तरह उचित लगाम लगाकर उन्हें धीरे-धीरे बचपन से ही सधाना पड़ता है। इसी तरह इन्द्रियों का

नियमन भी मनुष्य को आरम्भ से ही अच्छी आदतें डालकर और उचित संस्कारों का पोषण करके करना पड़ता है। सधाये हुए घोड़ों की तरह, इस प्रकार सधाई हुई इन्द्रियाँ भी कष्ट अनुभव किये बिना स्वभावतः ही और प्रसन्नतापूर्वक वश में रहती हैं। अर्जुन, इसीका नाम है मन के द्वारा इन्द्रियों का नियमन।

"इसी प्रकार मन से इन्द्रियों को नियम में रखकर और आसक्ति से रहित होकर कर्मयोग का आचरण करनेवाला पुरुष उस स्थूल रूप से हाथ-पैर बाँधकर बैठे हुए कर्मरहित मनुष्य की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है और उससे कहीं अधिक अच्छी तरह श्रेय के पथ पर लगा हुआ है, यह मेरा मत है।

"इसलिए, अर्जुन, मेरा निश्चित मत है कि कर्म-रहित होना उचित नहीं है और सकर्मी ही श्रेष्ठ है; किन्तु यह कर्म मन तथा इन्द्रियों को वश में रखकर करना चाहिए।

"गुड़ाकेश, इस संसार में कर्म किये बिना काम चलता ही नहीं। उसके बिना शरीर का निर्वाह तक नहीं हो सकता। कर्म का निषेध करने-वाले संन्यासी को भी शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक कर्म तो करने ही पड़ते हैं। इस प्रकार कर्म का सर्वथा निषेध करनेवाला मन टिक ही नहीं सकता।

"किन्तु इसके साथ ही मन तथा इन्द्रियों की गुलामी के परिणाम-स्वरूप हुई कर्म-प्रवृत्ति कभी श्रेयस्कर नहीं होती। इसलिए मैं तुमसे न तो जिस पर वृत्ति जाय, आँख मीचकर उस कर्म में लगे रहने को कहता हूँ, न कर्म-रहित होने के लिए कहता हूँ, वरन् नियत कर्म करने की सलाह देता हूँ।" ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण का ऐसा उपदेश सुनकर अर्जुन ने कहा : —

"व्रजनाथ, कर्म का त्याग करने से वासना को मिलनेवाला पोषण

बन्द होजाता है और इस कारण धीरे-धीरे उसका क्षय होने लगता है, यह बात तो कुछ समझ में आ सकने जैसी मालूम होती है। किन्तु कर्म करने से तो, जिस प्रकार वृक्ष को पानी देने से पोषण मिलता है उस तरह, क्या वासना को पोषण न मिलेगा ? जिस कर्म के प्रति आसक्ति न हो, वह हो ही किस तरह सकता है ? इसलिए कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि और अनासक्ति किस प्रकार होसकती है, कृपा कर यह मुझे समझाओ ।"

अर्जुन का यह प्रश्न सुनकर शिष्य-वत्सल श्रीकृष्ण बोले:—

"प्रियवर, तूने अच्छा प्रश्न किया है। इस सम्बन्ध में मीमांसकों की परिभाषा में प्रचलित 'यज्ञ' शब्द मुझे बहुत उपयोगी प्रतीत होता है। मैंने इस शब्द के अर्थ का विकास (लक्षण) करके, इसकी मूलभूत भावना और तत्त्व को कर्मयोग में स्वीकार किया है। इस प्रकार, अर्जुन, मैं तेरे प्रश्न को इस तरह समझाता हूँ कि कर्म, अथवा अनिवार्यतः आचरणीय धर्म भी यज्ञ के सिवा दूसरे हेतु से किये जायँ तो वे बन्धनरूप, अर्थात् वासनाओं के पोषक होते हैं, किन्तु यदि वे यज्ञार्थ किये जायँ तो बन्धनकारक नहीं होते । इसलिए कौन्तेय, तू केवल फल-सम्बन्धी ही आसक्ति छोड़कर नहीं, वरन् यज्ञार्थ अपने कर्म कर। इस प्रकार उनसे बन्धन पैदा नहीं होंगे, वरन् वासनाओं का क्षय होकर उत्तरोत्तर चित्त-शुद्धि होगी।" ॥ ९ ॥

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा:—

"योगेश्वर, मीमांसकों की यज्ञ की भावना क्या है, और उसमें तुमने क्या विकास किया और इस प्रकार कर्म करने

श्लोक १०-१२ का अर्थ क्या है, यह मैं स्पष्टतापूर्वक जानना चाहता हूँ।"

यह सुनकर जिस प्रकार कोई कुशल आचार्य विद्यार्थी के सामने शास्त्र का विवेचन करता हो, उस तरह गुरुवर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यज्ञ के मूल में रहनेवाली श्रद्धा तथा उसका तत्त्व समझाना आरम्भ किया। वह बोले:—

"अर्जुन, यज्ञ-धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मीमांसक लोग कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में जब प्रजापति ब्रह्मा ने सब देवताओं, मनुष्यों तथा भूतों का निर्माण किया, तब इनके साथ ही साथ मनुष्यों के लिए उन्होंने यज्ञ-धर्म निर्माण किये। मनुष्यों को यज्ञ-धर्म समझाते हुए उन्होंने कहा—'हे मानवो, इन यज्ञ-धर्मों द्वारा मैं तुम्हारा सम्बन्ध एक ओर देवताओं के साथ और दूसरी ओर भूतों (स्थावर जंगम सृष्टि) के साथ जोड़ता हूँ। तुम यह समझो कि इस सकल सृष्टि के रसकस, धन-सम्पत्ति, सब दैवीशक्ति के अधीन है और उसकी कृपा से तुम्हें इनका उपभोग प्राप्त होता है और तुम्हारे धन-धान्य एवं प्रजा की वृद्धि होती है। इसलिए, इन देवताओं के प्रति तुम्हारे मन में पूज्यता और कृतज्ञता का भाव होना चाहिए और उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनी चाहिए। ये देवता तुम्हारी भक्ति से संतुष्ट होकर तुम्हारा पोषण करेंगे और तुम इनके दिये हुए धन-धान्य से समृद्ध होकर इनकी आराधना करो और इन्हें धन्यवाद दो, इसी में तुम्हारी और सम्पूर्ण सृष्टि की उन्नति है।'

"प्रजापति ने फिर कहा—'हे मनुष्यो, इन सब देवताओं का स्वरूप तुम्हें दिखाई नहीं देता। किन्तु मैं तुम्हें एक ऐसे देव से परिचित कराता हूँ, जिसे तुम प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हो और जो तुम्हारे और दूसरे देवताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। वह देव

है अग्नि। इस अग्नि द्वारा दृश्य भूत अदृश्य में जा सकते हैं और अदृश्य भूतों का दृश्य में रूपान्तर होजाता है। इसलिए इस अग्नि को तुम देवताओं का साक्षात मुख समझो।'

'इसलिये मनुष्यो, तुम अग्नि द्वारा देवताओं के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करो। तुम जो कुछ धन-धान्य अथवा सम्पत्ति उत्पन्न करो, प्राप्त करो, भोग करो, उसे पहले कृतज्ञता एवं भक्ति के साथ देवताओं के अर्पण करके फिर अपने उपयोग में लाओ। इसलिए इसका कुछ भाग तुम अग्नि में होम करो और स्तुति द्वारा देवताओं की कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करो तथा उनकी कृपा-दृष्टि के लिये प्रार्थना करो। ऐसे हवन द्वारा देवताओं का यजन किये बिना तुम किसी प्रकार का उपभोग न करना। संसार की समस्त दैवी शक्तियाँ सतत कार्य करती रहती हैं, उनके कारण इस सृष्टि की उत्पत्ति तथा पालन-पोषण इत्यादि होते हैं इस प्रकार इन देवताओं की निरन्तर क्रियाओं के कारण तुम्हारा जीवन टिका हुआ है। तुम्हारी यज्ञ की भक्ति से सन्तुष्ट हुए ये देवता तुम्हें सदैव-इष्टभोग देते रहेंगे, किन्तु इनके प्रति कृतज्ञता तथा भक्ति प्रदर्शित किये बिना इनका लाभ उठाने वाला व्यक्ति चोर है, यह तुम्हें समझ रखना चाहिए।'

"अर्जुन, इस प्रकार मीमांसकों की यज्ञ विषयक आख्यायिका है। अब इसमें से मैंने क्या तत्त्वार्थ निकाला है, वह मैं तुझे समझाता हूँ।"

"कौन्तेय, चिऊंटी, कीड़े, पतंग से लेकर मनुष्य-सृष्टि तक प्रत्येक प्राणी का, अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ-न कुछ प्रवृत्ति किये बिना काम चलता ही नहीं। समझदार और बेसमझ दोनों तरह के मनुष्यों को अपने शरीर-निर्वाह के लिए कर्म करना ही पड़ता है। किन्तु यदि समझदार मनुष्य भी केवल अपने निर्वाह के लिये कर्म करके बैठ रहे तो समझदार और बेसमझ में भेद ही क्या रहा?

"अर्जुन, गाय भी अपने बछड़े के लिए दूध की धार छोड़ती है। पक्षी अपने बच्चों के लिए कितनी हाड़मारी सहते और परिश्रम करते हैं। बालक और पति के लिए स्त्री अपने अनेक सुखों का त्याग करती और कष्ट उठाती है। इस प्रकार यदि प्राणिमात्र दूसरों के लिए कष्ट न उठाते रहते होते, तो इस संसार का अन्त कभीका आगया होता।

"किन्तु, इस प्रकार अपने बालक, पति, निकट के सम्बन्धी अथवा जाति के लिए प्राणी अपने सुख का त्याग कर जो कष्ट सहन करते हैं उसका कारण विश्वात्मा ने प्राणिमात्र के हृदय में जो मोह अथवा पक्षपातयुक्त प्रेम-भाव रक्खा है, वह है। इस प्रेम को काम का ही सूक्ष्म रूप और आसक्ति का दूसरा नाम कहा जा सकता है। इसके वश होकर अनसमझ प्राणी भी उक्त प्रकार का त्याग अवश्य करते हैं। त्याग करनेवाले माता, पिता तथा सम्बन्धी इस त्याग द्वारा अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित नहीं करते; वरन् पोषण पाने वाले जीव पर उपकार करते हैं। इस प्रकार के परोपकार में वात्सल्य वृत्ति या दानवृत्ति होती है।

"महाभाग, इस प्रकार का कष्ट-सहन सत्कर्म होने के कारण अवश्य करने योग्य है। ऐसे सत्कर्मों के कारण संसार का तन्त्र नियमित रूप से चलता रहता है। किन्तु गुडाकेश, यज्ञ का रहस्य इससे अधिक आगे है। चित्त की शुद्धि कराने वाला यज्ञ रूपी सत्कर्म इतने पर ही समाप्त नहीं होजाता। इसलिए यज्ञ की क्या विशेषता है, वह सुन।

"धनञ्जय, सूर्य तपता है, किन्तु वह ऐसे भिन्न उद्देश्य नहीं रखता कि अमुक प्राणी को तो प्रकाश देना चाहिए और अमुक को नहीं। मेघ वर्षा करते हैं, अग्नि जलाती है, वायु बहता है, पृथ्वी धारण करती है, नदी प्यास बुझाती है, किन्तु ये सब किसी विशेष व्यक्ति

को लक्ष्य कर अपनी क्रियाएं नहीं करते। इससे मैंने यह तत्त्व निकाला है कि देवताओं के तुल्य प्राणियों में बिना किसी भेद-बुद्धि और पक्ष-पात के, सहज-स्वभाव से संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के लिए होते हैं। इसलिए इनसे पापी अथवा पुण्यात्मा, विकसित अथवा दुर्बल, वनस्पति, जन्तु अथवा मनुष्य सब को एकसमान लाभ अथवा हानि होती है। फिर देवताओं के कम उत्पत्ति अथवा पालन को श्रेष्ठ और संहार को निकृष्ट मानने का भेदभाव नहीं रखते। इनके आचरणों से कहीं और कभी उत्पत्ति होती है, कहीं और कभी पोषण होता है और कहीं और कभी संहार होता है। इस प्रकार ये कर्म-योग बुद्धि से होते हैं।

"अर्जुन, देवताओं के कर्मों से मैंने मनुष्यों के लिए इस प्रकार का बोध ग्रहण किया है और यह सार निकलता है कि इस प्रकार के कर्म चित्त-शुद्धिकारक यज्ञ कर्म हैं।

"याज्ञिक के हृदय में देवताओं के प्रति जो कृतज्ञता की बुद्धि और भक्ति रहती है, उससे यह समझना चाहिए कि अन्य सत्कर्मों की अपेक्षा यज्ञ कर्म में विशेषता है। फिर, जिस प्रकार देवताओं के कर्म मेघ-वर्षा की तरह पक्षपात-रहित एवं बिना किसी विशेष प्राणी को लक्ष्य में रखकर होते हैं, उसी तरह जो सत्कर्म किसी विशिष्ट व्यक्ति को लक्ष्य में रक्खे बिना समान-दृष्टि और योगबुद्धि से किये जाते हैं वे यज्ञ-कर्म हैं। यह किस प्रकार, यह मैं उदाहरण देकर समझाऊँगा।

"अर्जुन, गोप सैकड़ों गायें रखते हैं और उनका प्रेम से पालन करते हैं; किन्तु वे यह अपने ही लिए धंधे के रूप में करते हैं, इस-लिए इसे कोई यज्ञ नहीं कहता। साथ ही गृहस्थ अपने लोई

सगे-सम्बन्धी तथा मित्रों को निमन्त्रित कर हर तरह से उनकी आव-भगत करते हैं; किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अतिथि-यज्ञ किया है।

"परन्तु, यदि कोई पुरुष गायों के प्रति अपनी भक्ति के कारण उनके निर्वाहार्थ अपनी गोचर-भूमि को इस प्रकार अर्पण करे कि जो गाय चाहे उसका लाभ उठा ले, अथवा कोई गृहस्थ मानव-समुदाय के प्रति अपनी भक्ति से प्रेरित होकर प्रवासी, दीन, भूखे मनुष्य को ढूँढकर उसे सम्मानपूर्वक भोजन करावे, तो यह कहा जायगा कि उन्होंने गाय तथा मनुष्य के प्रति यज्ञ किया है।

"परन्तप, श्रद्धालु मीमांसक अपने धन-धान्य तथा सम्पत्ति का कुछ भाग भक्तिपूर्वक अग्नि-द्वारा देवताओं के अर्पण करते हैं और शेष सम्पत्ति को देवताओं का प्रसाद अथवा अनुग्रह समझकर स्वयं उपयोग करते हैं। इस प्रकार स्वयं जिसका उपयोग करते हैं वह अपना नहीं वरन् देवताओं का प्रसाद अथवा अनुग्रह है, यह भावना उनके चित्त की शुद्धि करती है और यदि वह विचारयुक्त हो तो उसके उपयोग में उन्हें संयमी रखती है।

"अर्जुन, मीमांसक इसे यज्ञावशिष्ट भोजन कहते हैं, और जो इस प्रकार उपयोग करते हैं उन्हें उपयोग से अथवा पदार्थों की उत्पत्ति के लिए किये गये कर्मों से पाप नहीं लगता यह प्रतिपादन करते हैं। और ऐसा मानते हैं कि जो इस प्रकार देवताओं के अनुग्रह-रूप न मानते हों तथा देवताओं को अर्पित किये बिना केवल अपने लिए ही सम्पत्ति पैदा करते और उसका उपयोग करते हैं वे पाप करते हैं।

"गुडाकेश, यज्ञ के मूल में रही बुद्धि के सद्अंश मैंने तुझे इस तरह समझाये। इन सद्अंशों को स्वीकार कर मैंने इन्हें इस

प्रकार कर्मयोग में बताया है—

"अग्निमुख में आहुतियाँ अर्पण करने को मैं यज्ञ का आत्मा—उसका खास लक्षण—नहीं समझता। किन्तु परिश्रमपूर्वक उत्पन्न किये हुए धन-धान्यादिक को तथा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को, किसी विशिष्ट प्राणी को उद्दिष्ट करके ही नहीं वरन् संसार में जो कोई उसके क्षेत्र में आजाय उन सबके हितार्थ भक्ति-पूर्वक अर्पण करने को मैंने जीवन का कर्मयोग-रूपी श्रेष्ठ यज्ञ माना है। इस प्रकार करते-करते जो कुछ अपने निर्वाह के लिए मिल सके उसे ईश्वर का अनुग्रह समझकर उपयोग करने को मैं यज्ञ की प्रसादी का उपयोग कहता हूँ। इस भावना में उस मनुष्य की चित्त शुद्धि का कारण रहता है इससे मैंने उसे यज्ञ का आत्मा माना है।

"यह ठीक है कि जरासन्ध जैसे क्षत्रिय अनेकों का संहार कर दिग्विजय करने से एक प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। परन्तु अनेकों का पालन करने निर्बल की तथा शरणागत की रक्षा करने, प्रजा को सन्तुष्ट करने तथा उसके लिए अपना सर्वस्व तक त्याग करने का कठिन व्रत लेने और उसे प्राणों से भी प्रिय समझने वाले रामचन्द्र जैसे राजर्षि जो यश प्राप्त करते हैं वैसा सुनने तथा कहने-वाले दोनों का आनन्द बढ़ानेवाला यश जरासन्ध जैसों को नहीं मिलता। क्योंकि इस सृष्टि का धारण और पोषण एक-दूसरे के लिए अपनेको मिटाने से होता है ऐसा सर्वत्र व्यापक नियम देखने में आता है। इस नियम का कुछ ज्ञान मीमांसकों को यज्ञकथा में मिलता है और उस सत्य नियम को मैंने यज्ञ का आत्मा माना है।" ॥ १०—१३॥

"अर्जुन, फिर, मैं तुझे यज्ञ का रहस्य समझाता हूं वह सुन।

श्लोक १४–१६

"प्रियवर, अन्न में से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, यह स्थूल अनुभव सब किसीको है। किन्तु यह वर्षा किससे होती है, भला? इस सम्बन्ध में मैंने तो जो कुछ विचार किया है वह तू सुन।

"मीमांसकों का इस विषय में यह कथन है कि वेदों में वर्षा के लिए जिस प्रकार का यज्ञ वर्णित है उस प्रकार के विधि-युक्त यज्ञ-हवन के कारण वृष्टि होती है। यह यज्ञ-कर्म से होता है, यह कर्म शब्द-ब्रह्म-रूपी वेद का अनुसरण करने से होता है; यह वेद अकार आदि अक्षरों वाले मन्त्रों से निर्मित हुए हैं; ये मन्त्र सर्वव्यापी अक्षर के आधार पर स्थित तथा यज्ञ के प्राण-रूप होने के कारण यह यज्ञ अक्षर ब्रह्म के ही आधार पर स्थित है।

"अब मीमांसकों की यज्ञ-सम्बन्धी इस स्थूल कल्पना को बदलकर यज्ञ की भावना का मैंने जो विकास किया है, उसके अनुसार तत्सम्बन्धी मेरा विवेचन तू सुन।

"मैं तुझसे यह कह चुका हूँ कि किसी प्राणी विशेष के हेतु से नहीं वरन् सहज-स्वभाव से, सबके कल्याण के लिए किये गये सत्कर्म को मैं यज्ञ का तत्त्व कहता हूँ। इस प्रकार यज्ञ से वर्षा होती है, इसका अर्थ इस प्रकार घटित करता हूँ कि देवताओं की प्राणी विशेष को उद्दिष्ट रक्खे विना सहजरूप से प्रवर्तित होनेवाली शक्ति से वह होती है। ऐसा यज्ञकर्म से होता है, कर्म के अभाव से नहीं।

"अर्जुन, भला यह कौन नहीं जानता कि मनुष्य के कर्म उसके चित्त में से ही उत्पन्न होते हैं? सांख्यशास्त्री इस चित्त को 'महान्' यह दूसरा नाम देते हैं। और ब्रह्म शब्द का भी यही अर्थ होने के

'सांख्य-द्रष्टाओं ने यह निर्णय किया है, कि अक्षर और अव्यक्त प्रकृति से उद्भूत महद्ब्रह्म अथवा चित्त ही संसार की सब प्रवृत्तियों का कारण है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में यह महद् ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्त-रूप में जाना जाता है, उसी तरह यह तत्त्व इस समस्त सृष्टि में भी व्याप्त है। क्योंकि, जहाँ कहीं प्रकृति का कार्य होता है, वहाँ महद् ब्रह्म है ही। इसलिए, यह समझ कि यह वर्षा-रूप यज्ञ-कर्म विश्व में व्याप्त महत् तत्त्व में से ही होता है। ये महत् तत्त्व प्रकृति में से पैदा होते हैं, और सर्वव्यापी परब्रह्म के आधार पर वर्तमान हैं। इस प्रकार जो सर्वव्यापक परब्रह्म है, वह निरन्तर यज्ञ में व्याप्त है।"

"इस तरह विशेष प्रकार के उद्देश्य के बिना होते रहनेवाले यज्ञ-कर्मों से यह संसार-चक्र चल रहा है। जड़ चिदात्मक सृष्टि में जिस तरह देवताओं द्वारा यह चक्र बड़े पैमाने पर चल रहा है, उसी तरह प्रत्येक भूतप्राणी को अपने-अपने छोटे क्षेत्र में थोड़ा-बहुत मात्रा में उसे चलाये रखना चाहिए। वैसे तो भूतप्राणी प्रकृति के नियम के वशवर्ती होकर अनजान में भी इस चक्र को चलाये ही रखते हैं, किन्तु विशेष बुद्धिमान होने के कारण कर्म के सम्बन्ध में अधिक स्वतन्त्रता रखनेवाले मनुष्य कई बार इसमें से छिटक जाने का प्रयत्न करते हैं, और इस प्रकार दूसरे के लिए अपनेको मिटाये बिना केवल अपने ही सुखोपभोग में लीन रहते हैं। ऐसा कृतघ्न मनुष्य सदैव तो छिटका रह ही नहीं सकता, किन्तु उसका परिणाम यह ज़रूर होता है कि वह केवल अपना जीवन श्रेय से रहित, व्यर्थ और केवल पाप को खाते हुए बिताता है।" ॥ १४–१६ ॥

"अर्जुन, अब कर्मयोग के सम्बन्ध में मैं तुझे एक दूसरी बात

श्लोक १७–१६ कहता हूँ, वह सुन।

"जिस प्रकार ध्येय का अर्थ ध्यान से प्राप्त करने की इच्छित वस्तु है

और ज्ञेय अर्थात् ज्ञान से प्राप्त करने की वस्तु, उसी तरह कार्य का अर्थ कर्म से प्राप्त करने की इच्छित वस्तु होता है।

"कौन्तेय, जबतक मनुष्य अपने चित्त को अत्यन्त शुद्ध कर मैंने तुझसे स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण कहे वैसा, आत्मनिष्ठ नहीं होजाता तबतक उसे जीवन की कृतार्थता नहीं मालूम होती। तबतक उसे कुछ कार्य, अर्थात् अपने विशेष उत्कर्ष के लिए कुछ करना, शेष रह जाता है। किन्तु, स्थित-प्रज्ञ के लिए ऐसा कोई कार्य बाकी नहीं रहता, अर्थात् कर्मद्वारा प्राप्त करना शेष नहीं रहता। उसके कर्म करने अथवा न करने से उसकी चित्त-शुद्धि अथवा उन्नति में किसी प्रकार की घट-बढ़ नहीं होती। उसी तरह इसे भूतमात्र में ज़रा भी स्वार्थ अथवा मोह नहीं होता। ॥१७-१८॥

"इतने पर भी ऐसा आत्मनिष्ठ महात्मा भी निष्कर्म या कर्म-रहित नहीं रह सकता। जिस प्रकार ऋतु का चक्र नियमानुसार सहज रूप से चलता रहता है, उसी तरह वह भी यज्ञ-भाव से सब उचित कर्म करता रहता है।

"ऐसी स्थिति में जिसकी चित्त-शुद्धि में अभी खामी है वह यह खयाल नहीं कर सकता कि उसके लिए कोई काम शेष नहीं रहा। ऐसा मनुष्य का कर्म-फल-विहीन बनना तो बड़ी भारी भूल ही कही जायगी। उसे तो फल-सम्बन्धी आसक्ति से रहित होकर सब प्रकार के कर्म—अर्थात् उचित, आवश्यक तथा अच्छे कर्म—करना ही उचित है। फल-सम्बन्धी आसक्ति छोड़कर कर्म करने के कारण ही मनुष्य श्रेय प्राप्त करता है, कर्म को ही छोड़ देने से नहीं। ॥१९॥

"धनंजय, मैं यह तुझे कोई नई बात नहीं कहता। इतिहास में जनक जैसे तत्त्वज्ञानी राजाओं के इस प्रकार कर्मों द्वारा ही परमसिद्धि प्राप्त करने के अनेक उदाहरण मिले हैं। अब मैं तुझे एक दूसरी ही बात कहता हूँ।

श्लोक २०से २४

"मैंने तुझे जो यज्ञ का यह रहस्य और उस प्रकार कर्म करने का प्रयोजन समझाया सामान्य-भाषा में उसे लोकसंग्रह अर्थात् जनता के कल्याण का धर्म भी कहते हैं। वस्तुतः यज्ञ की मेरी जो भावना है उसके और लोकसंग्रह के कर्म एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। किन्तु यज्ञ की भावना से कर्म करनेवाले मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह अपने स्वार्थ के लिए, अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए और अपनी कृतज्ञता तथा भक्ति की भावना से प्रेरित होकर सत्कर्म करता है। किन्तु लोकसंग्रह की भावना में महात्मा पुरुष अपनी किसी प्रकार की आत्मिक उन्नति करना शेष न रहने पर भी, केवल परोपकारार्थ, विश्व के प्रति अत्यन्त सद्भाव से अथवा राग-द्वेष-रहित प्रेम-भाव से प्रेरित होकर सत्कर्म करते मालूम होते हैं।

"जो महात्मा अत्यन्त आत्मनिष्ठ होता है, उसकी विवेकबुद्धि भी अत्यन्त उत्कर्ष को पहुँची हुई और निर्मल होती है। अधिक क्या कहना, सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र आत्मज्ञान को ही विवेकख्याति का दूसरा नाम देते हैं। आत्मज्ञान के कारण वह इस बात का बहुत अच्छी तरह विचार कर सकता है, कि संसार का हित किसमें है, अहित किसमें, है एव जनता के लिए क्या तो आवश्यक है और क्या अनावश्यक। इसलिए ऐसा पुरुष अत्यन्त विचार-पूर्वक, सावधानी के साथ, जिसमें जनता का कल्याण हो उसी तरह कर्मों का आचरण करता है। ॥ २० ॥

"अर्जुन, लोकनायक श्रेष्ठ पुरुषों पर बड़ा भारी कर्त्तव्य-भार रहता है। सामान्य लोग उनके आचरण का ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हैं और उनका अनुकरण करते हैं। वह जिस प्रकार के आचरण को अच्छा कहते और जैसा जीवन व्यतीत करते हैं, लोग आदर्श के रूप में उसको

स्वीकार करते हैं और तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते हैं। इसमें भी, महापुरुषों के सात्विक स्वभाव और आचरण का अनुकरण करना कठिन होता है। किन्तु उनमें जो कुछ तामस अथवा राजस भाव और आदतें रह गई हों तो उनका अनुकरण विशेष रूप से होता है। क्योंकि उनके अनुकरण में कष्ट कम होता है, और उससे तात्कालिक उल्लास अधिक प्राप्त होता है।

"इसका एक उदाहरण मैं अपने ही जीवन में से देता हूँ। मेरे देखने में आया है, कि यादवों को जब कभी उत्सव मनाना अथवा शौकीन बनना होता है, तब वे तुरन्त मेरी युवावस्था की रसिकताओं को उदाहरण स्वरूप मान कर रास रचाने, बाजे बजाने और सुन्दर वस्त्रों से बन-ठनकर फिरने आदि कर्मों में बड़े आनन्द से प्रवृत्त होजाते हैं। राज्य के भाट और याचक ब्राह्मण मेरे मोर-मुकुट-पीताम्बर का, बाँसुरी की कला का तथा रास खेलने आदि का जितना वर्णन करते हैं, उतना कोई मेरे वीर कर्मों का नहीं करते। अरे, कभी २ तो अपनी प्रशंसा के गीत सुनकर मुझे यह शङ्का होने लगती है कि क्या मेरे रास के खेल और बाँसुरी के गायन ही मेरे जीवन के कार्य समझे जायँगे ? क्या मैंने अपने जीवन में वीर, ज्ञानी, सत्पुरुष तथा क्षत्रिय के करने योग्य अधिक उदात्त और सात्विक कर्म किये ही नहीं ?

"इसपर से, प्रियवर, तू समझ सकेगा कि ज्ञानी और लोकनायक श्रेष्ठ पुरुष को कर्म करना अथवा न करना, कौनसा कर्म करना और किस तरह करना आदि विषयों में कितनी सावधानी रखने की आवश्यकता रहती है। ॥२१॥

"प्राणप्रिय ! तू तथा उद्धव इत्यादि जो मेरे अत्यन्त निकट सहवास में आये हुए हो। और मेरा हृदय पहचानते हो, यह तो जानते ही हो, कि तीनों लोकों में मुझे अपने उत्कर्ष के लिए कुछ करना अथवा ज्ञान

एवं गुण प्राप्त करना शेष नहीं रह गया है। आत्मा-अनात्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में मुझे जो निःसंशय प्रतीति है और उसमें मैं सदैव जिस तरह दृढ़ रहता हूँ, उससे मेरे लिए कुछ अज्ञेय रह नहीं गया है। जिस तरह स्वर्ण जान लेने से उसके सब प्रकार के गहनों की जाति मालूम हो जाना कहा जा सकता है, अथवा जिस तरह लोहा पहचान लेने से उसके सब तरह के औज़ारों की धातु पहचान ली गई कही जा सकती है, उसी तरह मुझे इस संसार के मूल तत्त्व की अन्तःप्रतीति होगई है, यह कहने में मैं मिथ्या संकोच छोड़कर केवल सत्य स्थिति का ही वर्णन करता हूँ।

"ऐसा होने पर भी, मित्र, मैं सदैव कर्म करता ही रहता हूँ। किसी भी उचित कर्म को टालने का प्रयत्न नहीं करता। कोई निजी स्वार्थ अथवा किसीके प्रति राग-द्वेषात्मक बुद्धि न होने पर भी जीवन के कठोर तथा सौम्य कर्म जिस-जिस क्षण करने उचित होते हैं, उन्हें आलस्य छोड़कर परिश्रमपूर्वक कुशलता से करता रहता हूँ।

"इसका कारण यही है कि मैं जानता हूँ, यदि मैं आलस्य छोड़-कर कर्माचरण करूँ तो मुझपर लोगों की जो श्रद्धा है उसके कारण वे उसी तरह का आचरण करेंगे। इसका परिणाम यही होगा कि मैं लोगों के सामने विघातक कर्म-हीनता का एक उदाहरण उपस्थित कर जनता में अनवस्था और विनाश के बीज बोऊँगा।

"इसलिए, धर्मबन्धु, यद्यपि मैं वृद्धावस्था में पहुँच चुका हूँ, कृतार्थ निस्पृही तथा आसक्ति-रहित होगया हूँ, फिर भी अविश्रान्त श्रम किया ही करता हूँ। ॥२२-२४॥

"प्रिय मित्र, जिस धर्म का मैं अपने जीवन में आचरण करता हूँ, उसी धर्म का मैं तुझे उपदेश देता हूँ। अपने लिए धर्म निश्चित करने की एक कसौटी और तेरे लिए कुछ दूसरी मेरे मन में हो, यह बात नहीं है।

श्लोक २५-२६

"अर्जुन, ज्ञानी और विवेकवान सज्जन कभी कर्म-रहित रह ही नहीं सकते। उन्हें अपनी विवेक-बुद्धि से यह खोज करते रहना चाहिए कि लोककल्याण किस बात में है। सामान्य लोग संसार में आसक्ति होने के कारण अनेक प्रकार के धर्मों का आचरण करते हैं। उनमें अनेक धर्म त्याज्य होते हैं, किन्तु दूसरे आवश्यक होते हैं। विद्वान् पुरुष के लिए उचित है कि वह ऐसे आवश्यक धर्मों का आसक्ति-रहित आचरण करते हुए जनता का मार्ग-दर्शक बने।

"अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए मनुष्यों को जो कर्म किये बिना काम चलता ही नहीं, विद्वान लोग उनका उचित रूप से आचरण करके बतलाने तथा उनकी उचित शिक्षा देकर इस ओर मनुष्यों को प्रवृत्त करने के बदले, यदि वे इन कर्मों के सम्बन्ध में व्यर्थ के वाद-विवाद एवं शङ्का-कुशङ्का उत्पन्न करने में ही अपनी विद्वत्ता का उपयोग करें, तो उससे लोगों की कर्म-सम्बन्धी आसक्ति तो दूर होगी नहीं, उलटे उनमें एक व्यर्थ की चर्चा चलकर शङ्काशीलता पैदा होजायगी। इससे न तो उस कर्म में रहे दोष ही सुधर सकते हैं, न समाधान ही प्राप्त होता है।

"इसलिए, विद्वान पुरुष को उचित है, कि वह शुष्क चर्चा छोड़-कर आसक्ति-रहित कर्म करके बतावे और उसका योगयुक्त अर्थात् उसके लिए आवश्यक कुशलता तथा योग्यविधि एवं समतायुक्त मार्ग की खोज निकाले।

"जिन कर्मों के किये बिना जनता का निर्वाह और अभ्युदय होना सम्भव ही नहीं है, उनके दोषों का खयाल कर उन कर्मों को ही छोड़ देना विद्वान पुरुष को शोभा नहीं देता, वरन् उसका कर्तव्य है कि वह उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न करे। यदि वह उन दोषों को दूर करने का मार्ग न खोज सके, तो भला उस कर्म की निन्दा करने से ही क्या लाभ हो सकता है? इससे जनता या तो उसकी निन्दा से डरकर उन

कर्मों का त्याग कर निर्बल एवं पंगु बन जायगी और अधोगति को प्राप्त होगी, अथवा उसके उपदेश के सजीव भाग को छोड़कर निर्जीव भाग का आचरण करने लगेगी।

"विवेकशील मित्र, अपने सामने आ खड़े हुए युद्ध के इस कठिन प्रसंग का ही तू विचार कर। यदि तू कौशलपूर्वक युद्ध कर इस प्रसंग का शीघ्र ही अन्त न करेगा, तो उसका क्या परिणाम होगा, इसका विचार कर।

"अर्जुन तू जानता है कि कौरवों के सामने पाण्डव ऐसी स्थिति में आ पड़े हैं कि युद्ध से ही झगड़ों का फ़ैसला करने की बुद्धि वाले और उसके लिए जन्म से ही अनेक प्रकार की शिक्षा पाये हुए तेरे भाइयों और मित्र-राज्यों के लिए युद्ध किये बिना अपनी सत्वरक्षा करना सम्भव ही नहीं है। ऐसा होने के कारण यदि तू युद्ध से अलग हो बैठेगा, तो इससे युद्ध तो टल सकेगा नहीं, केवल तेरी विडम्बना होगी। सैनिकों में शङ्का-कुशङ्का फैलेगी, भगदड़ मचेगी। अव्यवस्था होगी और मदोन्मत्त कौरवों के हाथों तेरी सेना का बुरी तरह संहार होगा।

"इस युद्ध को टालने के लिए जितने उपाय किये जा सकते थे, उनके करने में धर्मराज ने तथा मैंने कुछ शेष नहीं छोड़ा है। मैंने दुर्योधन को हर तरह समझाकर इस युद्ध को रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु विनाश-काल निकट आने के कारण वे सब प्रयत्न निष्फल हुए। ऐसी दशा में अब वर्तमान स्थिति में योग-बुद्धि से युद्ध करने के सिवा दूसरा कोई मार्ग मेरे देखने में नहीं आता।

"अर्जुन, यह निश्चय मानना कि तू ही नहीं शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा करनेवाला मैं भी यदि इस समय तेरा सारथीपन छोड़कर तटस्थ बन जाऊँ तो उससे भी वैसा ही अनर्थ होगा।

इसलिए योग के आश्रयपूर्वक युद्ध करने के सिवा अधिक कल्याण-कारी कोई अन्य मार्ग ग्रहण करना हमारे लिए सम्भव ही नहीं है। ।२५—२६॥

"कौन्तेय, मैं तुझे अब यह समझाना चाहता हूं कि कर्म के और बुद्धि-भेद न करने के सम्बन्ध में मैंने जिस प्रकार आचरण करने को कहा है। सांख्यदर्शन की दृष्टि से भी उसके सम्बन्ध में वैसे ही व्यवहार के नियम निकलते हैं।

श्लोक २७-२६

"सांख्यवादियों का कथन है कि प्राणी जो कर्म करते हुए दिखाई देते हैं वह वास्तव में उस प्राणी में रहनेवाला जो चैतन्य स्वरूप शुद्ध, निर्विकार तथा निष्क्रिय आत्मा है, वह नहीं करता वरन् उस आत्मा के साथ जुड़ी हुई त्रिगुणात्मक प्रकृति ही करती है। जिस प्रकार सूर्य संसार के प्राणियों से कर्म में जुटने के लिए नहीं कहता किन्तु केवल उसके उदय होने से ही उसके पास से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर समस्त सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होती है, उसी तरह चैतन्य रूप आत्मा के समीप रहनेवाली प्रकृति आत्मा से प्रेरित होकर अपने-आप ही कर्म में प्रवृत्त होजाती है। वे कहते हैं कि आत्मा को तो कभी बन्धन, मोक्ष अथवा संस्कृति होती ही नहीं प्रकृति ही बन्धन में आती है, मुक्त होती है और संस्कृति को प्राप्त होती है।

"फिर वे कहते हैं कि प्राणिमात्र में दिखाई देनेवाला अहङ्कार आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा तो अहङ्कार-रहित केवल चैतन्य-रूप है। जो अहङ्कार का भाव है, वह तो प्रकृति से बना चित्त का धर्म है। यह चित्त ही धर्म और पाप, वैराग्य और आसक्ति, ऐश्वर्य और दैत्य, ज्ञान और मूढ़ता इत्यादि से युक्त है। यह चित्त ही अधर्म से धर्म के प्रति, आसक्ति से वैराग्य के प्रति, दीनता से ऐश्वर्य के प्रति और

मूढ़ता से ज्ञान के प्रति प्रगति करता है। चित्त इस प्रकार बरतता है, मानो आत्मा जैसा शुद्ध और निर्विकार है वैसी ही शुद्धि प्राप्त करना उसकी महत्त्वाकांक्षा हो।

"अर्जुन, आत्मा के समान चित्त की शुद्धि होने का नाम ही ज्ञान अथवा मोक्ष समझ। जबतक ऐसी शुद्धि हो नहीं जाती, तबतक कर्मों का अन्त नहीं होता, बुद्धि को ऐसा भासित हुए बिना नहीं रहता कि कुछ करना शेष रह गया है। इसने जबतक चित्त की आवश्यक शुद्धि नहीं हो जाती, तबतक जो-जो त्रिगुणात्मक कर्म होते हैं, उनके लिए प्राणियों की बुद्धि में "मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ" इत्यादि अहङ्कार का भाव रहा करता है।"

"अर्जुन, सच पूछा जाय तो कर्तापन का यह अभिमान भी प्रकृति से उद्भूत चित्त को ही होता है, आत्मा को नहीं। किन्तु जिस प्रकार निर्मल काच के नीचे काला बाल रक्खो, तो ऐसा मालूम होता है मानों उस काच में ही तड़क आगई है, उसी तरह अशुद्ध चित्त के साथ जुड़ा हुआ आत्मा ही अशुद्ध है, ऐसा भासित होता रहता है। प्राणी यह समझते हैं कि बुद्धिगत सारा अशुद्ध अहङ्कार मानों आत्मा में ही चिपटा हुआ है।

"किन्तु, जिसकी बुद्धि अज्ञान से ज्ञान की ओर चली गई है, वह प्रकृति और आत्मा का भेद अच्छी तरह समझता है। वह जानता है कि गुण और कर्म आत्मा के नहीं प्रकृति के धर्म हैं। वह जानता है कि त्रिगुणात्मक—तीन गुण वाली-प्रकृति अपने स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों का विकास और सङ्कोच दिखाती हुई कर्मों में प्रवृत्त होती है। प्रवृत्तिमान रहना प्रकृति का धर्म ही है। और जबतक चित्त का कोई भी काम शेष है, तबतक की गुणस्वभाव के अनुकूल प्रकृति कर्म-प्रवृत्ति रुकती ही नहीं। इसले ऐसा विवेकशील

पुरुष अपने गुणों का आविर्भाव करनेवाली प्रकृति के कर्मों का कर्त्तापन अपने पर नहीं लेता और उन कर्मों में आसक्त नहीं होता।

"आत्मा और प्रकृति यह भेद जिसने समझ लिया है, उसे कर्म करना या न करना यह प्रश्न ही अप्रासंगिक प्रतीत होता है। वह किसी भी प्रकार के कर्मों का अपनेपर आरोपण नहीं करता और उनके परिणामों से सुख-दुःख नहीं मानता। वह जानता है कि जिस प्रकार उजाला करना प्रकाश का, बहना पानी का और हवा का स्वभाव ही है, उसी तरह अपने-अपने गुणों के अनुसार क्रियावान रहना प्राणियों का स्वभाव है। वह प्राणियों को उनके अपने गुण-स्वभाव के अनुसार ग्रहण किये हुए प्रवृत्ति-मार्ग से रोकने की आवश्यकता नहीं समझता।

"जिनकी बुद्धि ज्ञान से शुद्ध नहीं है, उन्हें अपने गुणों और कर्मों के प्रति आसक्ति हो, तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। यदि ऐसी आसक्ति न हो, तो चित्त की शुद्धि के लिए, जिस प्रेरक बल की आवश्यकता होती है वह उनमें उत्पन्न ही न हो।" इसलिए, तत्वज्ञानी पुरुष ऐसे अल्पबुद्धि मनुष्यों को गलत तरीके से उनकी प्रवृत्तियों से विचलित नहीं करता। प्राणिमात्र का चित्त क्रमशः विकासयुक्त हो, अशुद्धि से शुद्धि की ओर जाय, इसके लिए वह उन्हें कुशलता और समता से कर्म करने का योग अवश्य सिखाता है, किन्तु जिन धर्मों के आचरण के लिये वे गुण-स्वभाव से ही योग्य नहीं है उन धर्मों का उपदेश देकर उन्हें उस भ्रम में नहीं डालता। ॥२९॥

"अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुझे कर्मयोग विषयक यज्ञ की दृष्टि, विवेकशील आत्मनिष्ठ की लोकसंग्रह-दृष्टि तथा

श्लोक ३० से ३२ सांख्यवेत्ताओं की तत्त्वदृष्टि ये तीनों समझा दीं। इनमें से मनुष्य किसी भी दृष्टि को अंगीकार करे

तोभी वह कैसे कर्म करना, किस तरह करना आदि विषयों पर एकसे ही निर्णय पर पहुँचेगा।

'अब मैं तुझे एक चौथी दृष्टि भी समझाता हूँ। तू देखेगा कि इस दृष्टि से भी कर्मयोग के ही निर्णय पर हम पहुँचते हैं।

"सांख्यवेत्ता आत्मा और प्रकृति में जो भेद करते हैं, वह अनेक श्रेयार्थियों को अभिमत नहीं है। सांख्यवादी आत्मा को चैतन्यरूप परन्तु सर्वथा निष्क्रिय और अपने अस्तित्व तक को भी स्पष्ट भान से रहित बताते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि सारा ज्ञान, अहङ्कार तथा भावनायें चित्त के आश्रित रहनेवाले धर्म हैं। वे कहते हैं कि मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ, इत्यादि जो भाव हमारे हृदय में उत्पन्न होता है वह आत्मा को नहीं वरन् चित्त को ही होता है आत्मा पर उसका जो आरोपण किया जाता है, वह केवल भ्रान्ति ही है। फिर वे कहते हैं, कि ज्ञान सत्त्वगुण का परिणाम है, और अज्ञान तमोगुण का, आत्मा तो ज्ञान और अज्ञान दोनों भावों से परे, निर्गुण और साक्षीमात्र है।

"किन्तु, अनेक विद्वानों का मत है कि तत्त्व-दर्शन की यह दृष्टि दोषपूर्ण है। उन्हें 'मैं हूँ' यह स्पष्ट भान होते हुए भी, यह भान जिसे होता है वह आत्मा नहीं है, वरन् वह इससे अलग और भान-रहित है, यह मानना और ऐसे पंगु, 'गुण-विहीन और अनुपकारी'* प्रतीत होनेवाले चैतन्य को अपना स्वरूप समझना अनुभव तथा सुरुचि के विपरीत प्रतीत होता है।"

"इसलिए सांख्यवेत्ता जिसे महान्, चित्त अथवा बुद्धि के नाम

---

*ये विशेषण 'सांख्यकारिका' के रचयिता श्री ईश्वरकृष्ण के दिये हुए हैं।

से पहचान सकते हैं, भक्तजन उसे ही आत्मा अथवा जीवात्मा कहते हैं और उसे ही अपना स्वरूप मानते हैं।

"अर्जुन, पृथ्वी इत्यादि ग्रह सूर्य के आसपास भ्रमण करते हैं, किन्तु सूर्य पृथ्वी की प्रदक्षिणा नहीं करता' ऐसा खगोलशास्त्री कहते अवश्य हैं; फिर भी स्थूल-दृष्टि से सूर्य ही उदय और अस्त होता हुआ दिखाई देता है, और खगोलशास्त्री भी व्यवहार में 'सूर्य उगा, ऊँचे चढ़ा, नीचे ढला, अस्त हुआ, आदि भाषा का व्यवहार करते हैं। इसी तरह सांख्यवादी हो अथवा प्राकृत जन हो, सभी चित्त में ही अहंपन का भान समझकर ऐसा आचरण करते हैं मानो वही आत्मा हो। इसीलिए भाषा में मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि अन्तःकरणों के लिए प्रायः आत्मा शब्द व्यवहृत होता है।

"फिर, तू जानता है कि सांख्यवेत्ताओं का कथन है कि आत्मा का बन्धन अथवा मोक्ष नहीं होता, चित्त को ही होता है और चित्त ही अपनी शुद्धि के लिए क्रियावान् होता है। किन्तु भक्त लोग कहते हैं कि जड़ प्रकृति से निर्मित और वस्तुतः जड़ स्वभाव वाली बुद्धि को भला ऐसी शुद्धि की अभिलाषा क्यों और किसलिए हो और वह पुरुषार्थ भी क्यों करे? इस शंका के कारण मैं-पन का अभिमानी सुख-दुःख का ज्ञाता और इसलिए इनसे दुःखी होकर छूटने की इच्छा रखनेवाला जीवात्मा प्रकृति का कार्य नहीं, वरन् चैतन्य स्वभाव ही है।

'इस प्रकार भोग अथवा मोक्ष की इच्छा जीवात्मा को ही होने के कारण भक्तिवान पुरुषों का मत है, कि उसका कर्म-अकर्म के सम्बन्ध में विवेक करना और कर्म के त्याग अथवा भोग का आग्रह रखना स्वाभाविक ही है।

"इसलिए पार्थ, भोग की लालसा रखनेवाले जीवात्मा कर्म के सम्बन्ध में एक प्रकार का मत और आग्रह हो, और मुमुक्षु जीव की उसके प्रति दूसरी ही दृष्टि हो, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। अब तू खुद मोक्षार्थी है, इसलिए मुमुक्षु जीव की विचार-सरणि और भावना सुन।

"अर्जुन, हम सब जानते हैं कि समुद्र का पानी खारी लगता है। उसे धूप में रखकर, सुखाकर, हम जान सकते हैं कि यह पानी किसी दूसरी ही तरह का खारी प्रवाही पदार्थ नहीं है; वरन् मूल में मीठे स्वभाव का होने पर भी इसमें क्षाररूपी अशुद्धि मिलने से वह खारी होगया है।

"इस प्रकार का अनुभव होने के कारण, समुद्र में पानी और क्षार के एक-दूसरे के साथ अभिन्न रूप में ओत-प्रोत रहते हुए भी ये दोनों पदार्थ भिन्न हैं, यह कहते हुए हमें सन्देह नहीं होता। किन्तु यदि हमें ऐसा अनुभव होता हो, तो हम निःसंशय रूप से यह नहीं कह सकते कि समुद्र का पानी किसी जुदे प्रकार का खारी तरल पदार्थ नहीं है, और केवल ऐसी भावना करके, उस पानी का मीठे पानी की जगह उपयोग नहीं कर सकते।

"अर्जुन, क्षणभर के लिए यह मानलो कि आत्मा मीठा पानी है और चित्त क्षार है, तथा जीवात्मा समुद्र का पानी है। इस जीवात्मा-रूपी समुद्र-जल में आत्मा और चित्त इस प्रकार ओत-प्रोत होकर मिले हुए हैं, कि वस्तुतः इनके जुदा होने पर भी उनकी भिन्नता पहचानी नहीं जा सकती और इस भिन्नता के सम्बन्ध में शास्त्र अथवा विद्वानों के वचन सुनकर वैसी धारणा करने से उक्त अनुभव नहीं होता।

"इस कारण जबतक सूक्ष्म प्रज्ञा द्वारा आत्मा और चित्त का भेद अनुभव में नहीं आता, और चित्त की सब मलिनता दूर होकर इस विवेक ज्ञान में स्थिरता नहीं होती, तबतक आत्मा और चित्त दोनों

भिन्न हैं, चित्त प्रकृति का कार्य है तथा चित्त की क्रियाओं से आत्मा अलिप्त रहता है, इत्यादि कहना—यदि इसका अनुभव प्राप्त कर के प्रयत्न के साधन हों तो—केवल वाग्आडम्बर ही होगा।

"इसकी अपेक्षा तो, स्वयं मोक्ष की इच्छा वाला जीवात्मा है यही मानना और कहना यथानुभव होने के कारण अधिक उचित समझा जायगा।

"इसलिए, अर्जुन भक्तिमान कर्मयोगी सांख्य परिभाषा का व्यवहार पसन्द नहीं करते, वरन् स्वय बन्धन में पड़ा और मोक्ष की इच्छा वाला जीवात्मा है यह मानकर चलते हैं।

"सांख्यवादी कहते हैं कि जड़-प्रकृति से निर्मित चित्त को ही बन्धन और मोक्ष प्राप्त होता है और चित्त ही सब पुरुषार्थ करता है, आत्मा के कभी बन्धनयुक्त न होने के ही कारण वह कभी छुटकारे-मोक्ष-का भी प्रयत्न नहीं करता। पर मेरे बताये हुए कर्मयोगी इस भाषा को पसन्द नहीं करते। इसी वस्तु को वे दूसरी तरह समझाते हैं।"

"भक्तिमान कर्मयोगियों का कहना है कि जीव चाहे जितनी मलिन-दशा में हो तो भी प्रत्येक जीव को अन्तरतम में यह प्रतीति रहती ही है कि वह जिस स्थिति में है, सदैव उसीमें रहने के लिए नहीं बनाया गया है, वरन् उसका सत्य स्वरूप कुछ विशेष शुद्ध और महान् है। उस स्थिति को पहुँचना उसका अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रतीति के कारण कोई जीव एक ही स्थिति में रहकर सन्तुष्ट नहीं होता, वरन् कुछ-न-कुछ हेर-फेर करने के लिए निरन्तर प्रयत्न शील रहता है।

"अपना शुद्ध और महान् स्वरूप कैसा है इस सम्बन्ध में अपनी थोड़ी या बहुत शुद्धि के प्रमाण में वह भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना करता है और उसकी झलक या कुछ स्पष्ट चित्र उसके मन में बना

रहता है। कभी वह चित्र स्वयं उसकी अपनी कल्पना-निर्मित होता है तो कभी उसके किसी देखे-सुने किसी शुद्ध-चित्त महात्मा के चरित्र से बना होता है। मंदगति से अथवा तीव्र वेग से इस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए उसका प्रयत्न जारी रहने के कारण वह स्वरूप उसे ईश्वर-रूप अथवा गुरु-रूप मालूम होता है।

"किन्तु जबतक जीव परिपूर्ण शुद्धि प्राप्त नहीं करता तबतक उसकी अपनी ध्येय-रूप ईश्वर अथवा गुरु विषयक कल्पना में फर्क पड़ता ही रहता है। किन्तु चाहे जितना अन्तर पड़े फिर भी वह ईश्वर के अवलम्ब के बिना नहीं रह सकता। और जब वह अत्यन्त शुद्ध और पूर्ण काम हो जाता है तब अपने ईश्वर से अपनेको अलग भी नहीं देख सकता।

"अब, अर्जुन, ऐसा ईश्वर-गुरु-भक्त कर्मयोग का किस प्रकार आचरण करता है सो सुन।

"जिस तरह लकड़ी की पुतली अपने सूत्रधार की अंगुलियों के अधीन रहती है, वह जिस तरह नचाता है वैसे ही नाचती है, जिस प्रकार कुतुबनुमा को कहीं भी रक्खो वह अपनी नोक सदैव ध्रुवतारे की ओर ही रखती है, अथवा जिस प्रकार सूर्यमुखी पुष्प, सूर्य जिस दिशा में चलता है ढलता है, उसी दिशा में अपना मुँह फेर लेता है, उसी तरह भक्त पुरुष अपने ईश्वर के अथवा ईश्वर-रूप गुरु के अधीन बनकर रहता है। वह उसकी प्रत्यक्ष और स्पष्ट आज्ञाओं के अधीन रहे इसमें तो कहना ही क्या है, किन्तु उसकी आज्ञाधीनता यहींतक सीमित नहीं होती, वह तो अपने ईश्वर की आज्ञाओं, इच्छाओं और मतों से ही विचार कर तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी स्वार्थपूर्ण और स्वतन्त्र इच्छाओं को दबा कर, उन्हें निर्मूल कर, अपने ईश्वर की इच्छा ही

अपनी इच्छा बन जाय इस प्रकार अपने मन को तैयार करने का प्रयत्न करता है।

"अर्जुन, ऐसा करना कुछ सरल नहीं होता। अपनी इच्छाओं और ईश्वर की प्रिय इच्छाओं में उसे बारम्बार विरोध दिखाई देता है। उस समय उसे अपने मन के साथ इस कुरुक्षेत्र के युद्ध से भी अधिक तीव्र संग्राम करना पड़ता है। उस समय वह अपने ईश्वर के सिवा दूसरे किससे सहायता माँगे? किसकी शरण में जाय? ऐसे अनेक संग्रामों में वह कभी हारता कभी जीतता है। उसके अनुभवों पर से उसका ऐसा दृढ़ मत होता है कि उसके संग्रामों में उसकी विजय उसके अपने ही बल के कारण नहीं बल्कि ईश्वर की सहायता के कारण ही होती है। जब-जब उसने अपने ही बल से जीतने की इच्छा की है तब-तब वह पराजित ही हुआ है। इसलिए वह दृढ़ता पूर्वक यह मानता है कि ईश्वर ही उसका नियामक सूत्रधार अथवा तन्त्री है और वह स्वयं तो उसकी चलती-फिरती कठपुतली ही है।

"इस प्रकार अपना बल विषयक अभिमान क्षीण होते-होते ऐसे भक्त की यह दृढ़ भावना हो जाती है कि वह केवल ईश्वर का नचाया हुआ नाचता है और उसके हाथ से जो कुछ कर्म होते हैं, उनका करने वाला उसका ईश्वर ही है। इसलिए वह कभी यह अभिमान नहीं करता कि किसी भी कर्म का वह स्वयं कर्ता है, वरन् अपने आत्मा अधीश्वर परमात्मा को ही अपना कर्तृत्व सौंप कर सब कर्म और उनके फल उसीको समर्पित करता है।

"प्रिय अर्जुन, यदि तू अनन्य भाव से मेरा शिष्यत्व स्वीकार कर मेरी शरण आया हो, यदि मेरे प्रति तेरी ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो

कि मैं तेरा पूर्णकाम ब्रह्मनिष्ठ और योग्य सद्गुरु हूँ। यदि तेरा यह विश्वास हो कि मैं तेरे श्रेय में बाधक किसी भी कर्म की ओर तुझे कदापि प्रेरित नहीं करूँगा अधिक क्या कहूँ तुझे यदि यह प्रतीत होता हो कि शुद्ध धर्म की स्थापना ही मेरा जीवन व्रत है, तो तू अध्यात्म भाव से अपने सब कर्मों का भार और कर्तृत्व मुझे सौंपकर उनके परिणाम के विषय में आसक्ति-रहित और कर्तृत्व के सम्बन्ध में अहंकार-रहित बन जा और अपने विरोधियों एवं स्वजनों के प्रति राग-द्वेष-रहित होकर अपना युद्ध-कर्म पूरा कर। इसे चाहे तो मेरी आज्ञा मान, चाहे मेरी धर्मयुक्त सम्मति समझ। ॥३०॥

"बस, अर्जुन, सच पूछा जाय तो मुझे जो कुछ कहना है वह मैंने कह डाला है। मैं तुझसे यह निश्चयपूर्वक कहता हूँ, कि जो कर्मयोग सम्बन्धी मेरे इस मत का निरन्तर श्रद्धापूर्वक एवं मत्सर-रहित होकर आचरण करता है, वह कर्म के बन्धन से अवश्य ही मुक्त होता है। परन्तु जो ऐसा न कर केवल मत्सर से प्रेरित होकर उसकी अवहेलना करता है, तू समझ ले कि वह ज्ञान से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है।"

श्लोक ३३-१९ जगद्गुरु श्रीकृष्ण इस प्रकार अपना विवेचन समाप्त कर कुछ क्षण तक मौन रहे। उनके उपसंहार और मौन से ऐसा भासित हुआ, मानो उन्हें जो कुछ कहना था वह सब कह चुके। श्रीकृष्ण की इस समय की मुखाकृति, उनके सब अंगों में से स्फुरित सात्विक भाव, उनके नेत्रों से निकलती हुई प्रेम-ज्योति की किरण, उनकी उस क्षण की योगावस्था, इन सब के कारण श्रीकृष्ण का इस समय का दर्शन अर्जुन के लिए जीवन का एक

अनुपम-सौभाग्य बन गया था। जिसने स्वयं उसका अनुभव किया हो वही उसे समझ सकता था।

अत्यन्त मधुर संगीत जब अकस्मात बन्द होजाता है तब बाहर शान्ति स्थापित होजाने पर भी गानेवाले और सुननेवाले के कान में संगीत की गूंज एक प्रकार की सूक्ष्म लहर प्रवाहित रखती है और कुछ समय तक उसके स्वर एवं ताल को स्मृतिपट पर उत्पन्न करती रहती है। कभी उसीके ध्यान में मग्न गायक फिर उस स्वर और ताल को प्रकट रूप से गाने लगता है। श्रीकृष्ण के मन की उस समय की स्थिति ऐसी ही थी। अवश्य ही उन्होंने अपना उपदेश समाप्त कर दिया था; किन्तु तत्सम्बन्धी विचार-परम्परा अभी उनके मन में जारी थी। सांख्यों का प्रकृति-धर्म-निरूपण अभी उनके चिन्तन का विषय बना हुआ था। इस चिन्तन के प्रवाह में ही उन्होंने अनायास फिर अपनी वाणीरूपी वीणा का स्वर छोड़ा और बोले :—

"पार्थ, ज्ञानी मनुष्य भी अन्त में तो अपने स्वभाव पर ही जाता है। वह यद्यपि अपने स्वभाव को विविध रूप से साधता है, फिर भी वह कहीं और कभी-न-कभी अपने मूल स्वभाव के अधीन हुए बिना नहीं रहता। सब भूतों का यह स्वाभाविक धर्म ही है। जिस प्रकार पानी के ऊपर दबाव रखिए, तभींतक वह ऊपर चढ़ता है, किन्तु दबाव के हटते ही वह नीचे की ओर बहने लगता है, उसी तरह प्राणी यद्यपि अपने अथवा दूसरे के निग्रह के वश होकर अपने वास्तविक स्वभाव के विरुद्ध आचरण करते हैं तोभी अङ्कुश के हटते ही फिर अपने स्वभाव पर पहुँच जाते हैं और निग्रह कुछ काम नहीं आता ॥३३॥

"इसलिए लोकहित चाहनेवाले महापुरुष प्रत्येक प्राणी का स्वभाव जानकर उसके लिए उचित मार्ग निर्धारित करते हैं। इस

प्रकार अपने स्वभाव के अनुकूल बना कर्म-मार्ग उस प्राणी का स्वधर्म कहा जाता है।

"इस प्रकार स्वधर्म का आचरण करने से मनुष्य को कभी दोष नहीं आता। दोष का कारण तो जुदा ही है। बात यह होती है कि मनुष्य केवल स्वधर्म का आचरण नहीं करता, वरन् अपने व्यवहार में जहाँ-तहाँ राग-द्वेष का मिश्रण कर लेता है। ये राग-द्वेष जिसके शत्रु बन जाते हैं उससे स्वधर्माचरण नहीं होता। हे वीर पुरुष, तू इस राग द्वेष के वश में न होने का महान् कर्म सिद्ध कर जिससे कि तेरे स्वधर्माचरण से तुझे दोष न लग सके। ॥३४॥

'प्रिय कुमद्रेश, प्रत्येक मानव को कभी-न-कभी कठोर प्रतीत होने-वाले कर्म करने ही पड़ते हैं ! और ऐसा कौन कर्म-मार्ग है, जिसमें कठोरता बिलकुल न हो। इसलिए क्षात्र-धर्म निकृष्ट और ब्राह्मण-धर्म श्रेष्ठ है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। किन्तु ऐसा दूसरा धर्म सुहावना लगता हो और अपनेसे उसका अच्छी तरह पालन हो सकेगा ऐसा प्रतीत होता हो, तो भी मनुष्य के लिए स्वधर्म का ही आचरण करना श्रेयस्कर है। अर्जुन बचपन से ही नहीं वरन् वंश-परम्परा से क्षात्र-धर्म के आच-रण के लिए ही तेरा पालन पोषण किया गया है। तेरी प्रकृति युद्ध-कर्म के अनुरूप है। इसलिए तेरी शिक्षा भी इसी कर्म के लिए हुई है। सारा समाज तुझ से इसी कर्तव्य पालन की अपेक्षा रखता है। यह कर्म करते करते तू भी अब उत्तरावस्था के समीप आने लगा है। अब तेरे लिए अपने धर्म के ही प्रति वफ़ादार बनकर, उसका प्रयत्न करते-करते मरना श्रेयस्कर है, उसका त्याग कर परधर्म के आचरण का प्रयत्न करना तेरे लिए तथा सब किसीके लिए भयानक होगा।" ॥३५॥

इस प्रकार कहकर योगाचार्य श्रीकृष्ण ने मौन धारण किया।

श्लोक ३६

अर्जुन ने श्रीकृष्ण का मत सुना और उसपर विचार करने लगा। अभी उसकी मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत नहीं होता था, कि उसका समाधान होगया। ऐसा मालूम होता था, मानों उसके मन में कुछ शङ्का शेष है। वह श्रीकृष्ण के मत को भिन्न-भिन्न प्रकार से तौलने लगा और अन्त में उसने निम्नलिखित एक शङ्का प्रकट की: —

"हृषीकेश, तुम्हारे वचनों पर मैं विचार कर रहा हूँ और उसपर से मेरे मन में इस समय एक प्रश्न उत्पन्न हुआ है, मैं तुमसे उसका समाधान कराना चाहता हूँ।

" अपने चित्त में चलने वाले संग्राम के सम्बन्ध में तुमने जो कुछ कहा, उसका मुझे पूरा-पूरा अनुभव है। विशेषकर विचार कर देखने पर जो कर्म करना इष्ट और उचित प्रतीत हो, मन में उससे उलटे ही आचरण की इच्छा होती है। उस इच्छा को रोकने के लिए चाहे जितना प्रयत्न करो—तो भी वह रोकी नहीं जासकती और बरबस उसके अधीन होजाना पड़ता है। अन्तःकरण का यह कलह इस भीषण युद्ध की अपेक्षा भी अधिक दुर्जय है, यह मैं पूर्णतया स्वीकार करता हूँ। माधव, मुझे यह विश्वास है कि सहस्रों महारथी मेरे सामने आ खड़े हों तो भी मैं हिम्मत न हारूँगा और मेरी छाती न धड़केगी। किन्तु अन्तःकरण के कलह के सामने मैं दीन बन जाता हूँ आह! विरोधी बल उठकर मुझे अनेकों बार कितना थका डालते हैं। यह मैं क्या बताऊँ? पतितपावन, उस समय धर्म अधर्म का ज्ञान नहीं रहता। गम्भीरतापूर्वक की हुई प्रतिज्ञा भंग होजाती है, और मानों कोई बरबस टोंचा मारकर मुझे पाप की ओर ढकेलता हो ऐसा प्रतीत होता है। उस समय उस कर्म में आनन्द

प्रतीत नहीं होता, फिर भी उससे बाज नहीं आया जा सकता।

"वासुदेव, चित्त में यह द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाला और पाप में ढकेलनेवाला, कौन होगा ? क्या मनुष्य के हृदय में दो विरोधी चित्त होते हैं अथवा क्या उस समय किसी भूत का आवेश होजाता है ? क्या ईश्वर का प्रतिपक्षी कोई कलि अथवा मार भी अस्तित्व रखता है, और यह जीवात्मा का शत्रु बनकर उसे पाप में ढकेलता है ? अपनी इस शङ्का का निवारण करने की मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ।" ॥३६॥

जिज्ञासु अर्जुन के इस प्रश्न का स्वागत करते हुए श्रीकृष्ण बोले—

"श्लोक ३७–४३ "अर्जुन, पुरुष को पाप में ढकेलनेवाले और उसका सत्यानाश करनेवाले न तो तेरे बताये ये विरोधी अन्तःकरण हैं, न भूत-प्रेत ही हैं और न मेरे विरोधी नकली वासुदेव जैसा कोई कलि, मार अथवा प्रति-परमेश्वर ही है। वरन् स्वयं चित्त द्वारा किसी समय पोषित और उसमें विकार-रूप में विद्यमान उसके काम और क्रोध ही उसके अन्तःशत्रु हैं।

"अर्जुन, मैंने तुझे समझाया था कि सांख्यवादियों का कहना है कि यह चित्त अधर्म से धर्म की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, आसक्ति से वैराग्य की ओर और दरिद्रता से ऐश्वर्य की ओर जाने का प्रयत्न करता है। अथवा, अन्य विद्वानों का कथन है, कि यह जीवात्मा असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर जाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

"परन्तप, प्रगति का यह पथ जीवन के अनेक अनुभव, विचार, संस्कार, कर्म और प्रयत्न से सूझता है। जबतक कोई कुछ नया अनुभव, नवीन विचार अथवा संस्कार उत्पन्न नहीं करता, तबतक मनुष्य अपनी पहली जीवन पद्धति को ही पकड़ रखता है और उसे आसक्ति-पूर्वक पुष्ट

करता रहता है । इस प्रकार नवीन विचार अथवा संस्कार की उत्पत्ति के पूर्व पुरानी आदतों का आसक्तिपूर्ण पोषण ही काम है, यह समझना चाहिए।

"इस प्रकार मनुष्य अनेक प्रकार की वासनाओं, आदतों, इत्यादि को पोषित कर उनके प्रति अपने अनुराग को बलवान बनाता है । उसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि सबको इस काम के वशीभूत होजाने की आदत पड़ जाती है । फिर, जिस प्रकार बचपन के अत्यधिक लाड़-चाव से बिगड़े हुए बालक को अपना मनचाहा करने की और माता-पिता, नौकर-चाकर सब उसके कहे अनुसार करें ऐसी आशा रखने की आदत पड़ जाती है और इस तरह माता-पिता के अङ्कुश के वश में वह रह नहीं सकता, उसी तरह उक्त मनुष्य द्वारा पोषित यह काम उसके शरीर में स्वच्छन्द राज्य स्थापित कर लेता है।

"पार्थ, जिस प्रकार धुआँ अग्नि को, धूल दर्पण को, अथवा झिल्ली गर्भ को ढक देती है, उसी प्रकार यह लाड़ से पोषित वासना मनुष्य के ज्ञान को ढक देती है; और जिस तरह अग्नि का पेट कभी भरता नहीं, उसी तरह यह काम भी कभी तृप्त नहीं होता। ॥३७–३९॥

"कौन्तेय, जिस प्रकार दंश द्वारा शरीर में पहुँचा हुआ सर्प का विष कुछ ही देर में मनुष्य के रोम-रोम में और हृदय तथा मस्तिष्क तक व्याप्त होजाता है, उसी तरह वासना मनुष्य की इन्द्रियों और हृदय तथा बुद्धि तक को अपने अधिकार में कर लेती है । उसके रक्त, लार, रोमावलि एवं नख तक से वह प्रकट होती है, तो फिर उसके मन-बुद्धि में वह हो, तो इसमें कहना ही क्या ? ज्ञान से प्राप्त सद्बुद्धि के लिए यह काम ही शत्रु का कार्य करता है। ॥४०॥

"अर्जुन, इस काम-विष के इन्द्रियों तक व्याप्त होने के कारण, जिस प्रकार दासी कचरे को कोने में से बुहारती-बुहारती द्वार तक लाकर घर से बाहर फेंक देती है, उसी तरह तू इन्द्रियों के संयम द्वारा, इनकी शुद्धि करते-करते, हृदय-द्वार तक पहुँचकर काम रूपी-मल को बाहर फेंक दे। ॥४१॥

"किन्तु, रणधीर, काम का ऐसा सूक्ष्म रूप और अत्यन्त शक्ति देख-कर निराश होने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार व्यूह के सब चक्र टूट जाने पर भी यदि सबसे भीतर का चक्र अभेद्य रह जाय तो राजा उसमें सुरक्षित रह कर फिर से लड़ने का बल प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार काम से अविजित एक अभेद्य दुर्ग है। उसके बल को काम में लाने-वाला व्यक्ति काम को जीते बिना रह नहीं सकता। व्यूहवेत्ता अर्जुन, यह अभेद्य दुर्ग स्वयं जीवात्मा ही है। जिस समय अन्तरात्मा में से काम को जीतने का निश्चय ऊपरी मन से नहीं वरन् अत्यन्त शांतिपूर्वक और अन्तरात्मा से प्रकट होता है, उस समय तू निश्चय जान कि इस काम का विनाश समीप आ पहुँचा है। मैं चाहता हूँ कि ऐसे दृढ़ निश्चय पर आरूढ़ होकर तू काम-रूप शत्रु को जीत ले।" ॥४२-४३॥

चतुर्थ अध्याय

ज्ञान-द्वारा कर्म-संन्यास

द्वितीय उपोद्घात

(१)

चौथा अध्याय आरम्भ करने से पूर्व गीता-सम्बन्धी कुछ अधिक बातें समझनी आवश्यक हैं।

पाठकों ने देखा होगा, कि तीसरे अध्याय के ३१ वें और ३२ वें श्लोक में श्रीकृष्ण नीचे लिखे अनुसार कहते हैं :—

"श्रद्धापूर्वक द्वेष त्याग कर जो मनुष्य सदैव मेरे इस मत के अनुसार चलते हैं, वे भी कर्म-बन्धन से मुक्त होते हैं। ॥३१॥ किन्तु जो मलिन बुद्धि के कारण मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञान-हीन मूर्ख हैं, उनका नाश हुआ समझ।" ॥३२॥

साधारणतया ऐसे श्लोक आर्य ग्रन्थों के अन्त में आते हैं। इसपर से ऐसा अनुमान होता है कि गीता को जो कुछ मुख्य उपदेश देना था, वह तीसवें श्लोक तक आगया और पुस्तक समाप्त हुई।

तब तीसरे अध्याय के ३३ वें श्लोक से शेष गीता के सम्बन्ध में क्या समझा जाय, यह प्रश्न उपस्थित होता है।

३१ वें और ३२ वें श्लोक में गीता की महिमा के वर्णन के बाद ३३ वें श्लोक का विषय उससे सम्बन्ध-रहित प्रतीत होता है। मानों श्रीकृष्ण अपना उपदेश पूरा कर चुके और उसी विषय के विचार में

तल्लीन हो, प्रकृति का स्वभाव कैसा अटपटा और गुणों का बल कितना गूढ़ और प्रबल होता है, इसको चिन्तन करते-करते ३३ वें श्लोक से अपने उद्‌गार निकालने लगे हों, ऐसा दूरस्थ सम्बन्ध भासित होता है। इस श्लोक का मन्थन करते हुए मैंने यही कल्पना प्रस्तुत की है। किन्तु इसका वास्तविक अर्थ तो यह हुआ कि ३३ वें श्लोक से गीता के उपदेश में फिर एक नवीन अंकुर उत्पन्न हुआ है।

(२)

गीता में उत्पन्न यह नवीन शाखा अकस्मात् उठी होगी, इसके अनेक लक्षण विविध रूप से दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, ३५ वें श्लोक में कहा गया है कि 'स्वधर्म में मरना श्रेयस्कर है, पर-धर्म भयावह है।' इस उद्‌गार पर से ३६ वें श्लोक में आया हुआ अर्जुन का यह प्रश्न कि पाप कौन करता है, किस प्रकार उत्पन्न हुआ, आसानी से समझ में नहीं आता। इसी तरह तीसरे अध्याय के अन्त तक जो विषय चल रहा है; उसके साथ चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में चर्चित विषय का कुछ सम्बन्ध मालूम नहीं होता। तीसरे अध्याय के अन्त तक ऐसी कोई बात नहीं आई, जिससे गीता के उपदेश की प्राचीनता, पुनर्जन्म के सिद्धान्त अथवा विष्णु के अवतारों के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता उत्पन्न हुई हो। चौथे अध्याय के आरम्भ के चौदह श्लोक मानों किसी प्रकार के पूर्वापर सम्बन्ध रहित तथा अस्थान ही प्रतीत होते हैं।

इसके विपरीत यदि हम तीसरे अध्याय के ३५ वें श्लोक के बाद तुरन्त ही चौथे अध्याय के पन्द्रवें श्लोक से पढ़ना आरम्भ करें तो क्रम में किसी तरह का भंग हुआ मालूम नहीं पड़ता। देखिए—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्यपरिपन्थिनौ
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ३-३३ से ३५)
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

इसलिए, चौथे अध्याय के आरम्भ के चौदह श्लोकों के सम्बन्ध में क्या समझना चाहिए, इसका भी विचार कर लेना आवश्यक है।

(३)

फिर, बारीकी से पढ़नेवाले पर इस मन्थन और गीता के बीच एक अन्तर ध्यान में आया होगा। पाठकों ने देखा होगा कि गीता में कहीं भी 'श्रीकृष्ण बोले' ऐसा शब्द नहीं है। 'श्रीकृष्ण के बदले 'भगवान' बोले ऐसा सर्वत्र लिखा है, और यह पुस्तक भी 'श्रीकृष्ण गीता' के नाम से नहीं, प्रत्युत् 'भगवद्गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। यह जानते हुए भी मैंने अभीतक किसी जगह श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भगवान शब्द का प्रयोग नहीं किया,पाठकों को इससे कुछ आश्चर्य प्रतीत हुआ होगा। इस सम्बन्ध में भी स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

मै मन्थन के आरम्भ में ही कह चुका हूँ, कि "हम गीता को श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद के रूप में पढ़ते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच सचमुच ऐसा सम्भाषण हुआ होगा, और सो भी कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय और उसी स्थान पर यह मानना उचित नहीं।" इस मन्थन में भी श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच मूल गीता में अवर्णित अनेक सम्भाषण मैंने अपनी कल्पना से ही निर्मित किये हैं। वे सम्भाषण वास्तव में हुए हैं ऐसा कोई पाठक नहीं मानेगा, वरन् उन्हें केवल

मेरी अच्छी या बुरी सजावट ही समझेगा। उसी प्रकार मूल गीता का सम्भाषण भी कवि की केवल सजावट ही है। अलबत्ता वह संक्षिप्त और उत्कृष्ट ज़रूर है।

मैं यह भी कह चुका हूँ कि गीता के कवि केवल लोकरंजन के लिए ही आख्यान रचनेवाले कवि नहीं थे, वरन् ऋषि, ज्ञानी एवं धर्म के सूक्ष्म शोधक थे और उन्होंने इस प्रकार सम्भाषण के रूप में आध्यात्मिक विषय में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अब इस विचार में एक वृद्धि करने की आवश्यकता है। और वह यह कि जिस रूप में आज हम गीता पढ़ते हैं उससे यह भी प्रतीत होता है कि इसके कवि वैष्णवमार्गी थे। और उन्होंने यह भी चाहा है कि सांख्य, योग तथा भक्ति-मार्ग के साथ साथ इन सब दर्शनशास्त्रों का वैष्णव सम्प्रदाय की मुख्य मान्यताओं की दृष्टि से भी मेल बैठ जाय।

(५)

गीता प्रधानतया वैष्णव सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, यह पहले तीन अध्यायों में अधिक स्पष्ट नहीं है। दो-तीन स्थानों पर इसकी थोड़ी-सी झलक अवश्य आ जाती है (उदाहरणार्थ अध्याय २, श्लोक ६१; अध्याय ३ श्लोक २२, २३, २४ और ३० में); किन्तु वह इतनी कम है कि साम्प्रदायिक दृष्टि छोड़कर भी उन श्लोकों पर विचार किया जा सकता है। किन्तु अब चौथे अध्याय से वैष्णवमार्ग की मान्यतायें गीता के उपदेश के साथ इतनी मिल गई हैं कि उनको ठीक तरह से समझे बिना काम नहीं चल सकता।

इन मान्यताओं में मुख्य मान्यता तो विष्णु और उनके अवतारों से सम्बन्ध रखती है। इस मान्यता का मूल संक्षेप में इस तरह है।

हम साधारणतया इस विश्व की परमशक्ति को ब्रह्म, चैतन्य पुरुष तथा आत्मा आदि वेदान्ती नामों से अथवा ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, भगवान इत्यादि भक्तिमार्गी नामों से पहचानते हैं।

परन्तु यह जो मूल वस्तु है उसके लिए 'शक्ति' शब्द के बदले 'देव, 'देवता, 'देवत' आदि शब्द भी पाये जाते हैं। इससे हम परम-शक्ति को ब्रह्म इत्यादि नामों से पहचानते हैं। इस प्रकार 'शक्ति' और 'देव' एक ही अर्थ के शब्द हैं।

इस परमदेव, परमशक्ति, परमेश्वर द्वारा संसार में उत्पत्ति, स्थिति और संहार का क्रम चला करता है। अर्थात् इस परमदेव में उत्पन्न करने, पालन करने और संहार करने की अवान्तर (उप) शक्तियाँ अथवा देव हैं। इन अवान्तर शक्तियों को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सार्थक परन्तु काव्यमय नाम दिये गये हैं। और उन्हें ब्रह्मदेव, विष्णुदेव, महादेव (शिव) इन नामों से पुकारने का रिवाज है।

पुराने ग्रन्थों में 'शक्ति' के बदले 'देव' शब्द का प्रयोग करना बहुत साधारण बात है। उदाहरणार्थ, मेघ-शक्ति को इन्द्रदेव, जल-शक्ति को वरुणदेव, पवन शक्ति को वायुदेव कहा जाता है। इतना ही नहीं, इन्द्रियों की शक्तियों को भी देव कहा गया है।

इस प्रकार पाठक देख सकेंगे कि 'देव' का अर्थ कोई प्रकाशवान, रूपवान, पुरुष अथवा आकार का चमत्कारी व्यक्ति नहीं, वरन् जिस प्रकार बिजली में, गर्मी में और इन्द्रियों में जुदी-जुदी शक्तियाँ हैं उसी तरह भिन्न-भिन्न देवताओं का अर्थ है भिन्न-भिन्न शक्तियाँ।

(६)

इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये परमदेव ब्रह्म की तीन अवान्तर शक्तियाँ हैं। इनमें से अनेक मनुष्यों की ब्रह्मदेव (गणपति)

अथवा परमात्मा की सृजन शक्ति के प्रति, कितनों की विष्णु अथवा पालन-शक्ति के प्रति और कितनों की शिव अथवा संहार-शक्ति के प्रति अधिक भक्ति होती है। इस प्रकार इन तीन अवान्तर शक्तियों को पूजनेवालों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बन गये हैं।

इस तरह व्यासजी का विष्णुदेवजी के प्रति विशिष्ट भाव था, यह कहा जा सकता है। विष्णु-भक्त यह कल्पना करते हैं कि परमात्मा की यह विष्णु-शक्ति सृष्टि के पालन और विकास के लिए ही सदैव चिन्ता और प्रयत्न करती रहती है और मानते हैं कि इसीसे संसार में सुख और समृद्धि होती है। इस प्रकार वे कहते हैं कि जिन जिन पदार्थों अथवा प्राणियों द्वारा संसार में पालन-कार्य होता है और समृद्धि बढ़ती है उनमें विष्णु का निवास है।

उदाहरणार्थ सूर्य द्वारा पृथ्वी के प्राणियों को जीवन-शक्ति मिलने के कारण सूर्य को विष्णु का बड़े-से-बड़ा और चिरंजीवी आविष्कार माना गया है। प्रजा का पालनकरने वाला राजा भी विष्णु का अंश माना जाता है। जनता का महान् उद्धार करनेवाला कोई प्रतापी पुरुष हो तो वह भी इसी कारण विष्णु का अवतार कहा जाता है। उनका कहना है कि जिस प्रकार उत्पत्ति और संहार करने वाला संकल्प सदैव कार्य करता रहता है, उसी तरह यह पालन-संकल्प भी सतत कार्य करता रहता है, और जिस प्रकार कभी-कभी उत्पत्ति अथवा संहार का कार्य बड़े वेग से चलता है, उसी तरह कभी पालन-संकल्प भी वेगवान बन-कर किसी विशेष रूप में प्रकट होता है। ऐसा प्रत्येक विशिष्ट आविर्भाव विष्णु का अवतार कहा जाता है।

किन्तु पालन-कर्ता को कुछ दण्ड तथा संहार भी करना पड़ता है। यह दण्ड और संहार पालन के लिए ही होता है। उदाहरणस्वरूप

धर्म से जीवों का पालन होता है, इसीलिए अधर्म का संहार भी वैष्णव कार्य ही समझा गया है।

इस प्रकार धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए संसार में परमात्मा की वैष्णवी शक्ति प्रवर्तित होती है और उसमें से विष्णु के अवतार प्रकट होते हैं, यह वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यता है। इस मान्यता का अनुसरण करते हुए चौथा अध्याय आरम्भ हुआ है।

(७)

आज महाभारत का ग्रन्थ जिस स्थिति में हमारे पास है, उसमें वसुदेव-सुत श्रीकृष्ण को जनता के एक महान् उद्धारक की तरह और इसलिए, वैष्णव-मान्यतानुसार, विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है, और इसी कारण से उनके लिए 'भगवान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। साथ ही, श्रीकृष्ण के विषय में ऐसा विष्णुपन केवल कवियों ने अथवा लोगों ने ही माना हो, सो बात नहीं, वरन् स्वयं श्रीकृष्ण को भी यह प्रतीत होता था कि वह विष्णु ही हैं, ऐसी कल्पना करके उनका पात्र प्रस्तुत किया गया है।

धार्मिक ग्रन्थों में यह प्रथा असाधारण नहीं है। वेदान्त की परिभाषा का व्यवहार करने वाले अनेक उपदेशक आत्मा और ब्रह्म की एकता के निश्चय से ब्रह्म अथवा परमात्मा के कर्मों का जिक्र बारम्बार अपने कर्म के रूप में करते हैं। उदाहरणार्थ, स्वामी रामतीर्थ ने अनेक स्थानों पर कहा है कि 'मैं ही कृष्ण हूँ, मैं ही ईश हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, इत्यादि।

इसी प्रकार का प्रयोग गीता में भी हुआ है। इसलिए, गीता में "मैं" किसी जगह स्थूल रूप से दिखाई देनेवाले वसुदेव सुत श्रीकृष्ण के अर्थ में किसी जगह जगत् पालक विष्णु के अर्थ में और किसी जगह परमात्मा अथवा ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिऐ 'मैं' का अर्थ कहाँ

किस प्रकार करना चाहिए, यह पूर्वापर-सम्बन्ध देखकर निश्चित करना पड़ता है।

उक्त प्रकार से वैष्णव सम्प्रदाय की मुख्य मान्यताओं और वेदान्तियों की बोलने की रूढ़ि को ध्यान में रक्खा जाय, तो चौथे अध्याय के आरम्भ में जो अवतारवाद का प्रतिपादन किया गया है उसके समझने में कुछ बाधा उपस्थित नहीं होती और तत्सम्बन्धी श्लोकों को किसी दूसरी तरह समझने की आवश्यकता नहीं रहती।

(८)

किसी भी धर्म-ग्रन्थ का अध्ययन करते समय हमें कुछ विवेक से काम लेना पड़ता है। कितने ही विषयों में, विशेष कर चित्त-शुद्धि से सम्बन्धित विषयों में, सब धर्मों में समानता होती है—उदाहरणार्थ सब धर्म सत्कर्म, सद्व्यवहार, सद्वाणी, न्याय, प्रेम, क्षमा, सुख-दुख के प्रति समता, भक्ति, ईश्वरार्पणबुद्धि तथा वैराग्यआदि पर जोर देने में एकमत होते हैं। उसके बाद, संसार के तथा आत्मा-परमात्मा के तात्विक स्वरूप के सम्बन्ध में सब धर्मग्रन्थों में कतिपय विचार होते हैं, किन्तु उन सबमें कई जगह एकवाक्यता नहीं होती। इस विषय में द्वैत, अद्वैत, विशेषाद्वैत, सेश्वर, निरीश्वर आदि पाँच-छः दार्शनिक पद्धतियों में से किसी एक का प्राधान्य होता है। कई बार इनमें से दो-तीन पद्धतियों का मिश्रण भी होता है। ऐसे विषय में सब धर्मों का अथवा एक ही धर्म के सब ग्रन्थों का एक ही प्रकार का मत है यह कहना भूल होगी।

सच पूछा जाय तो साधु सन्त इत्यादि स्वयं भी धर्म-ग्रन्थों के ऐसे दार्शनिक भाग को अतिशय प्रमाणभूत नहीं मानते, वरन् उसका अर्थ अपनी तात्विक दृष्टि के अनुसार ही करते हैं। इसी कारण तो संसार के

प्रत्येक धर्म में अद्वैतवाद इत्यादि पन्थ उत्पन्न हुए हैं। ऐसे पन्थ हिन्दू-धर्म में ही हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। बौद्ध, मुस्लिम तथा ईसाई इत्यादि सब धर्मों में और उनके बड़े सम्प्रदायों में भी ऐसे पन्थ हैं।

इसलिए धर्म-ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाले के लिए उचित है कि ऐसे तात्त्विक विषय में उस ग्रन्थ का दृष्टि-बिन्दु समझकर उसमें से अपनी विवेक-बुद्धि को जितना उचित प्रतीत हो उतना ही स्वीकार करे।

फिर, धर्मग्रन्थों में केवल चित्त-शुद्धि और तात्त्विक विषयों का ही विवेचन नहीं होता। उनके सिवा उपासना, पूजा, आचार, प्रायश्चित्त तथा कर्मकाण्ड इत्यादि विषयक निरूपण भी होता है। यह उस ग्रन्थ का साम्प्रदायिक भाग कहा जाता है। इस विषय में भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थ एक-दूसरे से मेल नहीं खाते, वरन् कभी-कभी एक-दूसरे से विरोधी भी हो सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप, जिस प्रकार वैष्णव राम, कृष्ण इत्यादि का अवतार मानते हैं, उसी तरह ईसाई यीशु को ईश्वर का पुत्र, यहूदी और मुसलमान मूसा, मुहम्मद इत्यादि को पैगम्बर, जैन महावीर इत्यादि को तीर्थङ्कर तथा बौद्ध गौतम इत्यादि को बुद्ध मानते हैं। किसी प्रतापी महात्मा के प्रति, उसका परमात्मा के साथ विशेष निकट-सम्बन्ध होने की दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न कर उसके प्रति अतिशय भक्ति-भाव उत्पन्न करवाना और उसके उपदेशों और जीवन के अनुसार अनुयायियों को अपना जीवन-मार्ग बनाने की प्रेरणा करना यह इन सबमें सामान्य लक्षण होता है। किन्तु इस महापुरुष और परमात्मा के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध समझना चाहिए, उसके प्रति किस प्रकार की श्रद्धा रखनी चाहिए, और उसके उपदेश तथा जीवन के किस भाग को महत्त्व

देना चाहिए, इस विषय में प्रत्येक धर्मग्रन्थ का विचार भिन्न-भिन्न होता है।

ये सब साम्प्रदायिक मान्यता के विषय कहे जाते हैं। धर्मग्रन्थ का अध्ययन करते समय ऐसे साम्प्रदायिक विषय उस सम्प्रदाय के लिए भले ही अतिशय महत्व के हों, किन्तु धर्म का व्यापक दृष्टि से विचार करें तो वे गौण बन जाते हैं। धर्मग्रंथों के ऐसे भाग पर पाठक की श्रद्धा हो तो उसे रहने दे और न हो तो उसे साम्प्रदायिक मान्यता समझकर निकाल दे।

प्रत्येक धर्म में इस प्रकार की साम्प्रदायिक मान्यता होती ही है। तात्त्विक दृष्टि से इन सब मान्यताओं में कुछ कल्पना, कुछ लगन, कुछ आत्म-दर्शन एवं कुछ काव्यमय रूप का मिश्रण होता है। और, इस-लिए, कहना होगा कि उन दृष्टियों में थोड़ी बहुत अपूर्णता ही है। यह समझकर दूसरे धर्मग्रन्थ में अपने सम्प्रदाय की अपेक्षा भिन्न प्रकार की मान्यता प्रतीत हो तो इस कारण उसके प्रति अनादर अथवा तुच्छ बुद्धि रखना उचित नहीं। प्रत्युत् यह समझकर कि जिस प्रकार धर्म भक्तिमय श्रद्धा का एक रूप है, उसी तरह यह भी भक्तिपूर्ण श्रद्धा का ही एक दूसरा रूप है, हमें उसके प्रति समभाव रखना चाहिए।

हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के महान् सन्त यह दृष्टि समझते और रखते आये हैं। ऐसी दृष्टि के कारण भगवद्गीता में यद्यपि विष्णु को प्राधान्य दिया गया है, फिर भी वह ग्रन्थ सब सम्प्रदायों को मान्य है। इस दृष्टि के कारण ही शैव-वैष्णव आदि झगड़ों का अन्त होसका है, और हम सर्वधर्म समभाव का तत्त्व समझने में समर्थ होते हैं। किसी नवीन सम्प्रदाय के उत्पन्न होने पर अवश्य ही कुछ समय तक उसके अनुयायी यह कहते रहते हैं, कि इस सम्प्रदाय में ही उद्धार

करने की शक्ति है; किन्तु कुछ वर्ष बीत जाने पर यह भाव निकल जाता है, और हिन्दूधर्म-महासागर में मिलनेवाली एक नदी के अनुसार उसका अस्तित्व हो जाता है। ऐसी समभावना की दृष्टि होजाने से उस सम्प्रदाय के अनुयाइयों की अपने इष्टदेव के प्रति भक्ति नहीं घटती, प्रत्युत् इतना ही होता है कि उसका संकुचित पन्थाभिमान शुद्ध हो जाता है।

(६)

अब मैं गीता के शेष अध्यायों का आरम्भ के तीन अध्यायों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है, इस विषय में अपना मत प्रकट करता हूँ।

प्रथम तीन अध्यायों में गीता के मुख्य उपदेश के सब शास्त्रीय तथा विशेष तत्त्व आगये। उनके बाद के अध्यायों में इस विशिष्ट उपदेश का कोई नवीन सिद्धान्त नहीं आता। वरन् इस उपदेश का विशेष स्पष्टीकरण आता है तथा इसके साथ ही सांख्यदर्शन, योगदर्शन, योगाभ्यास, भक्ति-मार्ग तथा वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यताओं का किस प्रकार सम्बन्ध मिलाया जाय इसका विवेचन है।

उदाहरण देकर समझाना हो, तो यों कहना चाहिए कि किसी मन्दिर की नींव और ढाँचा तैयार करने के समान पहले तीन अध्याय हैं। फिर जिस प्रकार इस ढाँचे में दीवार खड़ी करो, नलियें लगाओ, और उन सबको हवादान, खिड़की, दरवाज़े इत्यादि से पूर्ण करो, तथा रंग, नक्काशी, चित्र इत्यादि से सजाओ तथा खूंटी, मोरी, पलेहडी इत्यादि से सुविधाजनक बनाओ, इस प्रकार गीता के पिछले अध्याय इन पहले तीन अध्यायों पर खड़ी की गई इमारत हैं।

आशा है कि इतना स्पष्टीकरण अब आगे के अध्यायों को समझने के लिए मार्ग-दर्शक होगा।

अब चौथे अध्याय का आरम्भ करता हूँ।

यदुनन्दन श्रीकृष्ण केवल महासमर्थ ब्रह्मवेत्ता ही नहीं, वरन् विष्णु देवता के नाम से परिचित परमात्मा की पालन-शक्ति का ही जीता-जागता दृष्टिगोचर स्वरूप है, यह मत प्रस्थापित करने के उद्देश्य से व्यासजी अब श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्भाषण को निम्न रूप देते हैं :—

श्लोक १—३

श्रीकृष्ण कहते हैं—

"अर्जुन, मैंने तुझे जो यह कर्मयोग समझाया, वही योग प्राचीनकाल में मैंने सूर्य को समझाया था। उसको यथावत् ग्रहण कर सूर्य किस प्रकार अविरल कर्मयोग करता है, यह सारा संसार जानता है। सूर्य जिस प्रकार नियमितरूप से और आसक्ति-रहित होकर अपना काम करता है, वह देख कर आर्यों के आदि राजा मनु ने भी इसी योग का अपने जीवन में आचरण किया था। उसी तरह सूर्य-वंश के महान् राजर्षि इक्ष्वाकु ने भी मनु के जीवन से इस कर्मयोग की शिक्षा ग्रहण कर उसका पालन किया था। इस प्रकार भूतकाल के अनेक महान् राजर्षि कर्मयोग का सदैव पालन करते रहते थे। इसलिए आर्यावर्त अतिशय सुखी और समृद्ध था। यहाँ के नरेश काम, क्रोध और लोभ से पराभूत होकर प्रजा को सताते नहीं थे और उस के सुख के प्रति दुर्लक्ष्य नहीं रखते थे।

"परन्तु, अर्जुन, कालान्तर में कर्मयोग का संस्कार नष्ट हो गया। राजा लोग धर्म से पृथ्वी का पालन करने और प्रजा के सामने धर्म-मार्ग का उदाहरण पेश करने के बदले स्वार्थरत होकर अपनी महत्त्वाकांक्षा को तृप्त करने के लिए व्याघ्र-वृत्ति से रहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध बढ़ गये, प्रजा के कष्ट बढ़ गये, जुआ, मद्यपान इत्यादि के व्यसन बढ़ गये, और स्त्रियों पर निर्लज्ज और प्रकट बलात्कार होने लगा। यह सब तू जानता है। इसी के परिणामस्वरूप यह युद्ध भी आ उपस्थित

हुआ है, वह भी तुझे मालूम ।

"मैंने तुझे कर्मयोग का जो यह शास्त्र समझाया है, उससे तू समझ सकेगा कि इसमें राजाओं ने कहाँ भूल की है ।

"परममित्र, जिस प्रकार कौरवों ने कर्मयोग का अनादर कर यह घोर युद्ध खड़ा किया है, वहां तू भी उसका अनादर कर इस परिस्थिति में अपने सामने आये धर्म को टालने का प्रयत्न कर रहा है । तुझे इस अनर्थ से बचाने के लिए, तेरा बालसखा होने और मेरे शरण में आने से गुरु होने के कारण, सृष्टि के आरम्भ में मैंने जो योग सूर्य को सिखाया था, वही मैं आज तुझे सिखा रहा हूँ ।" ॥१–३॥

श्लोक ४–६

यदुनाथ के ऐसे मर्मयुक्त वचन सुनकर अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण कुछ गूढ़ भाषा बोल रहे हैं । उसका स्पष्ट अर्थ समझने के उद्देश्य से उसने पूछा—

"वासुदेव, तुम्हारे कथन का भावार्थ में ठीक तरह से नहीं समझ सका । तुम कहते हो कि तुमने ही यह योग सूर्य को सिखाया था, इसका क्या अर्थ ? तुम तो वर्त्तमान काल में उत्पन्न देवकी-सुत के रूप में जन्मे मेरे बाल-सखा हो । तुमने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य को किस प्रकार उपदेश दिया ? कृपाकर अपना रहस्य समझाकर कहो ।"

यह सुनकर अपने विष्णुपन के भाव को प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण बोले—

"अर्जुन, पुनर्जन्म को माननेवाले हम आर्य लोग इतना तो समझते हैं, कि अभीतक तेरे और उसी तरह मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं । किन्तु यह मानते हुए भी शायद ही कोई अपने पूर्वजन्म की परम्परा यथार्थ रूप से जानता है ।

"कौन्तेय, सामान्यतया मनुष्य यह समझते हैं, और तू भी यही

समझता होगा, कि इस अर्जुन नाम के शरीर में रहनेवाला जीव पूर्व जन्म में कोई देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, एवं तृण इत्यादि में भटका होगा और वही जीव आज इस मध्यम पाण्डव के शरीर में आकर निवास कर रहा है और इस शरीर का नाश होते ही ऐसी ही किसी दूसरी योनि में प्रविष्ट होगा। पार्थ, ऐसी धारणा के कारण पुनर्जन्म को मानते हुए भी कोई अपनी जन्म-परम्परा को पहचानता नहीं।

"पार्थ, मुझे विश्वास है कि मैंने अपने जन्म के रहस्य को ठीक तरह जान लिया है और इसलिए मैं अपने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल के जन्मों को ठीक तरह समझ सकता हूँ।

"कौन्तेय, वास्तविक रीति से तो आदि और अविनाशी समस्त सृष्टि का निर्माता जो आत्मा है, वही मेरा स्वरूप है, और इस स्वरूप की दृष्टि से 'जन्म' और 'मरण' शब्द अर्थ-हीन ही होजाते हैं, तब फिर पुनर्जन्म के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? किन्तु, इतना होने पर भी हम जन्म और मृत्यु को देखते हैं और पुनर्जन्म की बातें करते हैं। इसलिए इसका रहस्य जानने की आवश्यकता है।

"पृथानन्दन, आत्मा को पहचाननेवाले सब ज्ञानियों का कहना है कि स्वरूपभूत इस आत्मा की रचना ज्ञान मात्र है। आत्मा ज्ञान-रूप होने के कारण सङ्कल्पों का जनक है, और सत्यरूप होने के कारण इसके सङ्कल्प सत्य ही होते हैं। इस प्रकार ऋषियों ने इस आत्मा को सत्यकाम एवं सत्यसङ्कल्प कहा है।

"अर्जुन, प्राणीजन अपने चित्त की अशुद्धि, चंचलता और अव्यवस्थितता के कारण अपनी यह सत्य कामना और सत्य सङ्कल्पना नहीं जानते और इसलिए वे अपने को पामर, अज्ञान और असमर्थ सा जानते हैं।

"किन्तु, अर्जुन, ज्यों-ज्यों चित्त की शुद्धि बढ़ती जाती है, और वह स्थिर तथा स्वस्थ बनता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी सत्य कामना और सत्य सङ्कल्पना को पहचानने लगता है और वह समझने लगता है कि अपनी जो कुछ स्थिति है, वह अपनी कामना और संकल्प का ही परिणाम है।

"तात, विश्वव्यापी यह परमात्मा, इस तरह, अनेक प्रकार के कामों और संकल्पों का आधार-भूत है। ये काम तथा संकल्प विविध गुण वाले, विविध शक्ति वाले, और विविध प्रकार से एक-दूसरे के साथ मेल अथवा विरोध रखने वाले होते हैं। ऐसे अनन्त संकल्पों के परिणाम-स्वरूप यह अनन्त प्रकार की सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है।

"परमप्रिय, परमात्मा के आधार पर विश्व में रहनेवाली कामनाओं में एक स्थिर, सात्विक और शुद्ध कामना ऐसी भी है, जो यह इच्छा रखती रहती है कि संसार में सदैव धर्म की विजय हो, अधर्म का विनाश हो, सत्पुरुषों का उत्कर्ष हो, असुरों का पराभव हो और विश्व का पालन हो, और अपनी इस इच्छा की सिद्धि के लिए क्रियावान होने का सङ्कल्प करती रहती है।

"पाण्डवसुत, यह समझ ले कि ऋषिगण जिसे विष्णु के नाम से पहचानते हैं, वह इस पालन-कर्त्ता संकल्प का ही नाम है।

"वीरश्रेष्ठ, मैंने परमात्मा का जो विष्णु-स्वरूप संकल्प बतलाया वह अतिशय शुद्ध, सात्त्विक और कल्याणकर होने के कारण विविध रूप से संसार में सिद्ध होता है। पृथ्वी पर जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म का ज़ोर बढ़ता है, और साधू पीड़ित होते और दुर्जन बलवान होजाते हैं, तब-तब परमात्मा में निवास करनेवाले इस संकल्प को क्षोभ होता है और वह क्रियावान होकर प्रकट होने के लिए प्रयत्न करता है।

फिर जिस प्रकार अधर्म का नाश होकर पुनः धर्म की स्थापना हो, उस प्रकार इस संकल्परूपी माया के बल का आधार लेकर स्थूल रूप में प्रकट होता है।

"प्राणप्रिय अर्जुन, अब अपने सम्बन्ध में मुझे जो कुछ प्रतीत हुआ है, वह मैं तुझे, मेरा परमसुहृद होने के कारण, कहता हूँ। इसमें कुछ बड़ाई नहीं है, आत्म-प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत् मेरे मन की प्रतीति है वही बतलाता हूँ।

"मित्र, अपने जन्म से लेकर अभीतक मैंने जो कुछ किया है, और जो-जो विचार किया है, उसके मूल में रही अपनी भावना, इच्छा एवं उद्देश्य इत्यादि का पृथक्करण करते हुए मुझे प्रतीत हुआ है कि मेरा सारा जीवन केवल धर्म के पुनरुद्धार में ही बीता है। मुझे अपने सब कर्मों में अधर्म तथा असुरों का नाश कर सद्धर्म की संस्थापना और सत्पुरुष की प्रतिष्ठा बढ़ाने की इच्छा माला के तार की तरह पिरोई हुई प्रतीत हुई है।

"इसलिए अर्जुन, मैं निःसङ्कोच यह समझता हूं, कि मैं विष्णु का ही अवतार हूँ। परमात्मा का जो कुछ सगुण-सङ्कल्पात्मक-स्वरूप मुझमें प्रतीत होता है, वह इस वैष्णवी संकल्प से ही बना हुआ है।

"इस प्रकार धर्म-मर्यादा को स्थापित और पोषित करनेवाला विष्णुपन ही मेरा स्वभाव होने के कारण, जहाँ-जहाँ यह विष्णु का अंश है तहां-तहाँ मेरा जन्म है, इसमें कहना ही क्या है?

"इस प्रकार सूर्य का उपदेष्टा और सूर्य को धर्म-मार्ग में प्रेरित करनेवाला मैं ही अर्थात् वही संकल्प था, और तुझे उपदेश देनेवाला भी मैं ही अर्थात् वही महासंकल्प हूँ। ॥४—८॥

"प्रियवर, मथुरा में हुए मेरे जन्म को और गोकुल, वृन्दावन, द्वारका

इत्यादि में किये गये मेरे कर्मों को तो तू जानता ही है। इस तरह तू मेरा सारा जीवन-चरित्र जानता है। किन्तु इस प्रकार मेरे जीवन-चरित्र को जानने से भी तू मुझे अधूरा जानता है, यह मान। वास्तव में मैं जो संकल्पमय हूँ उसको पहचानकर, वह जहाँ-जहाँ प्रतीत हो, वहाँ-वहाँ समझना चाहिए कि मेरे जन्म और कर्म का रहस्य जाना गया है। इसी प्रकार यदि तू अपने जीवन के मूलस्थ स्थिर संकल्प को पहचान सके तो तू अपने भी अनन्त जन्मों को पहचानता है यह कहा जा सकेगा।

"किन्तु, अर्जुन यह काम अत्यन्त दुष्कर है। चञ्चल और अशुद्ध-चित्त पुरुषों के संकल्प इतने विविध विरोधी और असंख्य होते हैं कि इनमें से अपने स्वभावभूत स्थिर संकल्प को पहचानना लगभग असम्भवसा है। उनके लिए तो मेरी—विष्णु की—भक्ति और आश्रय, मेरा अनुकरण करने का प्रयत्न और इस प्रकार अपने अशुद्ध सङ्कल्पों को पछाड़ कर मेरे संकल्प को ही अपना संकल्प बना. विष्णु-पद प्राप्त करना—यही श्रेय का मार्ग है। इस प्रकार अनेक राग-द्वेष-विजित, तपस्वी भक्त और ज्ञानी पुरुष विष्णु पद पा गये हैं, और अपने व्यक्तिगत अशुद्ध संकल्पों को छोड़ देने से परवशता के कारण आने वाली जन्म-मरण की घट-माल से छूट गये हैं। ॥९—१०॥

"धनञ्जय, परमात्मा के आश्रय पर स्थित यह महान् वैष्णवी संकल्प शुद्ध, सत्त्वगुणी और स्थिर होने के कारण जो शुद्ध-चित्त पुरुष इसके साथ एकरूप होने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें वैसा फल मिलता है, और उससे उन्हें सुख होता है। वैसे तो जो इस सकल्प के बदले दूसरे क्षुद्र और अशुद्ध संकल्पों के साथ एकरूप होते हैं, उन्हें भी अपने संकल्पों के अनुसार फल मिले

श्लोक ११—१२

बिना नहीं रहता। क्योंकि अन्ततः शुद्ध अथवा अशुद्ध सब कामनाएं तथा संकल्प इस सत्य-स्वरूप परमात्मा के आश्रित ही हैं, और इस परम-देव से ही मनुष्य अपने कर्मों की सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

"किन्तु पार्थ, इस परमदेव को न पहचानने के कारण, मनुष्य, अपने विविध संकल्प जिस गौण शक्ति के आश्रित होते हैं, उसीको सर्वस्व मानकर उसीका आश्रय लेते हैं, और उसके द्वारा अपनी तात्कालिक कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करते हैं।

"कौन्तेय, आम का वृक्ष वर्षों के बाद फल देना आरम्भ करता है और अनेक वर्षों तक देता रहता है। किन्तु वह फल देना आरम्भ करे इसके पहले धैर्यपूर्वक उसका पोषण करना पड़ता है। किन्तु मेथी का शाक पन्द्रह-बीस दिन में उग निकलता और माली को तृप्त करता है। इस प्रकार मेथी का शाक शीघ्र फल दायक होता है, किन्तु वह फल अल्प-काल में ही नाश को प्राप्त होता है। इसी प्रकार शुद्ध कामनाओं की सिद्धि तत्काल होती हुई प्रतीत होती है, और उन्हें सिद्ध कर देनेवाली शक्तियाँ आकर्षक दिखाई देती हैं, फिर भी दीर्घ दृष्टि से देखनेवाले के लिए मेथी के शाक की तरह अल्प-मूल्य हैं। ॥११-१२॥

"अर्जुन, पृथ्वी पर मानव-समुदाय के यथावत् पालन-पोषण और संवृद्धि के लिए मैं किस प्रकार कार्य करता हूँ, यह मैंने जिस प्रकार गुण और कर्म के भेद से वर्ण-व्यवस्था प्रवर्तित की है, उससे जाना जा सकता है। समाज की उचित रूप से संरक्षा और संवृद्धि होने के लिए ही मैंने यह वर्ण-व्यवस्था बनाई है।

श्लोक १३-१४

" किन्तु महारथी, कदाचित् तू यह आक्षेप करता कि मैंने अर्थात् इस घनश्याम वर्ण के देवकी-वसुदेव के यहाँ जन्म लेकर नन्द-यशोदा

के यहाँ पालित-पोषित कृष्ण नामधारी पुरुष ने यह वर्ण-भेद निश्चित किये हैं। पर वास्तव में मेरे कथन का यह आशय नहीं है। तुझे यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि ऐसा नहीं हुआ, किन्तु कदाचित् तेरी ऐसी कल्पना हो कि पहले मैं जो विष्णु हूँ, उसके अवतारस्वरूप किसी समर्थ पुरुष ने सब लोगों के चार जत्थे कर उन्हें चार वर्णों के नाम से सम्बोधित किया होगा और इस व्यवस्था के अनुसार आचरण करने की लोगों को आज्ञा दी होगी। किन्तु अर्जुन, यह कल्पना सर्वथा असत्य ही है।

"यह व्यवस्था मैंने बनाई है, इसका अर्थ मैंने अथवा मेरा पूर्व-अवतार समझा जाय ऐसे किसी व्यक्ति ने बनाई है, यह न समझना चाहिए।

"पार्थ, मैंने अपने को विष्णु-रूप कहा, क्योंकि मेरे समस्त जीवन की रचना विष्णु-रूप सङ्कल्प से ही बनी है। संसार का उचित रीति से पालन करने और उसे धर्म-पथ पर रखने के सिवा मेरे जीवन की कोई दूसरी सङ्कल्प-शाखा है ही नहीं। मेरा यह संकल्प इतना दृढ़ और बलवान है कि यह मेरा सहज स्वभाव —मेरा प्रकृतिजन्य स्वधर्म —ही है। यदि मैं किसीका संहार करता दिखाई दूं, तो उस संहार-कार्य में भी मेरा उद्देश्य धर्म की रक्षा और संसार का पालन ही होगा। मुझे ऐसा उद्देश्य सोच-समझ कर रखना पड़ता है, सो बात भी नहीं। यह तो जिस प्रकार मनुष्य को अपनी पलक बन्द करने का विचार ही नहीं करना पड़ता, वह उसको खुली रखने का निश्चय करे तो भी आँख की रक्षा के लिए स्वभाव से ही बन्द हो जाती है, उसी प्रकार मेरे अकल्पित कार्यों के परिणाम-स्वरूप भी वैष्णव-संकल्प को ही सिद्धि होती है।

" फिर भी, मैंने अथवा मेरे जैसे ही किसी पूर्वावतार-व्यक्ति ने यह वर्णव्यवस्था नहीं बनाई है। इस प्रकार इस वर्णव्यवस्था का कर्तृत्व मेरा अथवा मेरे जैसे किसी व्यक्ति का नहीं है।

"तब अर्जुन, इस वर्ण-व्यवस्था की रचना में मेरा क्या हिस्सा है, वह सुन।

"चतुर मित्र, मैं अपनेको विष्णु कहता हूँ; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वैष्णवी संकल्प अकेले मुझमें ही है, अथवा जब-तब किसी एकाध व्यक्ति में ही होता है। यह समझ कि मैं तो इसका महासागर हूँ। किंतु अंशतः तो यह वैष्णवी संकल्प प्राणिमात्र में रहता है। अनेक कामनाओं से घिरे हुए प्राणियों में यह संकल्प अधिक बलवान रूप में दिखाई नहीं देता, फिर भी वह है तो सही। कारण कि विघ कामनाओं के रहते हुए भी प्राणिमात्र संसार की व्यवस्थित रक्षा और संवृद्धि चाहते रहते हैं।

"ऐसा होने के कारण सुसंस्कृत आर्यों ने, इस संकल्प की छाया में जनता के धर्म-पालन का यही उचित मार्ग है, यह मानकर सहज-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था बनाई है और उसके स्वरूप में बारम्बार परिवर्तन किये हैं, भविष्य में भी करते रहेंगे, अथवा कालान्तर में यदि यह प्रतीत होगा कि यह व्यवस्था जनता की संवृद्धि के लिए ठीक काम नहीं देती, तो इससे भिन्न प्रकार की व्यवस्था की भी रचना करेंगे।

"यह संभव है कि इस व्यवस्था को भिन्न-भिन्न रूप देने में मुझ जैसे किसी व्यक्ति की स्पष्ट विचार-सरणि और दूरदर्शी सलाह सहायक हो। फिर भी, उक्त रचना किसी एक व्यक्ति की नहीं, वरन् जनता में रहनेवाले वैष्णवी संकल्प की ही है।

"ऐसा होने के कारण मैंने इस वर्ण-व्यवस्था का कर्ता जो अपने-

को बतलाया, वह स्थूल अर्थ में नहीं, वरन् लाक्षणिक अर्थ में ही है, यह समझ।

"फिर, दूसरी तरह भी मैं इस वर्ण-व्यवस्था का कर्ता नहीं हूँ।

"अर्जुन, स्यमन्तक मणि के गुण-धर्म तूने सुने हैं। तू जानता होगा कि इस मणि को थाली में रखकर सूर्य की किरणों के प्रकाश में रक्खा जाय तो सन्ध्या तक वह थाली सोने से भर जायगी।

"जिसे इस प्रकार स्वर्ण मिलता है, वह स्वर्ण की कामना वाला होने के कारण सूर्य की पूजा करता है, और यह मानता है कि सूर्य अपने खास अनुग्रह से अपने भक्त को स्वर्ण देता है। उसके ऐसा मानने में कुछ आश्चर्य नहीं है। भय और लालसा से घिरा प्राणी जिस तरह भी चाहे कार्य-कारण सम्बन्ध जोड़ देता है। किन्तु अर्जुन, यदि तू सूर्य से उसकी दान-शीलता के सम्बन्ध में पूछने जायगा, तो वह उस विषय में किसी प्रकार का उत्तरदायित्व स्वीकार न करेगा। वह तो यही कहेगा कि 'मेरी किरणों में स्वर्ण उत्पन्न करने के गुण-धर्म मौजूद हैं और स्यमंतक मणि में इन किरणों को खींचकर उन्हें स्वर्ण में परिवर्तित कर देने के गुण विद्यमान हैं, इसलिए ऐसा सहज ही हो जाता है। मैं तो अपने स्वभाव से जिस प्रकार तपता हूँ, उसी प्रकार सदैव तपता रहता हूँ। मेरी उष्णता और उदयास्त का जिसे जिस प्रकार उपयोग करना होता है, कर लेता है। मैं उसका कर्तृत्व-भार अपने सिर क्यों लूँ? पृथ्वी के प्राणियों में न तो मुझे कोई प्रिय है न कोई अप्रिय, न कोई मान्य है न अमान्य। मैं किसीको स्वर्ण देता नहीं, न किसीका छीनता ही हूँ। मेरे निमित्त से ऐसा होता भी हो, तो वह कहाँ होता है यह जानने की भी मैं परवा नहीं करता।'

"और अर्जुन, जिस प्रकार सूर्य स्वर्ण देने का भार अपने सिर नहीं

लेता, उसी प्रकार यदि तू स्यमंतक मणि से पूछेगा तो, यदि वह समझदार होगा तो, वह भी स्वयं स्वर्ण बनाने का अभिमान स्वीकार नहीं करेगा। वह कहेगा, 'स्वर्ण बनाने का उत्तरदायित्व मेरा नहीं है। कितना सोना बनाते हैं और उसे कौन ले जाता है यह जानने की मुझे परवा भी नहीं। न तो मैं यह इच्छा करता हूँ, कि स्वर्ण बने, न मैं यह इच्छा ही करता हूँ कि वह न बने। सब देवों के देव, सब शक्तियों के मूल परमात्मा ने मेरी रचना ही ऐसी की है कि सूर्य-किरणों के प्रकाश में मुझे रक्खा जाय, तो जिस प्रकार लोह-चुम्बक की ओर लोहा स्वयं खिंचा चला आता है उसी प्रकार प्रकृति में रहा सोना मेरी ओर खिंच आता है। इसके लिए मुझे न तो कुछ प्रयास करना पड़ता है, न कोई सङ्कल्प करना पड़ता है। इसलिए, इस स्वर्ण का निर्माण करनेवाला मैं नहीं हूँ, वरन् वह स्वयं ही बन जाता है।

"अर्जुन गन्ने के पौर और निम्बोली को जमीन में नजदीक-नज़दीक बोया जाय, तो क्या वह भूमि गन्ने में मीठा और निम्बोली में कड़वा रस उत्पन्न करने का कुछ पक्षपात अथवा विचार तक करती है? भूमि में सब प्रकार के रस निर्माण करने वाले तत्व विद्यमान हैं, उनमें से प्रत्येक मूल अपने योग्य तत्व खींच लेता है। फिर, गन्ना मीठा और नीम कड़वा ही रस खींचते हैं, इसमें उनका भी कुछ बलाबल नहीं, प्रत्युत् उनका प्रकृति धर्म ही है।

"इसी प्रकार, प्राणिमात्र में रहे सर्व संकल्पों के आधार-रूप, सर्व-संकल्पों से परे जो केवल चैतन्य-रूप आत्मभाव है, उसकी दृष्टि से विचार करते हुए, सृजन, पालन एवं संहार ये तीनों काम एकसमान ही महत्व के और एकसमान ही उपेक्षा करने योग्य हैं। एक संकल्प सिद्ध हो और दूसरा निष्फल हो, यह इसमें कल्पना तक नहीं। किन्तु प्रत्येक

चित्त अपनी-अपनी रचना के अनुसार इस चैतन्य के बल से यथोचित वासनाओं को अपने में खींचकर उसके छोटे अथवा बड़े सरोवर के समान बन जाता है, और तदनुसार क्रियायें करता हुआ प्रतीत होता है।

"फिर, इस प्रकार प्राणी जो कुछ करता है उसमें दीर्घ दृष्टि से देखने पर उसकी इच्छापूर्वक पसन्दगी रही हो, यह भी मालूम नहीं पड़ता। प्रत्येक प्राणी अपने चित्त की रचना के अनुसार अनायास ही तदनुसार करता है। किन्तु समुचित निरीक्षण के अभाव में वह उनके कर्तृत्व का आरोपण अपने पर करता है।

"अर्जुन, इस प्रकार यह विष्णुपद मेरा आत्मभाव नहीं है, वरन् मेरे साथ जुड़े चित्त का ही सहज-धर्म है, यह समझना। इसलिए वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने और अधर्म क नाश एवं धर्म की संस्थापना के लिए मुझमे हुए प्रयत्नों का मैं कर्ता होते हुए भी अकर्ता ही हूँ।

'इस प्रकार इन कर्मों मे' संलग्न दिखाई देता हुआ भी, अपने ज्ञान-भाव से इन कर्मों के लिए मुझे अभिमान का स्पर्श तक और इनकी सिद्धि-असिद्धि के प्रति ज़रा भी आसक्ति नहीं है, और इसलिए मैं इन कर्मों से सदैव अलिप्त ही रहता हूँ।

"अर्जुन, मेरा ऐसा आत्मस्वरूप है और तेरा नहीं, सो बात भी नहीं है। यदि तू इस दृष्टि में स्थिर हो जाय तो तू भी वही है। जो इस दृष्टि में स्थिर हो जाता है, उसे कर्म का बन्धन मालूम नहीं होता।

"इस प्रकार जो आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह पहचानते है, वे निर-भिमान रहते हैं और अपने चित्त को कर्म से बँधने नहीं देते।"॥१३-१४॥

श्लोक १५

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनेमें और विश्व में व्याप्त आत्मभाव की एकता, तथा विष्णु देव किस प्रकार अपनेमें तथा विश्व व्याप्त हो रहा है यह समझाया, साथ

हो। पुनर्जन्म का और अवतारों का दृष्टि-बिन्दु समझाया, और अपना प्रतिपादित कर्मयोग किस प्रकार सनातन है, यह दर्शाया।

इतना विवेचन करने के बाद, स्वयं (पिछले अध्याय के ३५ वें श्लोक में) स्वधर्माचरण पर जो जोर दिया था, उसी विषय को फिर उठा लिया और अर्जुन उसे पूर्णतया और निःसंशय रूप से समझ ले, इस उद्देश्य से उसे बार-बार स्पष्ट करने लगे।

श्रीकृष्ण ने कहा—"अर्जुन, आजतक जितने भी मुमुक्षु पुरुष होगये हैं, उन्होंने इस प्रकार अपनी प्राकृतिक रचना पहचानकर उसका अनुसरण कर अपना धर्म खोजा है, और उस धर्म का शुद्ध, विवेकपूर्वक, कुशलतापूर्वक, समतापूर्वक और निश्चयपूर्वक आचरण, करके ही अपना श्रेय साधा है। यदि तू अपना श्रेय चाहता हो तो तू उन पूर्वजों के मार्ग पर ही चल और उनकी तरह कर्माचरण में तत्पर हो" ॥ १५ ॥

वासुदेव के ये वाक्य सुनकर अर्जुन फिर विचार में पड़ गया। अभी उसके मनका समाधान हुआ दिखाई नहीं दिया।

श्लोक १६–१७ वह ज्यों-ज्यों अधिक विचार करता था, त्यों-त्यों मानों अधिकाधिक उलझन में पड़ता जाता था। उसके मनकी अस्वस्थता भिन्न-भिन्न शंकायें उत्पन्न करती रहती थी। कर्म से मोक्ष होता है अथवा अकर्म से, इस विषय में उसका मन अभी शंका-रहित नहीं होता था। इसलिए उसने पूछा—

"जनार्दन, आप कहते हो कि आप जिस कर्मयोग का उपदेश करते हैं वह सनातन है, विश्व-व्यापक है और पूर्व में जो-जो मुमुक्षु

होगये हैं, उन्होंने उसीका आचरण किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह मैं कुछ-न-कुछ नई ही बात सुन रहा हूँ।

"वासुदेव, यद्यपि अभीतक मैं तत्त्वज्ञान में गहराई से नहीं उतरा हूँ, अपनी अस्त्र-शस्त्र विद्या में ही संलग्न रहा हूं, फिर भी धर्मराज की सत्समागम सम्बन्धी अत्यधिक रुचि के कारण अनायास ही मुझे अनेक विद्वानों, ऋषियों तथा संन्यासियों की चर्चा सुनने के अवसर मिले हैं। मैंने कर्मकाण्डी मीमांसकों को यज्ञ-यागादि की महिमा गाते हुए और इसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है यह कहते हुए सुना अवश्य है। किन्तु दूसरे विद्वानों के मुँह से मैंने सुना है और आपका भी यही आशय मालूम होता है कि उत्तममार्ग तो केवल कामनाओं की सिद्धि का, भोग प्राप्ति का और स्वर्ग, नर्क, और पृथ्वी इन तीनों के बीच चक्कर खिलाने वाला है।

"इसके विपरीत, ज्ञानमार्गी विद्वान कर्म को बन्धन-रूप बतलाते हैं और श्रेय के बीच रात-दिन का-सा विरोध दर्शाते हैं। वे अकर्म का ही उपदेश करते हैं और निश्चयपूर्वक कहते है कि नैषकर्म सिद्धि के बिना मोक्ष सम्भव ही नहीं है।

"तब क्या आप एक नया ही सम्प्रदाय स्थापित करना चाहते हैं? किन्तु यदि नया हो, तो वह सनातन है ऐसा किसलिए कहते हो? मैं मीमांसकों का आशय समझ सकता हूँ, ज्ञान मार्गियों का समझ सकता हूँ किन्तु आपका आशय कुछ मेरी समझ में नहीं आता। इसलिए मै आपसे उसे फिर स्पष्ट करने की प्रार्थना करता हूं।"

सच्चे शिष्य की शङ्काओं का समाधान कर उसे अपने समान ही निःसंशय प्रतीति वाला और स्पष्ट द्रष्टा बनाना ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु का जीवन-व्रत ही होता है। इस लिये, वे न तो प्रश्नों से उकताते ही हैं, और न उत्तर देने में धैर्य ही खो बैठते हैं। जिस प्रकार शिवि राजा जैसे सच्चे

कर देना कुछ भार-रूप प्रतीत नहीं हुआ, उसी तरह सद्गुरु को अपने शरणागत शिष्य को सद्मार्ग पर ले जाने के लिए जो परिश्रम करना पड़ता है वह भार-रूप प्रतीत नहीं होता।

इसलिए, या तो अर्जुन का प्रश्न विषय को पुनः नये सिरे से छेड़ता हो अथवा मानो उस विषय में उन्होंने कुछ बताया ही न हो, इस प्रकार शान्ति और धैर्यपूर्वक श्रीकृष्ण ने उसका उत्तर देना प्रारम्भ किया। वह बोले :—

"कौन्तेय, कर्मवाद और अकर्मवाद के इस चक्र में तेरी बुद्धि इस प्रकार उलझन में पड़ जाय तो मुझे यह कुछ आश्चर्यजनक बात नहीं प्रतीत होती। तेरी अपेक्षा बहुत अधिक विद्वान पुरुषों को मैंने इस विषय पर निःसार शास्त्रार्थ करते हुए सुना है।

"अर्जुन, यह सच है कि शास्त्र सामान्य मनुष्यों को सच्चा जीवन बिताने के लिए मार्ग-दर्शक होते हैं। किन्तु उनका निर्माण स्वयं सच्चा जीवन बितानेवालों के अनुभव से होता है, और उनका रहस्य भी, शास्त्रों से ही प्रेरित होकर नहीं प्रत्युत् स्वभावतः सच्चा जीवन बिताने का सबल प्रयत्न करनेवाले मनुष्य ही सच्ची तरह समझ और समझा सकते हैं।

"किन्तु जिस मनुष्य में स्वभाव से ही सत्य-जीवन के प्रति अत्यन्त अनुराग नहीं होता, बल्कि असत्य जीवन में भी रुचि रहती हो, किन्तु शास्त्रों के अध्ययन एवं श्रवण से अथवा भय एवं लालसा से थोड़ा बहुत सत्यजीवन का अनुसरण करता हो, तो यदि वह छहों अङ्गों सहित वेद का जाननेवाला हो और इनके सिवा दूसरे भी शास्त्र पढ़ा हुआ हो तो भी वह शास्त्र का रहस्य समझने में समर्थ नहीं होता।

"अर्जुन, मनुष्यों की सहज प्रवृत्ति शास्त्रों का अर्थ अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल करने की ओर होती है, और शास्त्रों में व्यवहृत शब्दों के अर्थ

सत्य जीवन बिताये हुए अथवा बितानेवाले किसी महात्मा के प्रत्यक्ष जीवन पर से निश्चित करने के बदले भाषा और व्याकरण के नियमों से निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं और उनमें जो-जो अर्थ सूझ सकते हैं वे अर्थ करके उसे जीवन का नियम बनाने के लिए हाथ-पैर मारते हैं। इसमें से स्वधर्म की विरोधी प्रवृत्तियों का निर्माण होता है।

"किन्तु, इस प्रकार प्रकृति-विरोधी प्रवृत्तियों के निर्माण का प्रयत्न पूर्णतः तो कभी सफ़ल होता ही नहीं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, प्रवृत्ति इतनी सबल है कि अंत में मनुष्य अपने स्वभाव पर ही जाता है। मुँह से वह संन्यास का प्रतिपादन करता है, किन्तु व्यवहार में भोगासक्त अत्यधिक सांसारिक व्यक्ति की अपेक्षा भी निकृष्ट संसारी बनता है।

" भाषा और व्याकरण से ही शब्दों का अर्थ बिठाने में कितनी गड़बड़ होती है, इसका एक उदाहरण देता हूँ—मान लो कि 'सूर्यदेव के कठोर करों से लोग बहुत अकुला गये' ऐसा एक वाक्य हो, और इतिहास का शोध करने का उत्सुक कोई विद्वान भाषाशास्त्र द्वारा इसका यह अर्थ लगावे कि सूर्यदेव नाम का कोई राजा जनता से बहुत अधिक राज्य-भाग—कर—लेता था इससे वह अकुला उठी, और फिर वह राजा कब हुआ, किस वंश में हुआ। इत्यादि जानने के लिए तर्क दौड़ावे तो वह कितना हास्यास्पद होगा ?

"अर्जुन, यह उदाहरण तुझे अतिशयोक्ति पूर्ण प्रतीत होता होगा, किन्तु पण्डितों की शास्त्र-चर्चा इसी कोटि की होती है, इसमें जरा भी असत्य नहीं। कर्म अकर्म के सम्बन्ध में उनकी शास्त्रार्थ पद्धति इसी प्रकार अनुभव से रहित, केवल शब्द-स्पर्शवाली और मनस्वी तर्क से पूर्ण होती है। इससे वे स्वयं उलझन में पड़ते हैं और दूसरों को भी उलझन में डालते हैं।

"यदि पण्डितों से कर्म-अकर्म का अर्थ पूछा जाय, तो वे कहेंगे कि कर्म शब्द 'कृ' धातु से उत्पन्न हुआ है और इसका अर्थ करना होता है। इसलिए कर्म का अर्थ है जो करने से निर्माण हो : इसके विपरीत, वे कहेंगे कि, अकर्म का अर्थ है जो न करने से निर्मित हो।

"फिर वे कहेंगे कि शास्त्र में कहा है कि कर्म से बन्धन होता है और अकर्म से मोक्ष। इसलिए कुछ भी करना बंधन का निर्माण करनेवाला है और कुछ न करना मोक्ष का।

"किन्तु अर्जुन, यह अर्थ केवल व्याकरण-ज्ञान से किया हुआ, अनुभव शून्य तथा अपूर्ण है। कर्म-अकर्म का भाव इससे भिन्न ही है। इसलिए यह सब मैं तुझे विस्तारपूर्वक समझाऊँगा।

"अर्जुन, जनता के और शास्त्रों के व्यवहार में कर्म और अकर्म शब्द अपनी व्युत्पत्ति की मर्यादा में नहीं रह गये हैं, वरन इनके अर्थों में बड़ा परिवर्तन होगया है। उदाहरणार्थ, यदि तू किसी मीमांसक से पूछेगा, तो वह कहेगा कि मीमांसकों के धर्मशास्त्र में जो आचरण स्वीकृत किये गये हों वह कर्म और उसमें जो अस्वीकृत हों, वह अकर्म है। उदाहरणार्थ, वे कहेंगे कि यज्ञोपवीत को अपसव्य (बायें कन्धे से दाहिने कन्धे पर) करके पितृ को पिण्ड दिये गये हों तो वह कर्म है, किन्तु यदि उसे सव्य (बायें कन्धे पर) रखकर दिये गये हों तो उस क्रिया के होने पर भी वह अकर्म है। इस प्रकार मीमांसक कर्म और अकर्म का अर्थ केवल आचरण और उसका अभाव नहीं करते, प्रत्युत् धर्मशास्त्र में स्वीकृत आचरण कर्म और शेष सब अकर्म है यह करते हैं।

"इस प्रकार मीमांसकों ने कर्म और अकर्म शब्द विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त किये हैं। परिणाम यह हुआ कि इन मीमांसकों के जीवन में

यज्ञ-यागादि ने अत्यधिक महत्त्व का स्थान लेलिया और इनका आडम्बर इतना बढ़ गया कि वही जीवन का मुख्य धन्धा बन गया। उनमें तारतम्य नहीं रहा, संकुचितता बढ़ गई, उनके विधि-निषेध अटपटे और सर्वसाधारण के लिऐ अगम्य बन गये, इससे उनके करनेवाले पुरोहितों का एक जुदा वर्ग ही बन गया। एक समय लोगों की ऐसे यज्ञयागादि में अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण इन विधियों को समझनेवाले पुरोहितों का वे आदर करते थे, और ये पुरोहित भी अपने कर्मकाण्ड के ज्ञान से अभिमानी बनकर दूसरों को अपनेसे हीन समझते थे।

"किन्तु, कालान्तर में लोगों की इन कर्मकाण्डों के प्रति आस्था घटने लगी। शुद्ध चित्त के ब्राह्मण और क्षत्रियों को इनमें दम्भ और पेट भरने के पाखण्ड की गन्ध आने लगी। इनमें पग-पग पर सकामता तो प्रकट होती ही थी। इससे जनता का कुछ लाभ होता नहीं था, इसलिए वे समझने लगे कि यह तो केवल पुरोहितों के जीवन-निर्वाह का साधन ही है। इससे ऐसे कर्मकाण्ड के प्रति उनमें अश्रद्धा और कर्मकाण्डी के जीवन के प्रति विराग उत्पन्न होगया। ऐसे कर्म से जीवन का श्रेय नहीं होता, यह प्रतीत होने के कारण वे कर्म का निषेध करने और स्वयं इन कर्मों का त्याग करने लगे। इन कर्मों में आवश्यक माने गये उपवीत का भी त्याग कर उन्होंने इससे अपने को अलग कर लिया। इस प्रकार वे कर्म का खण्डन करनेवाले कहे जाने लगे और मीमांसक उन्हें अकर्मी या कर्म-हीन कहने लगे।

"किन्तु, अर्जुन, इस प्रकार कर्म का खण्डन और अकर्मण्यता कैसे कर्मों के सम्बन्ध में है, यह तू अब समझ सकेगा। कर्म के खण्डन का अर्थ सब आचरणों का निषेध नहीं, वरन् मीमांसकों के अधिकतर, राजस

और तामस कामनाओं से पूर्ण यज्ञादि का ही निषेध समझना चाहिए, यह तू ध्यान में रख।

"इस प्रकार कर्मकाण्ड के प्रति अश्रद्धाशील होने पर भी, जीवन का श्रेय प्राप्त करने की अत्यन्त उत्कण्ठा रखनेवाले संयमी और वैराग्यनिष्ठ ब्राह्मणों और राजर्षियों ने अपने को त्रिवर्ण से अलग कर लिया। इनके मन में त्रिवर्ण और शूद्रों के बीच ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं रहा था। इसलिए इन महानुभावों के लिए सामान्य गृहस्थ-जीवन बिताना सम्भव भी न था और उसके लिए उनकी अभिलाषा भी न थी। सब प्राणियों के विषय में समबुद्धि रखनेवाले, भोग और ऐश्वर्य के प्रति वैराग्य रखनेवाले, अहिंसाधर्म का पालन करनेवाले, सत्य को जानने की अत्यन्त व्याकुलता रखनेवाले और उसके लिये ज्ञान की शोध में फिरनेवाले इन मुनियों के प्रति आरम्भ में समाज के त्रिवर्णों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ने प्रथम तो अनादर प्रकट किया, उन्हें मुण्डक इत्यादि तिरस्कार-सूचक शब्दों से सम्बोधित करने लगे और उन्हें संस्कार-भ्रष्ट मानने लगे।

"परन्तु, प्रियवर, इससे यह न समझना चाहिए कि वे किसी प्रकार का कर्म, अर्थात् आचरण करते ही न थे। इसके विपरीत, वे तो संकुचित कौटुम्बिक भावनाओं, तथा वर्ण और कर्मकाण्ड के अभिमान से मुक्त हो, सब प्राणियों के श्रेय के लिए, अत्यन्त निःस्वार्थ भाव से प्रयत्न करते थे। कौटुंबिक झंझटों से छुटकारा पा जाने से मिले हुए अवकाश का वे ज्ञान-प्राप्ति में, योगाभ्यास में, और धर्मोपदेश तथा दया-धर्म के कार्यों में उपयोग करने लगे। इस प्रकार वे अकर्मी हुए। इसका अर्थ यह नहीं कि वे निष्कर्म होगये बल्कि यही कि वे कर्मकाण्डी नहीं रहे।

"महात्माओ, यह बात संसार-प्रसिद्ध है कि यही मुनि अनेक दर्शनों और योग-प्रणालियों के प्रवर्तक हुए हैं। मुख्यतः इनमें से ही वेदान्त-वेत्ता हैं। ये सब कर्म नहीं तो और क्या हैं?

"कौन्तेय, कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र हुए इन मुनियों के प्रति, उनके चरित्र, निःस्वार्थ और अपरिग्रही जीवन तथा राग-द्वेष-रहित आचरण के कारण, अधिक समय तक उनका अनादर रहना सम्भव ही न था। वर्ण और आश्रम के अभिमान से परे होने के कारण शूद्र और अनार्य उन्हें अपना मित्र और उद्धारक समझें, इसमें तो कुछ आश्चर्य ही नहीं, किन्तु त्रिवर्णों के विचारवान पुरुष तथा भावनाशील सामान्य लोग भी आदर से उन्हें मानने और उनका अनुसरण करने लगे।

"इस प्रकार, कर्मकाण्ड को छोड़ने के कारण वे अकर्मी कहे जाते थे और ज्ञान की शोध में लगे हुए होने के कारण ज्ञानमार्गी भी कहे जाते थे। साथ ही, ज्ञान की शोध में ही उन्होंने सांख्यदर्शन रचा इसलिए वे सांख्यमार्गी के नाम से भी प्रसिद्ध हुए, और उनमें ही भिन्न-भिन्न प्रकार का योगाभ्यास भी होता था, इसलिए वे ही योगी भी कहलाये। इस प्रकार अकर्म का अर्थ होता है ज्ञान तथा सांख्ययोग हठयोग, राजयोग आदि समाधियाँ और योग की प्रवृत्तियाँ। परन्तु इन सबमें कुछ नहीं करना, यह अर्थ होता ही नहीं। इनमें केवल कर्मकाण्ड का ही अभाव निर्दिष्ट किया है।

"अर्जुन स्वयं जिस प्रवृत्ति को छोड़ दिया हो, उसे सर्वथा दोषरूप समझना और स्वयं जिसका आचरण करता हो उसे सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण समझना, यह बहुत-से मनुष्यों का स्वभाव ही होता है। तटस्थभाव से निष्पक्ष होकर विचार करने की शक्ति विरले ही पुरुषों में होती है। और इसलिए, परिणाम यह हुआ है कि मीमांसक कर्मकाण्ड

की और सांख्य ज्ञान अथवा अकर्मक की ही महिमा गाते हैं। किन्तु ऐसी अपूर्ण दृष्टि में ही अज्ञान का निवास होता है, और अज्ञान ही बन्धन का कारण होने से, वह अकर्मक समझा जाता हो तो भी कर्म की तरह ही बन्धनकारक होता है।

"इसलिए अर्जुन, यदि तुझे शब्द-जाल में उलझना न हो, तो तू कर्म, अकर्म आदि शब्दों के व्याकरण के नियमों से किये अर्थों को भूल जा और जैसा कि मैंने बताया है वैसे उसके अर्थों को ठीक समझ ले।

"प्रिय मित्र, गृहस्थियों के, मीमांसकों के, भक्तजनों के, तथा योगियों अथवा ज्ञानियों के जो-जो कर्म चित्त की शुद्धि करनेवाले हों, लोक-कल्याण करनेवाले हों, प्रजा का धारण-पोषण तथा धर्म और सत्य का स्थापन एवं अधर्म और असत्य का नाश करनेवाले हों— संक्षेप में कहा जाय तो, जो कर्म ऐसे हों कि जिनके प्रचार के लिए मुझ जैसे को बारम्बार अवतार लेने की इच्छा हो—उन्हें तू कर्म समझ। और, जो कर्म राग-द्वेष से ही होनेवाले, वासनाओं से भरपूर, जनता का अकल्याण करनेवाले, प्रजा को पीड़ित करनेवाले, अधर्म और असत्य का पोषण करनेवाले हों, जिनके विनाश के लिए मुझे अवतार लेने की इच्छा हो, उन्हें तू विकर्म जान।

"अब अकर्म क्या है, यह मैं तुझे समझाता हूँ।

"अर्जुन, कर्म एवं अकर्म शब्द अच्छे एवं हीन अर्थ में व्यवहृत होते हैं। विकर्म न करना यह अच्छे अर्थ में अकर्म है, किन्तु हीन अर्थ में कर्म (मान्य) है। क्योंकि इस निष्क्रियता में ज्ञान है, और विकर्म अज्ञान का परिणाम है। किन्तु मैं ऊपर कह चुका हूँ वैसे विकर्म ही हीन अर्थ में अकर्म (अमान्य) है।

"तदुपरान्त, अर्जुन, मेरे बताये हुए कर्म भी आसक्ति-युक्त और योग-रहित बुद्धि से भी होते हैं, और अनासक्ति , से योगपूर्वक (अर्थात् कुशलता और समता से), यज्ञार्थ और लोक-कल्याणार्थ भी होते हैं। योग-बुद्धि से ऐसे कर्म करनेवाला ज्ञानपूर्वक आचरण करता है, इस-लिए वह अच्छे अर्थ में अकर्म है। किन्तु, जो आसक्तिपूर्वक और योग-रहित बुद्धि से उन कर्मों को करता है, तो वे उसे बन्धनकारक होने के कारण हीन अर्थ में कर्म-रूप होते हैं। ॥१६-१७॥

श्लोक १८-२३

"इस प्रकार, अर्जुन, जो पुरुष कर्म और अकर्म को अच्छी तरह समझता है, वह योगयुक्त हुए सत्कर्मों में बन्धन नहीं देखता, इसलिए उन्हें अकर्म मानता है और सर्वथा निष्क्रियता में अज्ञान होने के कारण उसे बन्धन-कारक कर्म ही समझता है। ऐसे बुद्धिमान् पुरुष को किस प्रकार आचरण करना चाहिए यह बतलाना नहीं पड़ता। वह विकर्म न होने वाले सब कर्मों को योगपूर्वक करता है। ॥१८॥

"अर्जुन, जिस मनुष्य के आचरण सकाम सङ्कल्प से रहित हैं, जिसने कर्म के फलों में अपना दूर से भी कुछ भाग अथवा ममत्व नहीं रक्खा, जिसे कर्म के विषय में अपनी उन्नति के लिए भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा, जो सर्वथा निरावलम्ब स्थिति में मुक्त और स्वतन्त्र रूप से आचरण करनेवाला है, उसके भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में भली प्रकार संलग्न रहने पर भी, वह इन कर्मों के, जन्म-मरण उत्पन्न करने वाले अङ्कुर को अपनी ज्ञान-रूप अग्नि से जला डालता है। इसलिए, उसे कुछ कर्म भोगने नहीं रहते, और स्थूल रूप से सब कुछ करते हुए भी, वह कुछ नहीं करता, यह कहा जा सकता है। ॥१९-२०॥

"यह तृष्णा-रहित संयम चित्त को वश करनेवाला और ममत्व से

किसी प्रकार का संग्रह न करनेवाला होने के कारण स्थूल दृष्टि से जो आचरण करता है, उससे उसे कुछ दोष नहीं लगता। ||२१||

"जिस क्षण जो सुख-दुःख, लाभ-हानि आ पड़ती है, उसे वह शान्ति से सहन करता है, राग-द्वेष से परे रहता है, सिद्धि से फूल नहीं उठता और असिद्धि से निराश नहीं होता, आसक्ति से किसी पदार्थ से चिपकता नहीं और स्वतन्त्र एवं ज्ञान-दृष्टि से विचार करनेवाला है। और, इसलिए, वह जो कुछ करता है, यज्ञ की भावना से ही करता है। इसलिए जिस प्रकार यज्ञ में डाली हुई आहुति जल जाती है, उसी तरह इसके कर्म जल जाते हैं, और उसके लिये बन्धनकारक नहीं होते।" ||२२-२३||

श्रीकृष्ण का उपर्युक्त कथन सुनकर अर्जुन के मन में फिर एक शङ्का उत्पन्न हुई। वह बोला—

"माधव, ज्ञानी यज्ञार्थ में जो कुछ कर्म करता है, उनके लय होजाने का कारण क्या है? और वे ही कर्म अज्ञानी करे, तो

श्लोक २४

वे बन्धनकारक क्यों होजाते हैं? केशव, एक ही कर्म ज्ञानी के हाथ से हो अथवा अज्ञानी के हाथ से, उसके परिणाम में अन्तर क्यों होता है? क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता तो मालूम होता नहीं, इसलिए क्या यह केवल श्रद्धा से ही मान लेने की बात है? ज्ञानी यदि अधिक खा ले तो क्या उसका पेट न दुःखेगा? और यदि दुःखेगा, तो उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा न? और यदि अज्ञानी भूल से अमृत पी ले, तो क्या वह अमर न होगा? अथवा, क्या ज्ञानी का बाण हृदय में लग जाय तो प्राण ले ले और अज्ञानी का लगे तो न लेगा? अवश्य लेगा, इसमें कुछ

शङ्का नहीं होती। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से देखने से तो यही मालूम होता है कि कर्म करनेवाला ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी उसका फल तो कार्य-कारण के नियम से जो हो सकता है वही होगा। इसलिए यज्ञ किया हुआ कोई कर्म ज्ञानी के लिए बन्धन-रूप नहीं होता, तो वह अज्ञानी के लिए भी बन्धनकारक नहीं होना चाहिए, और यदि अज्ञानी के लिए वह बन्धनरूप होता है, तो ज्ञानी के लिए भी हुए बिना न रहेगा। तब कर्त्ता के ज्ञान-अज्ञानपन के कारण उनके परिणाम में किस प्रकार का अन्तर पड़ता है, कृपाकर यह आप मुझे समझाइए।"

अर्जुन की इस तरह की शङ्का सुनकर श्रीकृष्ण बोले :—

"धनञ्जय, तूने यह उत्तम प्रश्न किया है। क्योंकि, इससे मैं अब तुझे यज्ञ-कर्म और दूसरे कर्मों का भेद, साथ ही कर्ता के आशय से कर्म के परिणामों में क्या अन्तर पड़ता है यह अच्छी तरह समझा सकूँगा। और इससे तू ज्ञान-रहित क्रिया-कर्म कितना अल्प हो जाता है यह भी जान सकेगा।

"अर्जुन, बीज में अङ्कुर उत्पन्न होता है, तब आरम्भ में कम-से-कम दो और बाद में अनेक शाखायें उत्पन्न होती हैं, किन्तु अकेली नहीं फूटतीं। उसी प्रकार कर्म का कभी एक ही परिणाम नहीं होता, प्रत्युत् छोटे-से-छोटे कर्म करने पर भी अनेकविध परिणाम होते हैं और उनसे फिर अनेक परिणाम उत्पन्न होकर उनकी एक लम्बी परम्परा हो जाती है। युद्ध में किसी योद्धा के बाण लग जाय तो उसका असर केवल उसके शरीर पर ही होकर नहीं रह जाता, प्रत्युत् आसपास के योद्धाओं के मन पर भी होता है। इसके सिवा, उसकी मृत्यु का जो असर उसके पक्ष पर या उसके कुटुम्बियों पर होगा, उसके प्रतिपक्षियों पर उससे उल्टा ही होगा, और दूसरे क्या-क्या परिणाम होंगे,

यह कहा भी नहीं जा सकता। इस प्रकार कर्म सुख-दुःख-मिश्रित अनेक परिणाम उत्पन्न करनेवाले होते हैं, यह बात तू ध्यान में रख।

"इसके सिवा अर्जुन, ये परिणाम दो तरह के होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। कोई मनुष्य भूखे को तिरस्कारपूर्वक और तुच्छभाव से अन्न दे तो इससे भी उसका पेट भरता ही है और कोई आदरपूर्वक प्रेमभाव से दे तो उससे भी भरेगा ही। इस प्रकार स्थूल रूप से इसका परिणाम एकसा ही हुआ मालूम होता है, और कर्ता के मनोभाव का उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु इन दो समान दिखाई देती हुई क्रियाओं का असर देनेवाले और लेनेवाले के मन पर जुदा-जुदा होता है, और इससे उनके चित्त में भिन्न-भिन्न संस्कार पोषित होते हैं। अर्जुन, यह स्पष्ट है कि तुच्छ भाव से और तिरस्कारपूर्वक देने वाले का मन अपने कर्म से मिथ्याभिमानी बनकर उसके चित्त को विशेष अशुद्ध करता है और प्रेमभाव से तथा आदर-पूर्वक देनेवाले के चित्त को शुद्ध करता है। उसी प्रकार अनादर-पूर्वक दिये हुए दान से लेनेवाले को लाभ होते हुए भी सन्तोष नहीं होता और देनेवाले के प्रति कृतज्ञता प्रतीत नहीं होती; इसलिए ऐसा दान लेनेवाले के चित्त को भी शुद्ध नहीं करता। किन्तु प्रेमपूर्वक दिये हुए दान से लेनेवाले के हृदय में देनेवाले के प्रति कृतज्ञता उत्पन्न होती है और सन्तोष होता है। इस प्रकार आशय अथवा ज्ञान के भेद के कारण एक ही प्रकार के प्रतीत होते हुए कर्म के सूक्ष्म परिणाम भिन्न होते हैं, यह तू समझ ले।

"अब महाबाहो, जिस प्रकार सूत्रधार की डोरी के बल पर नाचने-वाले सब पुतले लकड़ी के ही होते हैं और लकड़ी के घोड़े पर बैठा हुआ लकड़ी का सवार लकड़ी के बने शत्रु को मार डाले और पीछे लकड़ी के

बने हुए राजा के पास जाकर लकड़ी की तलवार पुरस्कार में प्राप्त करे, इसमें केवल आकृतियों का ही भेद है, वस्तु-भेद नहीं; और ये सब क्रियायें केवल कल्पना से ही समझनी होती है, उसी प्रकार, कौन्तेय, सच बात तो यही है कि इस विश्व में होनेवाली सभी क्रियायें, उनमें दिखाई पड़ते सभी भेद, इनके कर्त्ता, कर्म, कर्म के साधन, कर्म के उद्देश्य—सब वस्तुत: एक चैतन्यरूप ब्रह्म ही हैं, उसके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं, और इनमें दिखाई पड़ते भेद केवल बाह्य है, आन्तरिक नहीं।

"इससे, वास्तव में तो यज्ञ में होनेवाला अर्पण का कर्म, अर्पण का बलि,यज्ञ की अग्नि, अर्पण करनेवाला यजमान, और अर्पण का परिणाम तथा फल—यह सब एक ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही रहता है; इसमें कोई दूसरी वस्तु है नहीं और होती नहीं। ज्ञानपूर्वक यज्ञ करने वाले अथवा अज्ञानपूर्वक करनेवाले में वस्तुत: कुछ भेद होता ही नहीं।

"किंतु, अर्जुन, सूत्रधार के पुतले लकड़ी के हैं यह भूल जाने अथवा न जानने वाले प्रेक्षक के मन पर इन पुतलों का नाटक देखकर वीररस, हास्यरस आदि भिन्न-भिन्न रसों के भाव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इस विश्व का ब्रह्मत्व भूल जाने अथवा न जानने वाले जो कर्म करते हैं उनके और जो इनको ठीक तरह समझ कर कर्म करते हैं उनके चित्त पर उन कर्मों का परिणाम भिन्न-भिन्न हुए बिना नहीं रहता।

इसका यह अर्थ हुआ कि जो अपने कर्म की ब्रह्ममयता को पूर्णतः जानता है, उसीके चित्त पर उसके कर्म ब्रह्मार्पण बुद्धि के सिवा दूसरे संस्कार नहीं पैदा करते। किन्तु जिनमें विस्मरण से अथवा अज्ञान के कारण भेद-बुद्धि मौजूद है, उनके चित्त पर उनकी जैसी निष्ठा होती है वैसा ही संस्कार उत्पन्न करते हैं। ॥ २४ ॥

"अर्जुन, पानी में दूध डालने से पानी दूध की तरह सफेद हो जाता है और उसके स्वाद में भी अन्तर आ जाता है, किन्तु दूध में

दूध डालने से केवल दूध का प्रमाण ही बढ़ता है, रंग में अथवा स्वाद में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उसी प्रकार जिसके चित्त की पूर्णतया शुद्धि और ज्ञान में अखण्ड श्रद्धा सिद्ध नहीं हुई, उसके यज्ञार्थ किये कर्म उसके चित्त की उत्तरोत्तर शुद्धि करते रहते हैं और अन्त में उसे पूर्णतः शुद्ध कर देते हैं। किन्तु जिसका चित्त पूर्णतः शुद्ध हो चुका है, जो पूर्ण ज्ञानी है, वह सहज स्वभाव से जो यज्ञ कर्म करता है, उससे उसकी चित्त-शुद्धि में कुछ घट-बढ़ होना नहीं रहता, प्रत्युत् इन कर्मों से केवल लोकसंग्रह ही बढ़ता है। अर्थात्, इन कर्मों का अपने चित्त पर कुछ सूक्ष्म परिणाम होना शेष नहीं रहता।

"सव्यसाची कर्मों से कर्त्ता का जो बन्धन अथवा मोक्ष होता है, वह इन कर्मों के स्थूल परिणामों का कारण नहीं, प्रत्युत् उस के चित्त पर होने वाले सूक्ष्म परिणामों के कारण होता है। मैं जो पूर्णतया रागद्वेष-रहित हूँ, कर्त्तव्य आपड़ने पर, भीष्म जैसे का भी वध करूं, और दूसरा कोई सामान्य राग द्वेष से युक्त मनुष्य वध करे तो उससे भीष्म के प्राण जाने रूपी परिणाम तथा उसके कारण कौरव-सेना पर होनेवाला असर दोनों समान ही होंगे। किन्तु, उस वध से मेरे चित्त पर किसी प्रकार का अनुचित संस्कार उत्पन्न न होगा, इसलिए उससे मुझे कुछ बन्धन न होगा। किन्तु दूसरे के लिए वह घोर कर्म होगा और उसके चित्त को मलिन कर डालेगा। इस प्रकार कर्त्ता के ज्ञान अथवा अज्ञान के कारण कर्त्ता के अनुसार कर्मों के परिणामों में अन्तर पड़ता है, और इसीलिए, अर्जुन, इस युद्ध में तुझे जो अनेक कठोर और घोर प्रतीत होने वाले कर्म करने हैं, उनसे तेरे चित्त की रक्षा करने के लिए मैं तुझे योगयुक्त होने का उपदेश दे रहा हूँ।"

॥ २४ ॥

श्रीकृष्ण का उपर्युक्त वक्तव्य सुनकर और अधिक जानने की इच्छा से अर्जुन ने पूछा—

'यदुनाथ, आपने पहले मुझे समझाया था कि यज्ञ के सामान्य अर्थ में आपने विकास कर उस का विस्तार किया है। इस सम्बन्ध में मैं कुछ अधिक जानना चाहता हूं। आपने मुझे समझाया था कि चित्त-शुद्धि की इच्छा से, भक्तिभाव से, कृतज्ञबुद्धि से और किसी भी विशिष्ट व्यक्ति को उद्देश्य करके नहीं प्रत्युत् सार्वजनिक हित के लिए किया हुआ सत्य कर्म ही यज्ञ-कर्म है। अब आप यह समझाकर मुझे सन्तुष्ट करें कि ऐसे यज्ञ कितने प्रकार के होते हैं और किस तरह हो सकते हैं।"

श्लोक २९-३२

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया :—

'गाण्डीवधर, मैंने तुझे जो विशेष और विकसित अर्थ में यज्ञ का स्वरूप समझाया था वह तो ज्ञानी का जो श्रेष्ठ प्रकार का यज्ञ होता है उसका स्वरूप था। किन्तु ज्ञान-मार्ग की ओर जाने की इच्छा करनेवाले अथवा ज्ञानकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुष चित्त-शुद्धि के लिए, भक्तिभाव और कृतज्ञ बुद्धि से अनेक प्रकार के यत्न करते हैं। वे सब भी लाक्षणिक के अर्थ में यज्ञ कहे जा सकते हैं। वे सार्वजनिक हित की दृष्टि से न होकर विशिष्ट उद्देश वाले होने पर भी, उन्हें यज्ञ कह सकते हैं।

"अर्जुन, लोग सामान्यतया जिसे यज्ञ कहते हैं, उसमें यजमान अग्नि उत्पन्न कर उसमें अपनी कुछ मूल्यवान वस्तुयें होमते हैं। ये वस्तुयें जल कर नाश हो जाती हैं और यजमान को स्थूल दृष्टि से उन वस्तुओं की हानि होती है। किन्तु यजमान अपनी श्रद्धा, भक्ति तथा कृतज्ञता के कारण उनके लिए शोक नहीं करता, वरन् इसके

विपरीत, स्वयं इतना होम सका और खर्च सहन कर सका इसके लिए हर्षित होता है और ईश्वर का आभार मानता है। इसीमें उसकी चित्त-शुद्धि है।

"इस प्रकार, जहाँ-जहाँ मनुष्य अपनेको कुछ प्रिय और मूल्यवान प्रतीत होती स्थूल वस्तु एवं सूक्ष्म विषय अथवा वासना का त्याग कर अपने को कठिन प्रतीत होता हुआ एवं परिश्रम करानेवाला कुछ कर्म निरन्तर करता रहता है, वहाँ, लाक्षणिक अर्थ में, यज्ञ होता है, यह कहा जाता है और ऐसे यज्ञ अनेक प्रकार होते हैं।

"उदाहरणार्थ, देवता को उद्देश्य करके किसी द्रव्य का अर्पण अथवा सद्व्यय करना, यह एक प्रकार का यज्ञ है। साथ ही वेद-विहित अग्नि उत्पन्न कर, उसमें यज्ञ की विधि से आहुति देना, यह भी एक प्रकार का यज्ञ है। ये दोनों द्रव्य-यज्ञ हैं।

"किन्तु, ऐसे बाह्य द्रव्यों को अर्पण कर चुकनेवाले यत्नवान पुरुष इतने से ही यज्ञ-कर्म की समाप्ति नहीं समझते। चित्त-शुद्धि के लिए वे अपने हृदय में ही अग्नि की ज्वाला उत्पन्न कर दुष्कर तप करते हैं: इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर उनकी वासनाओं को कभी पूरा होने ही न देना, ऐसा संयम-रूपी तप भी एक प्रकार की अग्नि ही है, और ऐसे प्रयत्न को तपोयज्ञ कहा जा सकता है।

"फिर, संयम से इन्द्रियों को वश में कर उन्हें ज्ञान-प्राप्ति के लिए अच्छे और सच्चे विषयों में जोड़ना, यह भी कुछ सरल कार्य नहीं है। मनुष्य बुरी बातों का सुनाना छोड़ दे, इससे उसे अच्छी बातें अच्छी लगेंगी ही अथवा कुसंगति छोड़ देने से सत्संग में उसे रुचि होगी ही, सो बात नहीं। इसलिए इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक सत्कर्म

में, सत्संग में और ज्ञानवर्धक विषयों में लगाना भी एक प्रकार का यज्ञ है और उसे स्वाध्याय-यज्ञ कहा जाता है।

"इसके साथ ही, अर्जुन, इन्द्रियों के संयम और सन्मार्ग की ओर उनकी शिक्षा के अलावा चित्त का भी संयम, शिक्षा और परीक्षा करनी होती है। इसके लिए इन्द्रियों को ही नहीं वरन् प्राणों को भी वश में करना पड़ता है। प्राणों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के प्राणायाम के अभ्यास शोधे गये हैं। इस प्रकार इन्द्रियों और प्राणों को रोक कर, रसों और विषयों को रोककर आत्मा को पहचानने के लिए योगाभ्यास करना महान् ज्ञान-यज्ञ है।

"अर्जुन, आत्मा की जो स्वरूप-स्थिति है, उसे पहचानने के लिए कितने ही योगी प्राणायाम के अभ्यास से बाह्य कुम्भक करते हैं, तो कितने ही अन्तःकुम्भक करते हैं, और कितने ही शरीर में ही प्राण को भिन्न-भिन्न स्थान में फिराने का अभ्यास कर प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान आदि भिन्न-भिन्न प्राणों को एक-दूसरे के साथ मिलाते हैं। इन सब प्रयत्नों को, उनका ध्येय आत्म ज्ञान-प्राप्त करना होने, तथा उसमें अत्यन्त परिश्रम और व्याकुलता होने के कारण, यज्ञ कहना उचित है। कारण कि, उनके परिणाम में, उसके करनेवालों की पाप-वृत्तियों का नाश होकर चित-शुद्धि होती है।

"ऐसे ज्ञानरूपी यज्ञ में सब वासनाओं और मलिनताओं को जला डालने पर उस यज्ञ करने वाले को आत्मज्ञान-रूपी अमृत-प्रसाद मिलता है और वह अपने सनातन ब्रह्म-पद को प्राप्त होता है।

"अर्जुन, इस विश्व का तन्त्र सचमुच यज्ञ पर ही रचित है और टिका हुआ है। तू इस लोक की सिद्धि चाहे अथवा परलोक भोगने की इच्छा करे या मोक्ष की, पहले तुझे अपना कुछ प्रिय, कुछ मूल्यवान, अथवा

जिसका छोड़ना कठिन प्रतीत हो ऐसा कुछ अर्पण कर और फिर प्राप्त करने की आशा कर। जो अर्पण करने अथवा छोड़ने के लिए तैयार नहीं वह प्राप्त कर ही नहीं सकता। किसान पहले अपनी गाँठ का बीज भूमि में गाड़ता है तभी फसल पाता है। खेती का यह स्थूल नियम विश्व की सभी सिद्धियों पर लागू पड़ता है।

"इस प्रकार, यज्ञ के स्वरूप एक नहीं अनन्त हैं। जितनी श्रेयस्कर विभूतियाँ हैं, उतने ही उन्हें प्राप्त करने के यज्ञ के प्रकार हैं। इन सबके लिए अपकर्म छोड़ने पड़ते हैं, सत्कर्म करने पड़ते हैं, और पुरुषार्थ करना आवश्यक होता है। कर्म बिना एक भी यज्ञ नहीं हो सकता, यह तू समझ ले तो तू मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।" ॥२९-३२॥

श्रेयार्थी के यज्ञ के भिन्न-भिन्न प्रकार सुनकर अर्जुन ने पूछा :—

श्लोक ३३-३५

"योगेश्वर, आपने जो इन सब यज्ञों का वर्णन किया उनमें सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कौनसा है और वह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, यह भी मुझे समझाकर मेरी जिज्ञासा पूरी करें।"

श्रीकृष्ण बोले :—

"अर्जुन, तूने अच्छा प्रश्न पूछा। इसका उत्तर देना मेरा धर्म ही है, क्योंकि तेरा यह प्रश्न ज्ञान-यज्ञ का ही एक भाग है।

"अर्जुन, मोक्ष की इच्छा रखनेवाला पुरुष सबसे पहले द्रव्य-यज्ञ करे। वह अपनी धन-धान्य-सम्पत्ति सब कुछ ईश्वर के प्रति समर्पित कर डाले। अर्थात् इन सबको वह अपनी नहीं ईश्वर की समझकर संसार के प्राणियों के हित के लिए उनका विनियोग करे।

"सब जड़ सम्पत्ति पर से ममत्व और आसक्ति छोड़ देनेवाला मुमुक्षु इतने से ही अपनेको कृतार्थ न माने। इसके सिवा उसे तप-रूपी यज्ञ

भी करना चाहिए। धन-धान्य का मोह छोड़ना सरल नहीं है, किन्तु इन्द्रियों को संयम में रखना इससे भी अधिक कठिन है। इसलिए श्रेयार्थी को द्रव्य-यज्ञ से विशेष सूक्ष्म और श्रेयस्कर तप-यज्ञ भी करना चाहिए।

'किन्तु, अर्जुन, द्रव्य और इन्द्रियों के विषयों को अर्पण करनेवाला मनुष्य सम्भव है जड़ होकर बैठ रहे। हो सकता है कि यज्ञ का प्रयोजन और श्रेयार्थी का लक्ष्य तथा उसका साधन उसके ध्यान में ही न आया है। इसलिए, उसे तप-यज्ञ से अधिक सूक्ष्म और श्रेयस्कर स्वाध्याय-यज्ञ करना चाहिए। संयम से इन्द्रियों को दुर्विषयों से परावृत्त कर, उन्हें आत्मज्ञान में सहायक होनेवाले सद्विषयों में नियोजित करना चाहिए।

"इस प्रकार आत्मज्ञान-सम्बन्धी भूमिका तैयार करने के बाद उसे आत्मसंयम-रूपी ज्ञान-यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहिए। आत्मसंयम का अर्थ है मन और प्राण का संयम। मन और प्राण का निकट सम्बन्ध होने के कारण मन का सयम प्राण के संयम में और प्राण का संयम मन के संयम में सहायक होता है। आत्मा को पहचानने के सिवा दूसरी सब वासनाओं का त्याग कर भक्ति और ध्यान से चित्त को शुद्ध और बुद्धि को सूक्ष्म करना ज्ञान-यज्ञ के अंग हैं। यह ज्ञान-यज्ञ इन सब यज्ञों का शिरोमणि है। क्योंकि, इसके बाद उस पुरुष के लिए दूसरे किसी प्रकार का यज्ञ शेष नहीं रहता। वहाँ कर्म के सब प्रकार का अन्त आ जाता है। ॥३३॥

"इस ज्ञान की साधना सरल नहीं है। यह केवल ग्रन्थों से अथवा एकबार के विवेचन से ही समझ में नहीं आजाती। इसमें प्रत्येक साधन को कुछ तो सामान्य मार्ग पर जाना पड़ता है और कुछ विशेष मार्ग

ग्रहण करना पड़ता है। इसमें उसे पग-पग पर अपने अनुभव और कठिनाइयाँ देखनी पड़ती हैं, और दूसरों के अनुभव तथा कठिनाइयों के साथ उनकी तुलना करनी पड़ती है। इसलिए ज्ञान-यज्ञ के यजमान को, साधना का आरम्भ करने के पहले, साधना का मध्य और अंत आने तक तत्त्व-दर्शी और अनुभवी ज्ञानियों के सहवास में रहना चाहिए। उसे अपने विनय और सेवा-वृत्ति द्वारा ज्ञान-सम्बंधी अपनी व्याकुलता सिद्ध कर प्रश्नों द्वारा बारम्बार अपनी कठिनाइयाँ उपस्थित करते हुए, उनके पास से साधना की दिशा प्राप्त करनी चाहिए। जिस प्रकार कुशल वैद्य प्रत्येक रोगी की विशेष परीक्षा कर उसके रोग का समुचित इलाज करने में परिश्रम उठाता है, उसी प्रकार परोपकार-रत ज्ञानी सद्गुरु जिज्ञासु साधक की कठिनाइयों का विचार कर उसके लिए उचित मार्ग खोज निकालता है, और उसके विश्व की आत्मा को समझ लेने तक उसका साथ देता है। ।३४।।

"क्योंकि, अर्जुन, जबतक पुरुष आत्मा को पहचान नहीं लेता, तबतक उसमें कुछ मोह—अज्ञान—रहता ही है। आत्मा की पूर्णतया पहचान और उसमें निष्ठा होने के बाद ही, इस युद्ध के समय तुझे जैसा मोह हुआ है, वह निवृत्त हो सकता है। यदि आज तुझमें पूर्णतया आत्मनिष्ठा होती, तो कर्त्तव्य-पालन के समय तू इतना मोहग्रस्त न हुआ होता, भूतमात्र को आत्मस्वरूप जानता होता और आत्मा को परमात्मा से पृथक् न देख सकता। इसलिए जिस प्रकार पानी में बरफ के टुकड़े डालो, तो उनमें से कितनों ही के गल जाने, कितनों ही के टूट जाने पर भी उनमें पानी के सिवा दूसरी कुछ वस्तु नहीं मिलती, न होती ही है, उसी प्रकार आत्मज्ञान से तू देख सकता था कि इन भूतों में चाहे जितने रूपान्तर हों, उन-

में आत्मा के सिवा दूसरा कुछ नहीं है, और न हो सकता है। ॥३५॥

"अर्जुन, आत्मज्ञान एक स्थिर और अभेद्य नौका है। शुद्ध चित्त और राग-द्वेष-रहित तू यदि आत्मज्ञानी हो, तो जिस प्रकार साफ दर्पण में मनुष्य अपना मुँह स्पष्टरूप से देख सकता है, उसी प्रकार अपने कर्त्तव्य को तू स्पष्टरूप से देख सके। बाह्यदृष्टि से तुझे यह कर्त्तव्य गुरु-हत्या जैसा घोर पाप प्रतीत हो तो भी तू निःसंकोच भाव से उसका पालन करे और इसपर भी आत्मज्ञान की नौका में बैठा हुआ होने के कारण तुझे पाप का स्पर्श होने का भय न लगे। ॥३६॥

'कौन्तेय, इसपर से कदाचित् तू यह समझता हो कि आत्मज्ञान नामक कोई विशेष प्रकार का पाण्डित्य है जो मनुष्य को सब प्रकार के पाप करने का परवाना देता है। नहीं, भूल में भी तू ऐसा मानकर आत्मज्ञान जैसी पवित्रतम सिद्धि को कलंक न लगाना। श्रद्धावान, गुरुभक्त तथा धर्मज्ञ ज्ञानी स्वप्न में भी पाप की इच्छा जैसी तक नहीं करता तो पाप का आचरण तो कर ही किस तरह सकता है? किन्तु अर्जुन सामान्यतया, सामान्य प्रसंगों के लिए अथवा उपयुक्त अवसरों पर निश्चित विधि-निषेधों एवं सदाचार के नियमों में, विशेष अथवा भिन्न परिस्थिति के कारण, जो अपवाद अथवा परिवर्तन करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है, उसे सामान्य मोहासक्त पुरुष समझ नहीं सकते। किन्तु ज्ञानी पुरुष सदाचार के तत्त्व से भी परिचित होने के कारण उसे तुरन्त समझ जाता है। इससे सामान्य अथवा अमुक देश काल में जो पाप समझा गया हो, वह इस परिस्थिति में धर्म-रूप होता है। सामान्य मनुष्य यह समझ नहीं सकते, और इसलिए उसे पाप ही कहते हैं। किन्तु वास्तव में वह पाप होता ही नहीं, वरन् उस स्थिति में उत्पन्न हुआ धर्म ही होता है। ज्ञानी इसे

स्पष्ट रूप से देख सकता है और इसलिए निःसंकोच रूप से उसका आचरण करता है।

"पार्थ, जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ ईंधन जलकर भस्म ही हो जाता है, उसी प्रकार सारे कर्म आत्मज्ञान रूपी अग्नि में जलकर भस्म होजाते हैं। ॥३७॥

"किन्तु, अर्जुन, आत्मज्ञान की यह महिमा सुनकर ही उसे तू यथावत् रूप से जान नहीं सकता। यह वस्तु इस प्रकार जानी जा सकने जैसी नहीं है। केवल सुनकर इस सम्बन्ध में की गई कल्पना भ्रमात्मक भी हो सकती है। ज्ञान-योग को सिद्ध कर चुकनेवाला पुरुष स्वयं ही धीरे-धीरे इसकी महिमा समझता और पहचानता है। अर्जुन, किसी समय किसी प्रबल मात्रा का रज के समान अंश अन्तिमश्वास लेते हुए मनुष्य को नवजीवन प्रदान कर देता है। फिर ऐसी अमृत-तुल्य औषधि पीनेवाले पुरुष में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं और उसका मृत्यु के निकट पहुँचा हुआ शरीर किस प्रकार नवजीवन प्राप्त करता है, इसकी हमें कल्पना हो नहीं सकती। इसी प्रकार, ज्ञान से मनुष्य की प्रज्ञा किस प्रकार सूक्ष्म और शुद्ध होती है, इसकी दूसरे को कल्पना नहीं हो सकती। जबतक मनुष्य के कान संगीत के लिए सधे नहीं होते तबतक वीणा और बांसुरी की मधुरता और स्वरों के भेद उसकी समझ में नहीं आते। किन्तु वही पुरुष यदि स्वर-साधना करने लगे, तो फिर उसके सामने संगीत की मधुरता की महिमा गानी नहीं पड़ती, वरन् स्वयं ही उसका स्वाद लेने लगता है। इसी प्रकार पुरुष ज्यों-ज्यों आत्मज्ञान में स्थिर होता जाता है, त्यों-त्यों उस की सर्वोपरिता अनुभव करता जाता है। ॥३८॥

"इसलिए, अर्जुन, आत्मज्ञान क्या है, यह मैं तुझ से कह नहीं

सकता, प्रत्युत् इसे प्राप्त करने की क्या शर्तें हैं और अन्तिम फल क्या है यही बतला सकता हूँ ।

"अर्जुन, श्रद्धावान पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अश्रद्धावान नहीं ।

"श्रद्धावान का अर्थ क्या है, यह तू समझ ले ।

"श्रद्धावान का अर्थ बुद्धि-रहित, अज्ञानी एवं चाहे जिस वस्तु को मान लेनेवाला नहीं है। इसी प्रकार उसका अर्थ तार्किक, शङ्का-कुशंका करते रहनेवाला, जो बात प्रथम दृष्टि में ही न समझी जाय वह असत्य ही है यह मान लेनेवाला भी नहीं है ।

"तब, श्रद्धावान का अर्थ है सत्य में श्रद्धा रखनेवाला । जो यह समझता है कि सत्य से परे और उससे श्रेष्ठ कुछ नहीं है, और इस-लिए सत्य का मूल्य सबसे अधिक होने के कारण उसके लिए शेष सब कुछ छोड़ देने का साहस रखता है, वही श्रद्धावान कहा जाता है।

"फिर जिस प्रकार अन्तिम सत्य में उसकी श्रद्धा होनी चाहिए, उसी प्रकार उसके साधन-रूप सात्विक गुणों और कार्यों में भी उसकी श्रद्धा होनी चाहिए। उसे सद्‌वाणी, सत्कर्म, सद्‌गुण और सद्विचार का निरन्तर अनुशीलन करने, उनके प्रति आदर रख और उन्हें ही सम्पत्ति समझकर उनकी प्राप्ति का सतत प्रयत्न करनेवाला होना चाहिए।

"इसके सिवा, अर्जुन, श्रद्धावान पुरुष को सत्पुरुषों के प्रति आदर रखनेवाला, उनकी सेवा करने की वृत्तिवाला, उनके सत्संग का अभिलाषी और उनके उपदेश का चातक की तरह पान कर हंस की तरह उसमें नीर-क्षीर का विवेक कर, उनके विचारों को व्यवहार में लाकर सिद्ध करने का धैर्य और लगन रखनेवाला होना चाहिए।

'साथ ही, प्रियवर, श्रद्धावान के विशेष लक्षण कहता हूँ, वह सुन।

श्रद्धावान पुरुष निरभिमान होता है। पशु, पक्षी तथा जड़-भूतों से भी यह उपदेश खोजता रहता है, छोटे बालक के पास भी कुछ सीखने जैसा हो तो उसके सीख लेने में उसे संकोच नहीं होता। किसी भी विषय से सम्बन्धित सत्य विचार अथवा भेद बतानेवाला ब्राह्मण हो अथवा शूद्र, पुरुष हो अथवा स्त्री, स्वामी हो अथवा सेवक, निरभिमानी होकर इन सबके पास से वह सीख लेता है, और जिनके पास से रज जितना भी कुछ सीखा होता है उनके प्रति सदैव कृतज्ञ रहता है।

"अर्जुन, ज्ञान की इच्छावाले को श्रद्धावान होने के सिवा, तत्पर अर्थात् परमात्मा के ही परायण होना चाहिए। वह परमेश्वर से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, उसके सिवा दूसरा कुछ जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य अथवा मानने योग्य नहीं है, यह जाननेवाला होना चाहिए।

"इसलिए, गुडाकेश, वह संयतेन्द्रिय होना चाहिए, इसमें तो कहना ही क्या है? जो इन्द्रियों का दास है वह ईश्वरपरायण है, यह कैसे कहा जा सकता है?

"इसलिए, अर्जुन, ज्ञान-प्राप्ति की ये शर्तें हैं। ऐसा पुरुष आत्म-ज्ञान रूपी परमसत्य प्राप्त करता है।

"अब इनका फल क्या है, वह सुन।

"अर्जुन, इसका फल है परमशान्ति। शान्ति का अर्थ है समता, चित्त की योगावस्था। शान्ति का अर्थ आनन्द का ज्वार नहीं, अथवा विषाद का भाटा नहीं। शान्ति का अर्थ प्रेम की विह्वलता नहीं, और भावशून्यता की शुष्कता नहीं। शान्ति का अर्थ उत्तम अथवा निकृष्ट भावों का आवेश अथवा उन्माद नहीं। शान्ति का अर्थ उलझन में मार्ग मिलने पर हर्ष और न मिलने तक घबराहट नहीं।

"प्रत्युत् शान्ति का अर्थ है सब परिस्थितियों में बिना किसी घबराहट के धैर्यपूर्वक विचार करने की शक्ति, अनिवार्य दुःखों को बिना किसी शिकायत के सहन कर लेने की शक्ति, सुख में पागल न होजाने की शक्ति।

"अर्जुन, ऐसी शान्ति आत्मज्ञान का फल है। जो ऐसी शान्ति को ही आनन्द और सुख समझते हैं, वे आत्मज्ञान को आनन्द-रूप और सुखमय मानते हैं।

"जो अज्ञानी, अश्रद्धावान् और शङ्काशील है, वह इसका अधिकारी हो नहीं सकता। ऐसा पुरुष आधे मन से भोगों के पीछे और आधे मन से संयम के पीछे पड़ता है, और दो में से एक को भी सिद्ध न कर सकने से असन्तुष्ट और दुःखी ही रहता है। उसे इस लोक में भी सुख नहीं मिलता और मृत्यु के बाद भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। ॥ ४० ॥

"अर्जुन, योग से जिसने कर्म के बन्धनों का संन्यास किया है, ज्ञान से जिसने संशयों को छेद डाला है, और जिसने चित्त को वश में कर लिया है, उसे कर्म से बन्धन नहीं होता। ॥ ४१ ॥

"कौन्तेय, अज्ञान का परिणाम शङ्का और उलझन है, ज्ञान का परिणाम निश्चय और स्पष्टता है। इसलिए तुझे शान्ति और समाधान की आवश्यकता हो, तो ज्ञानरूपी तलवार से संशय को छेद कर मेरे उपदिष्ट कर्मयोग का आचरण कर।" ॥ ४२ ॥

पाँचवाँ अध्याय

ज्ञान-दशा

चौथे अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण द्वारा कथित आत्मज्ञान की महिमा, उसकी प्राप्ति की साधना और उसके फल

श्लोक १ यह सब कुन्ती-पुत्र अर्जुन ने उत्साहपूर्वक सुना। किन्तु यह सब कह चुकने के बाद श्रीकृष्ण ने जब यह कहा कि ज्ञान से संशयों का छेदकर मेरे उपदिष्ट कर्मयोग का आचरण कर, तब अर्जुन फिर उलझन में पड़ गया। वह बोला:—

"प्रिय माधव, आप इस प्रकार विरोधी बातें कहकर, मुझे एक बात का निश्चय करने के बदले उलटे शङ्का में क्यों डालते हैं? आपने अभी कहा था कि आत्मज्ञान से परे कुछ नहीं है। उससे सब संशयों का उच्छेद होता है, और मोह नहीं रहता। इसलिए, मुझे वही प्राप्त करना चाहिए। आपने उसके साधन-रूप ज्ञानी का समागम, द्रव्य का बलिदान, इन्द्रियों का संयम, इन्द्रियों की सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति, चित्त और प्राण का संयम, तथा योग का अभ्यास आदि बातें बताईं। इन सबपर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांसारिक कर्मों की प्रवृत्ति की अपेक्षा संन्यास धारण करके ऐसी साधना में जीवन बिताना यही श्रेय का मार्ग है।

"हृषीकेश, सांसारिक कर्मों की प्रवृत्ति में द्रव्य का संग्रह, इन्द्रियों के भोग, सज्जन-दुर्जन सबका सहवास तथा काम-क्रोध आदि से चित्त को क्षुब्ध और असंयमी बनाने वाले सब निमित्तों का स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं मिलता। मोक्षमार्ग से इनका स्पष्टरूप से विरोध दिखाई

देता है। तब फिर आप पुनः कर्मयोग का आचरण करने के लिए किस तरह कहते हैं, यह मैं समझ नहीं सकता। एक वाक्य में आप संन्यास के अनुकूल विचार प्रकट करते हैं और फिर दूसरे ही वाक्य में कर्मयोग का उपदेश देते हैं! प्रिय मित्र, ऐसी सन्दिग्धता काम में न लाओ? कदाचित् अपनी जड़-बुद्धि के कारण मैं आपका आशय न समझ पाता होऊँ तो लम्बी चर्चा छोड़कर मुझे एक निश्चित वाक्य में ही कह डालो न, कि संन्यास अधिक श्रेष्ठ है अथवा कर्मयोग? मुझे निश्चित बात कहोगे तो मुझपर बड़ा उपकार होगा।" ॥१॥

अर्जुन के ऐसे, मैत्री को शोभा देने वाले, प्रेम के वचन सुनकर

श्लोक २-६

श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए और कुछ हँसे। प्रेम से अर्जुन की कमर पकड़कर और पीछे से कन्धे पर हाथ रखकर प्रेम से उसे दबाकर वह बोले:—

"अर्जुन, यह तो तू ठीक उलटा चोर कोतवाल को डाटे की सी बात करता है। यदि एक वाक्य से ही तू समझने के लिए तैयार होता, तो बाण चलाने के इस प्रसंग पर मुझे चर्चा में किसलिए उतरना पड़ता? अरे भाई, तुझे लड़ना चाहिए, न लड़ेगा तो तू अधर्म में गिरेगा, अज्ञानी समझा जायगा, मोहासक्त गिना जायगा, कर्मयोग से ही जनक इत्यादि श्रेय को प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार कहते-कहते मेरा गला सूख गया, फिर भी यह बात तेरे ध्यान में कहाँ बैठती है? और फिर मुझे उपालम्भ देता है कि मैं निश्चित बात नहीं कहता! तू तो मुझसे तत्त्व-चर्चा चाहता है! तत्त्व-चर्चा चाहने के कारण मुझे दोनों ही पक्ष तुझे समझाने पड़ते हैं, दोनों ही का मूल्य आँकना पड़ता है, दोनों की विशेषता समझानी पड़ती है; दोनों को ही मैं कल्याण-साधक समझता हूँ, इसलिए एक की भी झूठी निन्दा किस तरह कर सकता हूँ? इस प्रकार मैं एक के गुणों का

वर्णन करता हूँ तब तू यह समझ लेता है कि दूसरा मार्ग ग़लत है, और दूसरे के गुणों का वर्णन करता हूँ तब पहले को गलत मानने लगता है। इस प्रकार तू अपने आपही उलझन पैदा करता है, और फिर मुझे दोष देता है। यह तूने अच्छा ढंग अख्त्यार किया है!

"अस्तु, मैं फिर 'पुनश्च हरि ॐ' करता हूँ, सो ध्यानपूर्वक सुन।

"अर्जुन, संन्यास और कर्मयोग, दोनों ही श्रेयदायक हैं। दोनों में एक का भी यथावत् आचरण करनेवाला कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है, और उचित रूप से आचरण न करे तो दोनों में से एक भी श्रेय नहीं करता। किन्तु इनमें से संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को मैं अधिक मानता हूँ।

"इसका कारण यह है, अर्जुन, कि कर्मयोग का मार्ग सीधे या राज-मार्ग के समान है। हज़ारों-लाखों लोगों का यह स्वाभाविक मार्ग है। विवेक-शील और श्रेयार्थी पुरुष इस मार्ग से उसी स्थान पर पहुँचते हैं, जिस स्थान पर कि विवेकशील और श्रेयार्थी संन्यासी पहुँचते हैं। अन्त में प्राप्त करने का जो आत्मनिष्ठा रूपी अन्तिम पद है, उसके सम्बन्ध में सांख्य और योग मार्ग के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों की अन्तिम प्राप्ति एकसमान ही है। किन्तु संन्यास-मार्ग सरल नहीं है। लाखों मनुष्यों का यह प्रकृति-धर्म नहीं है। इसमें भी एक प्रकार का कर्मयोग तो है ही। इस प्रकार का कर्मयोग नैसर्गिक रूप से प्राप्त नहीं होता। और इसलिए सबको सिद्ध नहीं होता। कुछ विरक्त एवं असा-मान्य प्रकृति के मनुष्यों का स्वभाव ही इस मार्ग के अनुकूल होने के कारण, वे सहजरूप से इसमें जाते हैं और उनके लिए वह स्वाभाविक होने के कारण उस मार्ग में वे अच्छी तरह सफल होते हैं और अपने-को तथा उसी तरह उस मार्ग को शोभित करते हैं।

"इस प्रकार अपनी प्रकृति के अनुकूल होने के कारण कुछ लोगों के उसमें सफलता प्राप्त करके उसे सुशोभित करने के कारण, उनके अनुयायी यह प्रतिपादन करते हैं कि वही एक श्रेय का मार्ग है तब दूसरे, महान् कर्मयोगी के उदाहरण देकर संन्यास मार्ग को असत्य बताने का प्रयत्न करते हैं। दोनों में से एक भी पूर्ण विचार करके अथवा समझ का बोलनेवाले नहीं, वरन् अपूर्ण दृष्टि वाले बालकों के समान हैं।

. "अर्जुन, बात यह है कि संन्यासयोग हो अथवा कर्मयोग हो, यदि उनका यथोचित रूप से आचरण न किया जाय तो दोनों बन्धनकारक होजाते हैं, और दोनों में से किसी भी एक का उचित रूप से आचरण हो तो दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

"किन्तु, अर्जुन, सीधे मार्ग पर चलनेवाला चाहे घूमता-घूमता जाय, कहीं खड़ा होजाय, चाहे रास्ता छोड़े बिना आगे जाय और पीछा आये, तोभी वह भटक नहीं सकता। उसे पहुँचने में विलम्ब हो जाता है, बस इतना ही। यदि वह इस सीधे मार्ग पर तेजी से चलना चाहे तो आसानी से जा सकता है, और बिना किसी विघ्न के निश्चित स्थान को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यह राजमार्ग है। किन्तु सीधा मार्ग छोड़ कर जंगलों की पगडण्डी के मार्ग पर चलने की इच्छा रखनेवाला यदि प्रमाद में पड़कर दिशा का सन्धान चूक जाय तो गोते ही खाता रहेगा और यह भी सम्भव है कि कदाचित् न भी पहुँचे, क्योंकि उसने सहस्रों का साथ छोड़ कर जुदे ही मार्ग का अवलम्बन किया है।

"इसी प्रकार, अर्जुन, यह सच है कि मनुष्य सहजरूप से कर्मयोग के क्षेत्र में होने के कारण, उसका—कर्मयोग का—समतापूर्वक, कौशलपूर्वक और विवेकपूर्वक आचरण न करे, तो अनेक ठोकरें खाता रहता है; फिर भी इस मार्ग के स्वभाव-सिद्ध होने के कारण वह सीधे रस्ते पर तो है ही

और यदि इस कर्म के क्षेत्र में योगपूर्वक आचरण करे तो चूँकि उसने राज-मार्ग को ग्रहण किया है, वह श्रेय को शीघ्रता से और निर्विघ्न रूप से प्राप्त कर सकता है। किन्तु, जो कर्मयोग का स्वाभाविक क्षेत्र छोड़-कर संन्यास-मार्ग पर जाता है, वह यदि प्रमाद करे तो वह कर्मयोग से तो विमुख है ही, अब संन्यास की सिद्धि जब प्राप्त करे तब सही।

क्योंकि मैं कह चुका हूँ कि कर्म का अथवा द्रव्य का स्थूल त्याग ही संन्यास नहीं है, प्रत्युत् उसकी आसक्ति, उसके लिए राग और द्वेष, उसके लाभ-हानि से होने वाले हर्ष-शोक, इन सबका त्याग ही सच्चा संन्यास है। बाह्यरूप से परिग्रही और प्रवृत्ति-परायण दिखाई देनेवाला ज्ञानी पुरुष ऐसा संन्यासी हो सकता है, और बाहर से अपरिग्रही और निवृत्ति में रहनेवाला व्यक्ति ऐसा संन्यासी न हो यह सम्भव है। जो संन्यास मोक्ष दिलाता है, वह स्थूल नहीं वरन् ऐसा आध्यात्मिक संन्यास है।" ॥२—६॥

श्लोक ७-१०

"अर्जुन, श्रेय के लिए यह बात महत्त्व की नहीं है कि मनुष्य संन्यास-मार्ग का अवलम्बन करे अथवा कर्ममार्ग का। वरन् महत्त्व की बात यह है कि वह योग-युक्त तत्त्व को जानकार तथा उसमें निष्ठावान हो, अपने स्वभाव को पहचानकर स्वयं जिस मार्ग का अवलम्बन किया हो उसमें वह योगयुक्त अर्थात् ज्ञान, समता तथा कौशल-पूर्वक आचरण करे, अत्यन्त शुद्ध-चित्त तथा मन और इन्द्रियों का पूर्णतया स्वामी हो और सर्व भूतों को आत्मरूप समझनेवाला हो, यही आवश्यक है। ऐसा पुरुष, चाहे जनक की भाँति सांसारिक कर्म करे अथवा कपिल एवं पतञ्जलि की तरह तत्त्वज्ञान, योग आदि का उपदेश देने का काम करे, वह अपने कर्मों से लिप्त नहीं होता। ॥ ७ ॥

'अर्जुन, संन्यासी हो अथवा कर्मयोगी हो, देखना, सुनना, देना, लेना, पलक मारना आदि इन्द्रियों की क्रियाओं से कोई छूट नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष इन क्रियाओं का अभिमान नहीं रखता। इन्द्रियाँ अपनी-अपनी क्रियाओं में सलग्न हैं, यह समझकर न तो वह उन क्रियाओं को ज़बर्दस्ती करवाता ही है, न ज़बर्दस्ती रोकता ही है। वह जितेन्द्रिय हो गया है, और एकबार इन्हें—इन्द्रियों को—अच्छी तरह अभ्यस्त बना लिया है, इससे इनकी क्रियाओं के सम्बन्ध में वह निश्चिन्त होजाता है। ॥८-९॥

"इसी प्रकार अर्जुन, विवेकशील होने के कारण स्पष्ट निर्णय करनेवाले कर्म अथवा उसके फल के सम्बन्ध में बिना आसक्तिवाले कर्तव्य-परायण ज्ञानी को सब कर्मों को परमात्मा के ही समर्पित करनेवाला होने के कारण, उसी तरह पाप का स्पर्श नहीं होता, जिस प्रकार कि कमल का पत्ता पानी में रहते हुए भी भीगता नहीं।" ॥ १० ॥

"इसलिए, महाबाहो, अब तू योगी शब्द का अर्थ अच्छी तरह मन में धारण करले और उसे भूलना मत। योगी

श्लोक ११-१२

संन्यासी भी होसकता है अथवा कर्ममार्गी भी हो सकता है। कोई मनुष्य संन्यासी का जीवन बिताता है अथवा कर्ममार्गी का, तू इसके झगड़े में ही न पड़। वह योगी का जीवन बिताता है या नहीं, इसीका तू विचार कर। यदि वह शरीर से, मन से, बुद्धि से, साथ ही इन्द्रियों से भी आसक्ति-रहित होकर आत्म-शुद्धि के लिए कुशलतापूर्वक, समतापूर्वक और विवेकपूर्वक अपने कर्म करता है, तो वह योगी है। इस प्रकार यदि कर्म—फल के सम्बन्ध में अनासक्त होकर निरन्तर कर्माचरण करे, तो अखण्ड शान्ति प्राप्त करेगा। ऐसा न कर यदि वह अयोगी रहे, अर्थात् कुशलता-रहित, समता-रहित एवं विवेक-रहित होकर, फल में आसक्ति रखकर, सकाम

रूप से कर्मों का आचरण करे, तो वह संन्यासी हो अथवा कर्ममार्गी, वह बन्धन को ही प्राप्त करेगा। ॥ ११–१२ ॥

"इतना यदि तू अच्छी तरह समझ ले तो, तेरे लिए संन्यास और कर्म-मार्ग के बीच कुछ झगड़ा ही न रहेगा और ज्ञान अथवा योग के सम्बन्ध में जो कुछ कहूँ तब तू उसका आचरण करनेवाला पुरुष किस वेश में अथवा आश्रम में है, इसका विचार न कर, उसकी ज्ञान-निष्ठा और कर्म-प्रवृत्ति की पद्धति का ही विचार करेगा।

श्लोक १३ "अर्जुन, ऐसे योगी की ज्ञान-निष्ठा कितने प्रकार की होती है, पहले यह मैं तुझे समझाऊँगा।

"धर्मानुज, अपने मन और इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखनेवाला योगी स्थूल रूप से कर्माचरण छोड़ता नहीं, फिर भी अपने मन से तो वह कर्ममात्र का संन्यास लिये रहता है।

"यह मानसिक संन्यास क्या है, सो तू समझ।

"कौन्तेय, आसक्तियुक्त पुरुष को कर्म के सम्बन्ध में चार प्रकार के आग्रह होते हैं—(१) यह कर्म होना ही चाहिए, यदि कुछ विघ्न आ जाने से वह न हो तो वह अपने चित्त की समता की रक्षा नहीं कर सकता, (२) यह कर्म इसके हाथ से अथवा इसने जिसका विचार किया हो उसके ही हाथ से और इसने सोचा हो उसी तरह होना चाहिए, यदि कोई दूसरा कर डाले अथवा किसी दूसरी तरह होगया तो वह अपने चित्त की समता बनाये नहीं रख सकता, (३) यह कर्म यशस्वी और लाभदायक होना चाहिए, यदि अयशस्वी अथवा हानिकारक होजाय तो वह चित्त की समता कायम नहीं रख सकता; और (४) इस कर्म का परिणाम स्वयं हिसाब लगा रक्खा हो उसीके अनुसार होना चाहिए, यदि किसी दूसरी तरह का हो तो वह अपने चित्त की समता को सम्हाले न

रख सकेगा। अर्जुन, जो इस प्रकार के आग्रहों से मुक्त होचुका है, और इसलिए कर्म की उत्पत्ति से लेकर परिणाम पर्यन्त कैसे ही विघ्न उपस्थित होने पर भी जो अपने चित्त की समता को नहीं खोता, उसने मानसिक संन्यास किया है, यह जान।

'अर्जुन, कर्म का ऐसा मानसिक संन्यास करने की मेरी ओर से तुझे मनाई नहीं है। इसके विपरीत यदि तू अपना श्रेय अर्थात् उत्कर्ष चाहता हो, तो मैं तुझसे आग्रह-पूर्वक कहता हूँ कि तू उस प्रकार अपने मन को दृढ़ कर।

"अर्जुन, इस प्रकार मन से जिसका संन्यास सिद्ध होगया है, वह समझता है कि स्वयं नौ दरवाज़े वाले देह नगर में बैठा हुआ होने पर भी कुछ करता नहीं है और करवाता भी नहीं है। क्योंकि, जिस कारण से जिस प्रकार मछली आसक्ति से काँटे में पकड़ी जाती है, उसी तरह कर्म से चित्त मोहित होकर पकड़ा जाता है, उस कारण का इसने उच्छेद कर दिया है।

''कौन्तेय, जिस प्रकार अपने अभ्यस्त, विश्वासपात्र और आज्ञाकारी सेवकों को अपने-अपने काम यथोचित रूप से सौंपकर मालिक निश्चिंत होकर बैठ जाता है, और स्वयं कुछ करता नहीं, न करने के लिए कहता ही है, फिर भी उसके सब काम ठीक तरह होते रहते हैं, अथवा जिस प्रकार चावी लगाकर जारी किये गये यन्त्र पर चढ़ाई हुई मछली को फिराने के लिए किसीको बैठना नहीं पड़ता वरन् वह अपने-आप ही फिरती रहती है, उसी प्रकार ऐसे अनासक्त योगी के कर्म स्वतः ही यथोचित रूप से होते रहते हैं। क्योंकि उसके शरीर, मन, बुद्धि, वाणी और इन्द्रियाँ पहले से ही ठीक तरह अभ्यस्त होने के कारण विश्वासपात्र और आज्ञाकारी सेवक की भाँति अथवा यन्त्र की मछली

की तरह अपने-अपने कामों में यथावत् रीति से प्रवृत्त होते हैं. किन्तु उनके स्वामी को इनका किसी तरह का उद्वेग नहीं रखना पड़ता।" ॥१३॥

"फिर अर्जुन, योगी की ज्ञान-निष्ठा इस प्रकार की होती है—

श्लोक १४-१७ वह जानता है कि सत्तामात्र और केवल साक्षी-रूप आत्मा न तो कर्तापन रचता है, न कर्म रचता है; उसी तरह कर्म और उसके फल के संयोग भी वह करा नहीं देता। वह किसी कर्म का पाप अथवा पुण्य अपने पर स्वीकार नहीं करता; वरन यह जानता है कि प्रकृति के सनातन धर्म से ही कर्म का यह चक्र अपनेआप चलता ही रहता है। प्रकृति ही कर्त्ता है, प्रकृति ही कर्म है, और कर्म का फल भी प्रकृति ही है अधर्म से धर्म की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, क्षुद्रता से ऐश्वर्य की ओर, आसक्ति से वैराग्य की ओर पहुँचने का जो उसका सनातन स्वभाव पड़ा हुआ है, उसके कारण वह प्रकृति ही अपने विकास-क्रम की भूमिका के अनुसार कहीं और कभी संयमी, कहीं और कभी स्वाधीन के समान और कहीं और कभी पराधीन की तरह आचरण करती है। ज्ञानी-अज्ञानी, मनुष्य, पशु-पक्षी अथवा वनस्पति में, कहीं भी आत्मा प्रकृति की उक्त सर्व क्रियाओं का मूक बलदाता और साक्षी के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

"साथ ही, कौन्तेय, योगी समझता है कि जीवमात्र शुद्ध स्वरूप में यह साक्षी-रूप आत्मा ही है और प्रकृति के कामों से अलिप्त और उसके दोषों, तथा गुणों से परे है।

"किन्तु, अर्जुन, जबतक चित्त की शुद्धि तथा अज्ञान में से ज्ञान की ओर प्रगति नहीं होजाती तवतक जीवों को ऐसा ज्ञान नहीं हो-सकता। और इस कारण; जीवों का जैसा चित्त होता है, स्वयं वैसे ही होने का उन्हें भान होता है। वास्तव में ऐसा भान भ्रमात्मक होने के

कारण अज्ञान है और जीवों की असमता अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष शोक आदि वेदनाओं का कारण है। ॥१४-१५॥

"सुभद्रेश, जब चित्त शुद्ध होकर अज्ञान से निकल ज्ञानवान और सूक्ष्म व ज्ञानवान बनता है, तब जिस प्रकार सूर्य उदय होकर संसार के सब पदार्थों को प्रकाशवान करता ह, उसी प्रकार उक्त प्रज्ञा ही आत्म-स्वरूप का भान कराती है। ॥१६॥

"फिर, इस प्रकार ज्ञान से जिनकी सर्व अशुद्धियों का नाश हो-चुका है, जिन्हें आत्मा के स्वरूप के विषय का निश्चय होचुका है, आत्मा के साथ ही अपनी एकता विदित होचुकी है, जो आत्मा का ही अवलम्बन करते रहते हैं, और आत्मा से कुछ अधिक परमपद अथवा सत्य वस्तु है ही नहीं यह जिन्होंने जान लिया है, उन्हें जन्म-मरण अथवा आवागमन दिखाई देता ही नहीं। क्योंकि अर्जुन, भला यह आत्मा किस प्रकार जन्म ले, किस प्रकार मरे तथा अपना स्वरूप छोड़-कर कहाँ जाय और कहाँ आवे ?" ॥१७॥

योगी की ज्ञान निष्ठा किस प्रकार की होती है, इस विषय का श्रीकृष्ण द्वारा निरूपण अर्जुन ने ध्यानपूर्वक सुना।

श्लोक १८-१९ उसपर विचार करते-करते वह बोला :—

"माधव, इस प्रकार के आत्म-तत्त्व का निरूपण आपने मुझे सांख्य-सिद्धान्त समझाते समय भी किया था और ऐसे ज्ञाननिष्ठ पुरुष के लक्षण भी उस समय वर्णन करके बताये थे। किन्तु ज्ञाननिष्ठ योगी व्यवहार में किस प्रकार आचरण करे जिससे यह जाना जा सके कि वह ज्ञाननिष्ठ है, यह बात मैं अभी अच्छी तरह समझ नहीं सका हूँ। इसलिए ज्ञाननिष्ठ योगी का व्यवहार किस तरह का होता है, यह एकबार फिर मुझे समझाइए।

अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार कर श्रीकृष्ण बोले :—

'धनञ्जय, समता के विषय में मैं तुझे कह चुका हूँ। यह कहा जा सकता है कि समत्वबुद्धि ज्ञाननिष्ठा का अति-प्रत्यक्ष लक्षण है। व्यवहार में वह कितने अंशतक समता प्रदर्शित करता है, इसपर से उसकी ज्ञान में कितनी दृढ़निष्ठा हुई है, यह जाना जासकता है।

'परंतप, ज्ञानी पुरुष भिन्न-भिन्न मनुष्यों और प्राणियों के साथ यथोचित और विवेकपूर्वक व्यवहार करता अवश्य है, किन्तु उसके चित्त में किसी प्राणी के सम्बन्ध में भेद भाव नहीं होता। वह विद्या-विनय-शील ब्राह्मण का चरण स्पर्श कर आदर-सत्कार करे, और कदाचित् योग्य प्रसंग के अभाव में भंगी का चरण-स्पर्श न करे, तो भी उसके मन में कभी यह भाव उत्पन्न नहीं होगा कि ब्राह्मण उच्च है और भङ्गी नीच है। इतना ही नहीं, वरन् उक्त ब्राह्मण जैसा ही भङ्गी सत्-पात्र हो तो, उसका भी वह उतना ही सत्कार करेगा। और, वह गाय को घास डालकर, हाथी को अम्बारी से सजाकर तथा कुत्ते को रोटी डाल-कर उनके साथ जुदा-जुदा वर्ताव करे, तो भी उसके मन में यह धारणा न होगी कि गाय ही प्रेम करने एवं पूजनेयोग्य प्राणी है और कुत्ता केवल दुतकारे जाने योग्य जीव है।

'अर्जुन ज्ञानी पुरुष भिन्न-भिन्न मानवों एवं प्राणियों के सुख के काल में जिसके साथ जैसा उचित हो वैसा व्यवहार करता है, इससे उसकी समदृष्टि को समझना कठिन होजाता है। वस्तुतः मनुष्यों एवं प्राणियों के आपत्तिकाल में ही विशेषकर ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि का भेद जाना जासकता है।

"कौन्तेय, समदर्शी ज्ञानी आपत्ति में फँसे हुए ब्राह्मण अथवा गाय

का सङ्कट दूर करने के लिए जितना परिश्रम करता है, उतना ही परिश्रम वैसी ही आपत्ति में पड़े हुए भंगी अथवा कुत्ते के लिए भी करेगा। फिर, सबमें एक ही आत्मा का निवास है, यह जाननेवाला योगी किसी प्राणी के प्रति कठोर भाव तो बता ही नहीं सकता। जितने सद्-भाव से वह ब्राह्मण अथवा गाय के प्रति व्यवहार करता है, उतने ही सद्भाव से भंगी, हाथी अथवा कुत्ते के प्रति आचरण करेगा।

"अर्जुन, यह समदृष्टि अत्यन्त महत्व की वस्तु है। संसार के अनेक दुष्ट-व्यवहारों के मूल में विषम दृष्टि ही कारणीभूत होती है। धृतराष्ट्र की विषम दृष्टि तुम्हारी आपत्तियों का मूल है। ब्राह्मणों और पुरुषों की विषम-दृष्टि के कारण शूद्रों और स्त्रियों को वेद के अधिकार से वंचित रहना पड़ता है। प्राणियों-सम्बन्धी विषम-दृष्टि के कारण लोग कुत्तों एवं गधों के प्रति निष्ठुर व्यवहार करते हैं।

"सव्यसाची, मैं तो कहता हूँ कि जिनके मन में समभाव स्थिर हो चुका है उन्होंने इस शरीर के रहते ही जन्म-मरण और ससार को जीत लिया है। क्योंकि वे निर्दोष आत्मा सर्वत्र समान भाव से है ऐसे ज्ञान का प्रत्यक्ष परिचय कराते हैं, इसलिए वे ब्रह्मनिष्ठ ही हैं, यह कहने में कुछ हानि नहीं। ॥ १८–१९ ॥

"पार्थ, स्थितप्रज्ञ के लक्षण मैं एकबार तुमसे कह चुका हूँ। ज्ञाननिष्ठा और स्थितप्रज्ञता में कुछ अन्तर नहीं है।

श्लोक २०–२१

संक्षेप में तू यह समझ ले कि आत्मा की जिज्ञासा से मनुष्य अपने चित्त को साधने का जो प्रयत्न करता है, और इस जिज्ञासा की पूर्ति पर इस प्रकार सधे हुए चित्त का जो व्यवहार होता है, वही ज्ञान-निष्ठा है। संक्षेप में यह कहा जासकता है कि चित्त की एक प्रकार की उत्कृष्ट शिक्षा का नाम ज्ञान-निष्ठा है।

'स शिक्षा के कारण ब्रह्मनिष्ठ पुरुष सब प्रसंगों पर स्थिर-बुद्धि रहता है। प्रिय वस्तु प्राप्त होने पर हर्षोन्मत्त नहीं होता, अप्रिय प्राप्त होने पर शोकवृत्त नहीं होता। इन्द्रियों के भोग में उसे ऐसा रस नहीं लगता कि जिससे उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो।

'अर्जुन, जब भोगवृत्तियाँ बलवान होजाती हैं, तब भोग मनुष्य को दीन बना डालते हैं, और जिस प्रकार चारों ओर से घिरा हुआ एक भयग्रस्त सांड अथवा बन्दर हक्का-बक्का होकर भगदड़ करा डालता है उस तरह दौड़-धूप कराते हैं। सिर पर कोई दूसरा स्वामी न होने पर भी यह भोगेच्छा ही मनुष्य को किसीके आजन्म दास के समान पराधीन-सा बना देती है, और ऐसा भोगासक्त पुरुष चक्रवर्ती राजा हो तो उस भी कालान्तर में दास बना देती है।

"अर्जुन, जिस प्रकार किसी दास को उसका स्वामी कहे कि 'आज से मैंने तुझे दासत्व से मुक्त कर दिया है और अब तू स्वतन्त्र होगया है, तो इससे वह दास अपने चित्त में जैसा आनन्द अनुभव करता है, वैसा ही अत्यन्त सुख वह पुरुष भोगता है जिसके हृदय से उक्त प्रकार की भोगेच्छा हट गई है। हे इन्द्रियजित्, भोगरत चक्रवर्ती राजा को भी जो शान्ति और सुख स्वप्न में भी नहीं मिलता, वह इन्द्रियासक्ति से मुक्त ज्ञानी को निरन्तर प्राप्त रहता है। ॥२०-२१॥

'कौन्तेय, परमात्मा का यह विश्व इस प्रकार रचा गया है, कि इन्द्रियों का कोई भोग ऐसा नहीं है जो सदैव टिका रहे अथवा परिणाम में भोगनेवाले को दुःख का ही कारण न हो। भोगों की यह क्षणभंगुरता और परिणाम में दुःखपरता जिसने देखली है, ऐसा कोई समझदार व्यक्ति भोगलोलुप नहीं होता।

"अर्जुन, ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का एक और लक्षण कहता हूँ, वह सुख

यह तो तूने सुना ही होगा कि ब्रह्मवेत्ता को मर कर मोक्ष पाने की ज़रूरत नहीं रहती। ब्रह्मवेत्ता जीवन-मुक्त भी कहा जाता है। संक्षेप में कहूँ तो यह जीवन मुक्त दशा एक बात में आजाती है। यह कहने में कुछ हानि नहीं कि काम और क्रोध को जीतना ही ब्रह्मनिष्ठा है। क्योंकि आत्मा में पूर्णतया निष्ठा हुए बिना कोई प्राणी काम और क्रोध के वेग को रोक सके यह सम्भव नहीं है। इसलिए जो ऐसा कर सके, उसे तू बिना पूछे ब्रह्मनिष्ठ समझ लेगा, तो भूल नहीं होगी। ॥२३॥

"अर्जुन, जिनके सम्बन्ध में यह अपेक्षा रक्खी जासकती है कि शरीर छूटने पर वे ब्रह्मीभूत ही होंगे और इसलिए यह कहा जासकता है निर्वाण के तट पर ही खड़े हुए हैं उनके कुछ लक्षण और सुन।

श्लोक २४–२६

"कुरुवीर, जिनका चित्त सदैव समता में रहने के कारण कभी हर्ष अथवा शोक से लिप्त नहीं होता, वरन् विषम प्रसंगों में भी सदैव एक प्रकार का समाधान रखता है और वह ऐसा शान्त नज़र आता है मानों विश्राम कर रहा हो। जो ब्रह्म-पदार्थों की प्राप्ति से अपनेको बड़ा नहीं मानता और उनके अभाव में अपनेको दीन नहीं समझता वरन् अपने हृदय में निवास करनेवाली जो चैतन्यज्योति है वही सर्वोपरि और सब प्राप्तियों और अप्राप्तियों के मध्य में है यह समझता है, जिसने सब दोषों को धो डाला है, संशय और दुविधा-वृत्ति का अन्त कर दिया है और सर्वभूतों का हित ही जिसके शेष जीवन का सहज व्यवसाय है, ऐसे काम-क्रोध जीते हुए, इन्द्रियों और मन को वश में करने वाले, सर्व-ज्ञेय को जान चुकने वाले पुरुष और निर्वाण के बीच केवल प्राणदीप बुझने तथा आँखों की पलकें गिर जाने इतना ही अन्तर है। ।२४-२६॥

"अर्जुन, जीवन-मुक्त कहे जासकनेवाले का एक और विशेष बाह्य

चिह्न तुझे बताता हूँ। जो चिह्न मैं पहले तुझे बता चुका हूँ, उनमें मैं इसमें कोई विशेष वृद्धि नहीं करता। किन्तु एक ही बात एक तरह से कहने से थोड़ी समझी जाती है, दूसरी तरह कहने से फिर कुछ और समझ में आ जाती है। इस प्रकार पुनरुक्ति से उसका बोध विशेष स्पष्ट और दृढ़ होता जाता है, इसीलिए मैं तुझे बार बार, भिन्न-भिन्न रीति से वही बात समझाता रहता हूँ। इसलिए बिना उकताये मेरा निरूपण सुन।

श्लोक २७-२८

"कौन्तेय, जीवन-मुक्त योगी बाह्येन्द्रियों के विषयों के राग को छोड़ चुका होता है। साथ ही, इच्छा, भय और क्रोध से रहित होता है। वह विचारशील पुरुष मोक्ष को ही जीवन का ध्येय मानकर इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत रखता है इससे, सहजरूप से ही वह शरीर से निरोग होता है और प्राणायाम तथा धारणा का अभ्यास कर मन, प्राण और शरीर का विशेषरूप से नियन्ता होता है।

' परंतप, अपनी इन दोनों भौंहों के बीच ज्ञानतन्तुओं का एक महत्वपूर्ण चक्र है। योगी उसे आज्ञाचक्र कहते हैं। जिस प्रकार सारथी लगाम खींचकर घोड़े का वेग रोक देता है उसी तरह इस आज्ञाचक्र का नियन्ता शरीर के सब ज्ञानतन्तुओं और स्नायुओं की क्रियाओं को रोक सकता है। दोनों भौंहों के बीच के स्थान पर जो अपने चित्त की धारणा को इस प्रकार दृढ़ करता है मानों अपने नेत्रों द्वारा उस स्थान को देखना चाहता हो, उसे अभ्यास द्वारा इस आज्ञाचक्र का स्वामित्व प्राप्त हो-जाता है। इन्द्रियों की चंचलता और उत्तेजना को रोकने के लिए आज्ञा-चक्र में धारणा रखने का यह अभ्यास बहुत उपयोगी होता है।

"तदुपरान्त, अर्जुन, अपने इन नथुनों द्वारा आने-जाने वाले श्वास और उच्छ्वास की समता पर निरोगता तथा मन और प्राण की स्थिरता का बड़ा आधार होता है।

"कौन्तेय, मन में हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि वेगों के उठने पर भी श्वासोच्छ्‌वास की नियमितता तथा अंत में शरीर के आरोग्य में अन्तर न पड़े, यह सम्भव नहीं है। इसलिए, जिस प्रकार सारथी एक ओर अपने वात्सल्य से घोड़ों के प्रेम को जीतता है, और दूसरी ओर लगाम पर के प्रभुत्त्व से उनकी चंचलता और मस्ती को वश में रखता है, उसी प्रकार योगी पुरुष एक ओर से विवेक और विचार से काम-क्रोध को जीतने हैं, और दूसरी ओर से आज्ञाचक्र पर के प्रभुत्त्व तथा प्राणायाम के अभ्यास से उनके वेगों को वश में रखते हैं।

"अर्जुन, ऐसे लक्षणोंवाले योगी को मैं मुक्त ही समझता हूँ।

॥ २७-२८ ॥

"अर्जुन, ज्ञाननिष्ठा का एक और विशेष लक्षण तुझसे कहता हूँ, सुन। "ज्ञाननिष्ठ पुरुष का हृदय भक्ति का मानों पीहर ही होता है उसकी आत्मनिष्ठा में किसी प्रकार के अहङ्कार का लेशमात्र भी नहीं होता। वह यह जानता है कि सब ब्रह्मरूप है और इस ब्रह्म से अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। किन्तु इसके साथ ही वह जानता है कि इस ब्रह्म में अहंमपना सम्भव हो ही नहीं सकता। इससे वह "मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्व व्यापक हूँ, सबका नियंता और सब का स्वामी हूँ" इस प्रकार का अभिमान नहीं रखता, वरन् नम्रतापूर्वक और भक्ति-भाव से यह मानता है और कहता है कि "सब यज्ञों और तपों का भोक्ता, सर्वलोक का महेश्वर, सब प्राणियों का सुहृद वह परमात्मा ही है। जो कुछ है, वह वही है। 'मैं' नाम की कोई वस्तु हो तो वह उस परमात्मा की ही किसी शक्ति का आविर्भाव है। "यह जानकर वह इस परमदेव का आश्रय लेता है और उसे अपनी सब क्रियाओं का अधिष्ठाता बनाकर अपने भक्तिमान हृदय में शान्ति भोगता है।"

श्लोक २९

॥ २९ ॥

छठा अध्याय

चित्त-निरोध

पिछले अध्याय में समझाये हुए विषय को फिर से याद दिलाते हुए श्रीकृष्ण बोले :—

"अर्जुन, कर्म के फल पर आसक्ति रक्खे बिना कर्त्तव्य-रूप कर्मों को जो करता है, वही सच्चा सन्यासी है और वही सच्चा योगी भी है। गृहस्थाश्रम के केवल अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग करने से अथवा क्रिया शून्य होकर बैठे रहने से मनुष्य संन्यासी अथवा योगी नहीं होसकता। ॥१॥

श्लोक १—२

"अर्जुन, लोग संसार के जिस त्याग को संन्यास का नाम देते हैं, तू यह समझ कि वह एक दूसरी तरह का कर्मयोग ही है। क्योंकि, ये साधु भी किसी सङ्कल्प से प्रेरित होकर उसे सिद्ध करने के लिए ही तो संसार का त्याग करते हैं।

"इससे, अर्जुन, सच्चा संन्यास कहो अथवा सच्चा योग कहो, वह एक प्रकार के कर्मों के त्याग और दूसरी प्रकार के कर्मों का आचरण करने में नहीं, वरन् कर्म के विषयक सङ्कल्प का संन्यास ही सच्चा-संन्यास और सच्चा योग है। कर्म का आचरण करनेवाला कर्म के आरम्भ से उसके अन्तिम परिणाम तक उसके विषय की जो योजना अपने मन में बना रखता है और उसे सिद्ध हुई देखने की आकांक्षा रखता है, यह उस कर्म का सङ्कल्प है, यह भी मैंने तुझे समझाया है। इस सङ्कल्प का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं बन सकता। ॥२॥

"कौन्तेय, इस प्रकार योग विषयक अपना मत मैं तुझे फिर एक जुदी रीति से समझाता हूँ, वह यह कि योग का अर्थ संकल्प का संन्यास है।"

श्लोक ३—४

योग की यह नई व्याख्या सुनकर अर्जुन की जिज्ञासा जाग्रत हुई, और अब श्रीकृष्ण अपनी अगाध ज्ञान निधि में से कुछ नवीन रत्न निकालकर देंगे, यह जानकर उसे उल्लास हुआ। किन्तु आचार्यों के इस मत को वह जानता था कि शिष्य को प्रश्न पूछकर अपनी जिज्ञासा पूरी करनी चाहिए, इसलिए अपने मौन से कहीं श्रीकृष्ण निरूपण बन्द न करदें यह सोचकर वह तुरन्त ही प्रश्न करने लगा। वह बोला :—

"श्रीकृष्ण, आपने जो यह कहा कि सङ्कल्प के संन्यास का ही नाम योग है, तब वैसा योग सिद्ध करने का मार्ग भी आपको बताना चाहिए, और उसके सिद्ध होने की निशानी भी समझानी चाहिए। यह बताये बिना आप का निरूपण अपूर्ण रहेगा।"

श्रीकृष्ण ने देख लिया कि अर्जुन का शिष्यत्व तो प्रशंसनीय है, किन्तु उसकी अधीरता में ही उसकी कचाई रही हुई है। क्योंकि आचार्य कुछ पग-पग पर प्रश्नों की अपेक्षा नहीं करते। शिष्य की बुद्धि और पात्रता का निश्चय होने के बाद उसकी सेवा से संतुष्ट हुए आचार्य समझाने योग्य विषय स्वयं समझाने लगते हैं और उसने जितना न समझा हो उतना ही वह पूछकर समझ लेगा यह अपेक्षा रखते हैं।

किंतु, शङ्कर के साथ भी युद्ध करनेवाले और बलवान शत्रु का मद भंजन करनेवाले पाण्डुपुत्र—अर्जुन—में ज्ञान-प्राप्ति के समय बालक जैसी सरलता और उत्कण्ठा देखकर श्रीकृष्ण का चित्त प्रसन्न हुआ। उन्होंने मुस्कराकर कहा :—

"ठीक, भाई ठीक, तेरा प्रश्न लाख सोने की मोहरों का है । तूने यह न पूछा होता तो भी मुझे वह तुझे यथाक्रम समझाना ही पड़ता। तब पूछने के बाद तो उत्तर देने में विलम्ब किया ही क्यों जाय ? सुन।

"अर्जुन, योगियों के हम दो विभाग करते हैं—साधक और सिद्ध। जो सङ्कल्प-संन्यास रूपी योग के मार्ग से चढ़ना चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं, उन्हें हम साधक कहेंगे । जो सङ्कल्प-संन्यास रूपी योग के मार्ग पर पड़ चुके हैं वे सिद्ध कहाते हैं।

"अब जो साधक हैं वे कर्म द्वारा ही सङ्कल्प-संन्यास करते हैं। वे कर्म कौनसे हैं, यह मैं तुझे आगे बताऊँगा।

"अर्जुन, ऐसा साधक कर्मद्वारा आत्मज्ञान तथा समबुद्धि प्राप्त करता है। इसके फलस्वरूप वह अखण्ड शान्ति को प्राप्त करता है।

"इस प्रकार शान्त बने हुए योगी को फिर सङ्कल्प का संन्यास करने में कर्म कारणभूत होता है, यह नहीं कहा जासकता। बस उसे प्राप्त हुई शांति ही उसके सङ्कल्प-संन्यास का कारण होती है। वस्तुतः, शांति प्राप्त होने के बाद जिस प्रकार मूल में ही छिदे हुए वृक्ष को डालियाँ और पत्ते तोड़ कर मारने की जरूरत नहीं रहती, उसी तरह इसे संकल्प का उच्छेद करने की भी ज़रूरत नहीं रहती । जिस प्रकार किसी नदी के मूल में ही पानी गिरना बंद होगया हो, तो नदी शांत है, पार कर सकने योग्य है, इत्यादि कहना वृथा वाणी-विलास कहा जाता है, उसी तरह शांत हुआ योगी संकल्प-संन्यास करता है, यह कहना भी निरर्थक वाणी विलास ही है। उसकी शांति ही उसे इंद्रियों के विषयों तथा कर्मों एवं उनके फलों के विषय में अनासक्त बनाती है और उसे सर्वसंकल्प-संन्यासी की स्थिति में रखती है।

"इस प्रकार साधक के लिए कर्म इस संकल्प-संन्यास का साधन है और सिद्ध के लिए उसकी शांति ही संकल्प-संन्यास का कारण है।"

॥ ३-४ ॥

"प्रिय सखा, अब तू संकल्प-संन्यासरूपी योग का साधन मार्ग सुन।

"अर्जुन, संकल्प मात्र का निवासस्थान पुरुष का चित्त ही है।

यह चित्त ही मनुष्य का मित्र अथवा शत्रु बनता है।

श्लोक ५-६ बंदर के समान चंचल होकर वह उस व्यक्ति को एक प्रवृत्ति में से दूसरी में और दूसरी में से तीसरी में दौड़ाता है। जिस प्रकार सब दिशाओं में भाला लिये खड़े हुए मनुष्य बीच में आ पड़े हुए शूकर को, वह जिस दिशा में दौड़ता है उसी-में से उसे भाले की नोक चुभा-चुभाकर दीन और व्याकुल बना देते हैं, उसी प्रकार बलवान चित्त की वृत्तियाँ मनुष्य को बदहवास कर डालती हैं। वही चित्त यदि वश में हो तो अपने स्वामी को बुद्धि की स्थिरता। समता तथा आत्मनिष्ठा का लाभ कराता है, और उसका इस प्रकार मित्र बन जाता है कि जिस मित्रता की जोड़ संसार में कहीं भी नहीं मिल सकती।

"इससे, अर्जुन, यह चित्त ही मनुष्य का तारक अथवा मारक है। इस चित्त का योग्य अनुशीलन ही साधना है। जो इसका अनुशीलन करता है उसका यह मित्र बन जाता है, जो अनुशीलन नहीं करता उस-के लिए यह शत्रु का काम करता है।" ॥५-६॥

"अर्जुन, जिस साधना का क्रम मैं तुझे बतलाना चाहता हूँ, उसे समबुद्धि का अभ्यास-योग भी कहा जासकता है।

श्लोक ७-६ क्योंकि, इस अभ्यास के परिणाम में समबुद्धि की सिद्धि होती है। जिस मनुष्य ने इस अभ्यास को पूरा

कर लिया है, वह मनोजयी, अत्यन्त शान्त, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में चित्त का समाधान न खोनेवाला, पुरुष तथा प्रकृति की शोध कर उसके ज्ञान से तृप्त और निर्विकार एवं निश्चल चैतन्य रूप पुरुष में ही स्थिर और इन्द्रियों का स्वामी बनता है। फिर, इस सिद्ध पुरुष की पत्थर और सोना, सुहृद, मित्र और तटस्थ, मध्यस्थ, शत्रु और सम्बन्धी, साधु और पापी सब के प्रति समदृष्टि होती है। अर्थात् सोना मिलने से वह अपनेको भाग्यशाली नहीं मानता और पत्थर मिलने से दुर्भागी नहीं समझता; सुहृद अथवा मित्रों का हित हो, अथवा उन्हींका हित करना, और शत्रु का अहित हो अथवा उसका अहित करना, इस प्रकार की इच्छा नहीं करता। प्रत्युत् शत्रु का भी मित्र के ही समान हित चाहता और करता है। इसी प्रकार जहाँ वह साधु पुरुष का सत्कार करता है वहाँ पापी का तिरस्कार नहीं करता, वरन् पापी के प्रति भी मन में अनुकम्पा तथा करुणा रखकर उसका भला करने का प्रयत्न करता है।

"अर्जुन, पत्थर और सोने में समबुद्धि होने का कदाचित् तू यह अर्थ समझे कि सिद्ध योगी का व्यवहार 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' के समान होता है, अथवा उसकी आँखें सोने और पत्थर का बाह्यभेद पहचान नहीं सकतीं। वस्तुतः अर्जुन, सिद्ध पुरुष की विवेक बुद्धि अथवा ज्ञानेन्द्रियों में कोई त्रुटि नहीं होती, जिससे कि ऐसा हो सके प्रत्युत् सामान्य मनुष्य को सोने के प्रति जो आसक्ति और पत्थर के प्रति जो निरादर होता है, वह सिद्ध पुरुष को नहीं होता। इससे, सत्त्व-रक्षा के लिए अथवा किसी प्राणी के हित के लिए वह पत्थर का त्याग करता हो उतनी ही सरल रीति से सोने का भी त्याग करता है और सब पदार्थों की नाशमानता का ज्ञान होने के कारण, जिस प्रकार सामान्य पुरुष

पत्थर खोया जाने से उद्वेग नहीं करता, उसी प्रकार यह मूल्यवान रत्नों का नाश होने पर भी उद्वेग नहीं करता।

"इसी प्रकार, अर्जुन सिद्ध पुरुष की शत्रु और मित्र में भी समदृष्टि होती है। इससे कदाचित् तू यह समझ लेगा, कि वह मित्र को शत्रु के हाथ में सौंप देगा अथवा शत्रु के पक्ष में जाकर शामिल होसकता है। ऐसी बात नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि उसके अपने मन में शत्रु के प्रति भी मित्र-भाव रहता है। वह शत्रु को मित्र बनाना चाहता है, और यदि किसी उपाय से वह उसे मित्रवर्ग में लासकता हो तो वैसा करने का यह अत्यन्त प्रयत्न करता है। किन्तु जबतक शत्रु शत्रुभाव ही रखता रहे, तबतक उसे मित्र-भाव से वश में करने की वृत्ति रखते हुए भी आवश्यकता होने पर सामान्य जनों की भाँति विरोध भी करना पड़ता है। परन्तु, इसकी विशेषता इस बात में रहती है कि वशीभूत शत्रु के प्रति यह किसी प्रकार का रोष, द्वेष अथवा तिरस्कार नहीं दर्शाता, वरन् अपने मन में पोषित सद्भाव व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

'इसी प्रकार, कौन्तेय समदृष्टि वाले सिद्ध पुरुष की साधु और पापी के प्रति समबुद्धि होती है, इसका अर्थ कहीं तू यह न समझना कि वह सद्व्यवहार और दुर्व्यवहार को एक ही कोटि का समझता है, और पुण्य और पाप के लिए उसका एकसमान ही भाव होता है। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। पाप के प्रति उसे घृणा होती है, किन्तु पापी का वह तिरस्कार नहीं करता। वह जानता है कि पापी अपनी प्रकृति के वश होने के कारण परतन्त्र के समान है। उसके—पापी के—चित्त का समुचित रूप से अनुशीलन न होने के कारण, आरी की टोंच से चलनेवाले बैल के समान, वह परवशता से पाप का आचरण करता है। अथवा जिस प्रकार क्षय के रोगी को, दूसरे की नींद का विक्षेप होता है यह

जानते हुए भी प्रातःकालीन खाँसी खाँसे बिना छुटकारा नहीं मिलता, उसी प्रकार उसके—पापी के—विकारी चित्त के कारण उससे पापाचरण हुए बिना नहीं रहता। इससे, जिस प्रकार क्षय-रोगी के प्रति पड़ोसी रोष नहीं करता वरन् अनुकम्पा रखता है और स्वयं वैद्य हो तो उसकी खाँसी मिटाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सिद्ध योगी पापी के प्रति अनुकम्पा रखता है और उसके चित्त को सुधारने का प्रयत्न करता है।"

॥ ७-८ ॥

"अर्जुन, इस समत्व का अथवा संकल्प-संन्यास का योग सिद्ध करने के लिये अनेक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने की आवश्यकता है। क्योंकि, जबतक चित्त के समुचित रूप से परीक्षा और पृथक्करण द्वारा प्रज्ञा को सूक्ष्म कर आत्मा का स्वरूप ध्यान में आ नहीं जाता, तबतक समबुद्धि अथवा संकल्प-संन्यास का प्रयोजन एवं उसकी महिमा तथा फल भी ध्यान में नहीं आसकता। इसलिए इस अभ्यास क्रम को तू समझले।

श्लोक १०-१४

"कौन्तेय, यह अभ्यास एकान्त में और अकेले ही बैठकर करने की है। यह स्थान शान्त, पवित्र, लोगों के आने-जाने और गड़बड़ से मुक्त होना चाहिए। वहाँ जीव-जन्तु, पशु-पक्षी भी न रहें, इसलिए वहाँ कोई सरोसामान भी नहीं रखना चाहिए।

"कौन्तेय, यह साधना संकल्पों का नाश करने के लिए है, इसलिए इस साधना के अन्त में कोई ऋद्धि-सिद्धि की तृष्णा हो, तो इस साधना को दूर से ही नमस्कार करना उचित है। क्योंकि, इसका उद्देश्य तो इस प्रकार की तृष्णा का उच्छेद करना है। इसलिए, तृष्णा का और इस साधना का मेल सम्भव ही नहीं है।

"इस प्रकार साधक को आशा और परिग्रह त्याग कर इस स्थान में

शीत-अग्नि न लगे, अटपटापन प्रतीत न हो, खुजली उत्पन्न न करे। चुभे नहीं, जहाँसे गिर पड़ने का भय न हो, ऐसा न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा बिछौना बिछाकर, उसपर शान्त और प्रसन्न चित्त से बैठना चाहिए। सिर्फ दर्भ की चटाई पर मृगचर्म डालकर, ऊपर एक कपड़ा इतना बिछौना अच्छा और सुलभ भी होगा।

"धनञ्जय, योग का अभ्यास करनेवाले साधक के लिए पीठ के बीच का मेरुदण्ड शरीर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। इस मेरुदण्ड के आधार पर चित्त के वाहन-रूप सब ज्ञानतन्तुओं का जाल बिछा हुआ है। इस मेरुदण्ड के मार्ग से चित्त की सब वृत्तियों का प्रवाह शरीर में से सिर में और सिर में से शरीर में आता-जाता रहता है। यह मेरुदण्ड और उसपर टिका हुआ मस्तक जितना सीधा, दृढ़ और स्थिर रहता है उतनी ही बुद्धि तीव्र होती है और इसलिए साधक को लम्बे समय तक स्थिर रूप से बैठने के लिये, अपने अनुकूल होगया हो ऐसा सिद्धासन अथवा पद्मासन जैसा कोई आसन लगाकर मेरुदण्ड, गर्दन और सिर को सीधा दृढ़ तथा निश्चल रखकर उस बिछौने पर बैठना चाहिए। कम-से-कम पहरभर (दो तीन घण्टे) तक इस प्रकार बैठने की आदत डालनी चाहिए।

"इस प्रकार आसनबद्ध होने के बाद साधक को अपनी दृष्टि नासिका की नोक पर स्थिर करना और उसे इधर-उधर कहीं भी न भटकने देना चाहिए। अर्जुन, ज्ञानेन्द्रियों में आँख सबसे अधिक चञ्चल है। क्योंकि दूसरी इन्द्रियाँ तो विषय जब आकर चिपटते हैं तभी उनका भोग कर सकती हैं और पैरों की सहायता बिना विषय को भोग नहीं सकतीं। परन्तु आँख तो मानों पैरवाली हो इस प्रकार चारों ओर से दूर-दूर के विषयों को भोगती रहती है और बीच में कुछ रुकावट आने पर

ही उसका भोग रुकता है। इसलिए आँख को संयम में रखना अत्यधिक महत्त्व की बात है।

"इसके बाद साधक को अपने चित्त की शुद्धि के लिए प्रथम तो मन को एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए अर्जुन, एक विषय पर से दूसरे पर और दूसरे पर से तीसरे पर दौड़ते हुए चित्त की परीक्षा और शुद्धि करना सम्भव नहीं है। इसलिए पहले उसे एक स्थान और एक विषय पर बाँध देना चाहिए। नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर करने से वह पहले वहाँ और फिर धीरे-धीरे आज्ञा-चक्र में कैद हो जायगा, और एक विषय का ध्यान धरने से उसकी वृत्तियों की शाखायें न्यून होकर वह परीक्षण के योग्य होजायगी।

"अब, एकाग्रता सिद्ध करने के लिए किसका ध्यान धरना चाहिए, यह तू समझ ले। अर्जुन, यह तू भूल न जाना कि इस अभ्यास द्वारा चित्त को शुद्ध करना है और परमात्मा की पहचान कर लेनी है। इसलिए अशुद्ध विषय का ध्यान धरा नहीं जा सकता, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं।

"स्वाभाविक रूप से यही प्रतीत होगा कि परमात्मा ज्ञेय होने के कारण ध्यान भी परमात्मा का ही करना चाहिए। किन्तु, पार्थ, परमात्मा मन और वाणी से परे होने के कारण, भला उसका ध्यान किस प्रकार किया जा सकता है? इसलिए परमात्मा के स्थान पर, मन और वाणी का विषय हो सके ऐसा कोई शुद्ध ध्येय लेना चाहिए।

"ऐसा शुद्ध ध्येय परमात्मा की वह वैष्णवी शक्ति है। संसार का पालन, धर्म की वृद्धि तथा संतों की रक्षा का सात्विक सङ्कल्प ही वह वैष्णवी शक्ति है। सीधे इस सङ्कल्प को ही चित्त का विषय बनाकर इस सङ्कल्प पर एकाग्र होना यह एक रीति है। किन्तु, सङ्कल्प का ही सीधा

ध्यान कठिन प्रतीत होता हो, तो उस सङ्कल्प की साक्षात् मूर्ति-रूप विष्णु के किसी अवतार की अथवा मूर्तिमन्त करनेवाले विष्णु की किसी काल्पनिक किन्तु शुद्ध और सात्विक आकृति का भक्ति और प्रेम से ध्यान धरना, यह दूसरी रीति है।

"कौन्तेय, इसके साथ उसके नाम का जप करना इस ध्यान में और चित्त शुद्धि में सहायक होता है इसलिए उसका जप अवश्य करना चाहिए। जप में प्रणव (ॐ) का जप प्राचीनकाल से चला आता है और ब्रह्मवाचक है। किन्तु साधक को जिससे ध्येय में भक्ति और स्मृति उत्पन्न होती हो, ऐसे किसी भी पवित्र नाम का जप करने में कुछ हानि नहीं।

"इस प्रकार साधक को दूसरे सब सङ्कल्पों और विषयों को मन से निकालकर, प्रसन्न और शान्त चित्त से प्रति दिन नियमित रूप से एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए।

"एक बात कहनी रह गई, वह यह कि ध्यानाभ्यास करनेवाले साधक को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृढ़ता बिना आत्मा की पहचान नहीं होसकती। अब्रह्मचर्य के साथ देह, मन अथवा प्राण की शुद्धि अथवा वासनाओं और काम का क्षय सम्भव नहीं होता। इसलिए साधक को प्रयत्नपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।
॥१०-१४॥

"इस प्रकार मन और इन्द्रियों को रखनेवाला और अपने चित्त को एकाग्र करने के लिए निरन्तर अभ्यास करनेवाला योगी धीरे-धीरे निर्वाण देनेवाली आत्मा की शान्ति को प्राप्त करता है।" ॥१५॥

यहां अर्जुन को एक संकल्प का स्पष्टीकरण कर लेने की इच्छा हुई। उसने पूछा :—

"योगेश्वर, जिस प्रकार आपने ब्रह्मचर्य के विषय में सूचना की, उसी तरह साधक की दिनचर्या तथा आहार, निद्रा श्लोक १६-१७ आदि के सम्बन्ध में भी दिग्दर्शन करावें तो अच्छा हो।

इसपर जनार्दन बोले—"अच्छा, यह प्रश्न तूने ठीक पूछा।

"अर्जुन, साधक के रहन-सहन के सम्बन्ध में एक ही वाक्य में कहना हो तो मैं कहूँगा कि साधक को सब प्रकार की अतिशयता का त्याग करना चाहिए। साधक के शरीर और मन में स्फूर्ति तथा उल्लास रहना चाहिए। शरीर अथवा मन में व्याधि अथवा अशक्ति अथवा जड़ता उत्पन्न न होनी चाहिए; साथ ही शरीर में इतनी उष्णता भी न बढ़नी चाहिए कि जिससे अच्छी तरह जोर जनाये बिना उसे चैन नहीं पड़े। उसका शरीर और मन इतना हलका होना चाहिए कि ध्यान में अभ्यास के लिए उसने जितना समय रक्खा हो, उतने समय तक वह सावधानी रखकर, आलस्य, निद्रा, सुस्ती तथा शरीर अथवा मन की थकान आदि अनुभव किये बिना बैठ सके। ऐसे अभ्यास के लिए प्रतिदिन लगभग एक प्रहर (दो-तीन घण्टे) बिताना, कर्ममार्गी के लिए उचित माप है। जो अभ्यास का इतना श्रम भी सहन नहीं कर सकता, उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं कहा जा सकता।

"ऐसा स्वास्थ्य सम्पन्न करने के लिए क्या खाना और क्या छोड़ना चाहिए यह जितने महत्व की बात है। उसकी अपेक्षा कितना खाना चाहिए यह अधिक महत्व की बात है यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी साधक को राजस-तामस पदार्थ एवं मादक द्रव्य तो छूने ही नहीं चाहिएँ, वरन् सात्विक आहार में से ही खुराक पसन्द कर लेनी चाहिए।

किन्तु ऐसा सात्विक आहार भी नियमित मात्रा में ही लेना चाहिए। इतने माप से खाना चाहिए कि खाने के पश्चात् पेट भारी न लगे, सुस्ती न आवे और सोना न पड़े।

'अर्जुन, अत्याहार करनेवाले के समान ही बारम्बार उपवास करनेवाले को भी योग सिद्ध नहीं होता। इसलिए साधक को जल्दी पच सकने जैसा और मस्तिष्क को पोषण देनेवाला आहार करना चाहिए, किन्तु भूख से कुछ कम मात्रा में लेना चाहिए। सामान्य माप यह बताया जा सकता है, कि एक बार आसानी से जितना खाया जा सकता हो साधक उससे आधी ही खुराक ले। किन्तु उसे अच्छी तरह चबाकर खाना चाहिए। आधी खुराक से मानसिक श्रम अच्छी तरह किया जा सकता है, और फिर भी शरीर रोगी अथवा अशक्त नहीं होता।

'दूसरी बात है निद्रा की। साधक को तेरी तरह निद्रा का अत्यन्त नाश करने की आवश्यकता नहीं। उसे उचित मात्रा में नियमित और गाढ़ी निद्रा लेने में आलस्य न करना चाहिए, उसी प्रकार अत्याधिक निद्रालु भी न होना चाहिए।

"सामान्यतया रात्रि का अन्तिम प्रहर (रात्रि के ढाई अथवा तीन से पाँच-साढ़े पाँच बजे तक) नीरोगी साधक के अभ्यास के लिए अनुकूल समय समझा जाता है। साधक को ऐसी आदत डालनी चाहिए कि जिससे अन्तिम प्रहर रहते ही नींद खुल जाय और वह पूर्णतया जाग्रत हो जाय। मिताहारी साधक के लिए दो-सवा दो प्रहर (पाँच से सात घण्टे) की नींद पर्याप्त होगी। ढाई पहर (सात घण्टे) से कम ही होनी चाहिए, अधिक नहीं। अधिक निद्रा आती हो, तो समझना चाहिए कि आहार-विहार में कुछ दोष है।

"अब, दूसरी दिनचर्या के सम्बन्ध में मेरा कथन सुन । अर्जुन, साधक को केवल ध्यान के अभ्यास के समय ही तृष्णाओं का उच्छेद नहीं करना है, वरन् जीवन में से ही उन्हें निकाल देना है इसलिए, यदि वह दिन में तृष्णा-पोषक व्यवसाय करता एवं योजनायें .नाता रहे, तो यह आशा न रखनी चाहिए कि उसकी साधना कभी सिद्ध होगी। इसलिए, साधक को केवल पवित्र एवं आवश्यक कर्तव्य-कर्म ही करने चाहिएँ । यह करूँ और वह करूँ, यहाँ आऊँ और वहाँ जाऊँ, इस प्रकार की योजनायें न बनानी चाहिएँ । किन्तु इसके साथ ही जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसका त्याग भी न करना चाहिए । फिर, साधक को ऐसे कर्म निष्काम रूप से, निःस्वार्थ भाव से, पवित्र चित्त से और चित्त की प्रसन्नता एवं शान्ति कायम रखकर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

"अर्जुन, साधक को यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि वह आसन लगाकर बैठे उतना ही समय साधना का और शेष समय मन-चाहे आचरण करने का है । चित्त की परीक्षा और सूक्ष्मता करने के लिए जो विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, उसकी पूर्ति जितने ही ध्याना-भ्यास की आवश्यकता है । वैसे जिज्ञासु की साधना तो आठों पहर चलती रहती है । इसलिए उसे दिन में अपने जीवन का ध्येय न भूलना चाहिए और अपने कर्मों में विवेक तथा विचार की एकाग्रता सदैव रखनी ही चाहिए ।

"साथ ही, एक और सूचना साधक के लिए उपयोगी होने जैसी है ।

"अर्जुन, मैंने तुझे एकाग्रता सिद्ध करने के लिए परमात्मा के वैष्णवी शक्ति-संकल्प का अथवा उस संकल्प का मूर्तिमान आदर्श उप-स्थित करनेवाला अवलम्बन लेने की सलाह दी है । साधक अपनी दिनचर्या में इस बात को न भूले । उसे स्मरण रखना चाहिए, कि

इस वैष्णवी संकल्प के साथ उसे एकरूप होना है और अपने जीवन द्वारा इस संकल्प को विशेष रूप से सिद्ध करना है। इसलिए उसे इस प्रकार जीवन व्यतीत करने का आग्रह रखना चाहिए, जिससे कि धर्म का स्थापन, अधर्म का विरोध, भूतों का पालन तथा लोगों का कल्याण हो, और इस प्रकार उसे खाते-पीते, चलते-फिरते और काम करते हुए अपने ध्येय का एकाग्र चिन्तन न हो तो भी अनुसन्धान तो रखना ही चाहिए।

'इस प्रकार दिनचर्या रखने वाले को दु:खनाशक अभ्यासयोग में सिद्धि निश्चय मिलती है।" ॥१६-१७॥

"योगेच्छु, इस एकाग्रता के अभ्यास की समाप्ति किस प्रकार हो, यह तू अब सुन—"पार्थ, जिस प्रकार भय और वैर के कारण कट्टर शत्रु का सहज ही स्मरण रहता है, भूलने की इच्छा करने पर भी उसे भूल नहीं सकते,

श्लोक १८–२२

प्रसंगवश दूसरे-दूसरे विषय में चित्त रुका हो तो उसके निवृत्ति होते ही फिर शत्रु का स्मरण होआता है और स्वप्न में भी वही दिखाई देता है—जिस प्रकार उदर में कड़ाके की भूख लगने पर अन्न का स्मरण करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसकी प्रतीक्षा करता हुआ मन स्वयमेव ही तिलमिला उठता है, जिस प्रकार साध्वी स्त्री को अपने पति की प्रयत्नपूर्वक चिन्ता करनी नहीं पड़ती वरन् उसकी चिन्ता करना स्त्री का स्वभाव ही बन जाता है, जिस प्रकार माता अनेक कार्य करती होने पर भी अपने दूध पीते बच्चे की स्मृति उसे स्वयं ही हुआ करती है, उसी तरह जब ध्येय पदार्थ की सहज स्मृति रहने लगे और अभ्यास के समय तो जिस प्रकार ढालू जमीन पर बनी नाली में पानी का प्रवाह सन्नाटे के साथ चला जाता है उस तरह ध्येय में

वृत्ति का प्रवाह सन्नाटे के साथ चलता ही रहे, और किसी प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता यह भासित न हो, जिस प्रकार चलना आजाने पर एक के बाद दूसरा कदम किस तरह उठाया जाय इस ओर कुछ ध्यान नहीं देना पड़ता वरन् वह अपनेआप ही उठता जाता है उसी तरह याद रखने का प्रयत्न किये बिना ध्येय में चित्त रमा रहे, तब कहा जा सकता है कि एकाग्रता सिद्ध होगई।

'अर्जुन, इस प्रकार प्रथम ध्यान सिद्ध करने के पश्चात् चित्त-निरोध-रूपी योग का अभ्यास आरम्भ होता है। वह किस प्रकार होता है। यह अब उदाहरणपूर्वक समझता हूँ, सो सुन।

"यह मान लो कि साधक ने वैष्णवी संकल्प की साक्षात् मूर्त्ति-सम श्रीनारायण का रामचन्द्र का अथवा मेरा ध्यान धर उसपर एकाग्रता सिद्ध की हो। तत्पश्चात् वह नारायण के, राम के अथवा मेरे जीवन का जो भाव माला के दाने में धागे की तरह पिरोया हुआ हो, उसका ध्यान धरे। अर्थात् वह देखे कि नारायण है अन्याय और दुःख से पीड़ित जनों के लिए तपश्चर्या की मूर्ति, राम है धर्म की मर्यादा पालन करने का अतीव आग्रह; अथवा जिस प्रकार संजय ने मेरे विषय में विचारपूर्वक कहा है, उस तरह जहाँ सत्य, धर्म, लज्जा एवं सरलता है वहाँ गोविन्द है; कृष्ण सत्य में रहता है, और सत्य कृष्ण में प्रतिष्ठित है।'

"अर्जुन, मूर्ति में सिद्ध हुई एकाग्रता के प्रति साधक को अब ध्यान ही नहीं देना चाहिए। वह स्मृति से निकलना चाहे तो भी उसके प्रति उदासीन होजाना चाहिए। किन्तु राम के जीवन में दिखाई देता धर्म-मर्यादा-पालन का, नारायण के जीवन में दिखाई देता अनाथ-नाथ का अथवा मेरा सत्योपासना का भाव तादृश कर उसका

ध्यान धरना आरम्भ करना चाहिए, और इस भाव में पहले जितनी ही एकाग्रता सिद्ध होने तक उसका अभ्यास करते जाना चाहिए।

"इस प्रकार करते-करते साधक इस भाव के साथ एकरूप हो जायगा, और इस प्रकार एकरूप होते समय उसके हृदय में अत्यन्त मुदिता—अर्थात् उल्लास तथा पूज्यता-युक्त प्रेम-भावना—उत्पन्न होगी। जब ऐसी मुदिता का स्पष्ट अनुभव होने लगे, तब उसे तीसरा ध्यान आरम्भ करना चाहिए।

"मुदिता का ऐसा भाव चित्त की ही एक अवस्था है। इसलिए यह कहा जा सकता है, कि आत्मपरीक्षण तीसरे ध्यान से आरम्भ होता है।

"अब इस उल्लासयुक्त प्रेम-भाव का ध्यान किस प्रकार धरा जाता है, सो तू सुन।

"अर्जुन द्रोणाचार्य ने सबसे पहला शर-सन्धान कर कुएँ में पड़ी हुई गिल्ली बाहर निकाल दी थी, उस समय तुझे कैसा सानन्दाश्चर्य हुआ था—उसकी कुछ याद आती है? अथवा, जिस समय आचार्य से तूने शर-सन्धान का सबसे पहला पाठ लिया था, उस समय तुझे जो कुतूहल हुआ था, उसका स्मरण कर। और जब लक्ष्य वेधने में तू सबसे पहले सफल हुआ, उस समय के अपने आनन्द का विचार कर। कौरव बालकों में आचार्य ने तुझे ही परीक्षा में उत्तीर्ण किया, उस समय तुझ में प्रतीत हुई कृतार्थता का स्मरण कर। कोई राजकुमार न कर सका ऐसा मत्स्यवेध कर तूने स्वयंवर में द्रौपदी प्राप्त की, उस समय तेरे मन की स्थिति किस प्रकार की थी? इसी प्रकार, अर्जुन, साधक स्वयं अनुभव की हुई मुदिता का स्मरण करता है। वह अपनेमें ऐसी मुदिता की वृत्ति बराबर उत्पन्न करने का आग्रह नहीं रखता, न प्रयत्न ही करता है, वरन् अपनेको हुए ऐसे स्पष्ट अनुभव की स्मृति जाग्रत करने का प्रयत्न करता है।

"अर्जुन, उसको उस विषय में पहली वृत्ति फिर पीछे उसी तरह अनुभव नहीं होती। सफलता का पहला आनन्द अनुपम ही होता है। उसी तरह ध्यान के अभ्यास में पहले जो मुदिता अनुभव हुई, वह फिर अनुभव नहीं होती। इससे, साधक किसी समय निराश होजाता है, और इस प्रकार दुःख करता है मानो अपना कोई दोष होगया हो।

"किन्तु अनुभवी आचार्य से उपदेश प्राप्त साधक ऐसी दुविधा में नहीं पड़ता। क्योंकि, अपनी इस वृत्ति को बारबार अनुभव करना योगी का साध्य नहीं, वरन् उसका साध्य है अपनी स्मृति को जाग्रत करना। इसलिए साधक को मुदिता के इस प्रथम अनुभव का स्मरण करना और उसीको ध्यान का विषय बनाकर उसपर एकाग्र होने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे इस प्रयत्न में बारम्बार इस प्रकार की मुदिता उद्भव अवश्य होती है, किन्तु साधक उस अनुभूति पर लक्ष्य देकर इस वृत्ति के साथ एकरूप नहीं होता, वरन् मानो एकाग्र चित्त से उसकी परीक्षा करता हो इस प्रकार उसका ध्यान धरता है।

"कौन्तेय; योग के ऐसे अभ्यास में साधक समझने लगता है कि हर्ष-शोक, साहस-भय आदि जो वृत्तियाँ चित्त में उठती हैं, और मानों वह अपना कोई स्वरूप ही हो ऐसा भासित होता है, वस्तुतः वह ऐसा नहीं है। प्रत्युत् जिस प्रकार लिपी हुई भूमि पर स्त्रियाँ विविध आकृतियाँ बनाकर उनमें भिन्न-भिन्न रंग भरती हैं उस समय वह भूमि वैसे रंगोंवाली भासित होती है, किन्तु इससे वह भूमि कुछ इन रंगों वाली बन नहीं जाती प्रत्युत् उन्हें केवल आश्रय ही देती है, अथवा जिस प्रकार तालाब में कंकरी फेंकने पर एक के बाद दूसरी गोलाकार लहरें उठती हैं और सब दिशाओं में फैलकर शान्त होजाती हैं और तब दूसरा कंकर डालने पर फिर दूसरी तरह की लहरें उठती

हैं, फैलती हैं और शान्त हो जाती हैं, किन्तु ये लहरें कुछ पानी का सहज धर्म नहीं है, प्रत्युत पानी इनका आधार है; उसी तरह मुदिता, प्रेम, हर्ष, शोक, भय, तथा क्रोध आदि भाव इस चित्त पर उठते हुए रंग अथवा लहर ही हैं, और उनके पीछे भूमि अथवा पानी की तरह चित्त की स्वाभाविक स्थिति आधार-रूप से स्वतन्त्र है। इस प्रकार साधक को अपने चित्त की राग-द्वेष-रहित तथा कामना-विहीन अवस्था का भान होता है।

"कौन्तेय, साधक को चित की ऐसी निष्काम और निःस्पृह अवस्था सुखमय प्रतीत होती है। जिस प्रकार सारे दिन के समस्त कार्यों से निवृत्त होकर श्रमजीवी मनुष्य शाम को अपने सब स्नायुओं को ढीला कर निश्चिंत होकर पड़ता है, उस समय उसे अत्यन्त विश्राम और सुख प्रतीत होता है, अथवा जिस प्रकार बालक के कपड़े उतार लेने पर उसे मानो किसी बंधन से छूटने के समान स्वतन्त्रता और सुख प्रतीत होता है, अथवा जिस प्रकार स्वप्न में डरे हुए मनुष्य को जगा देने से स्वस्थता प्रतीत होती है, उस प्रकार जिस समय साधक को यह पता लगता है कि अपने पर हर्ष, शोक आदि भावों का भार कर्ण के कवच की तरह, अथवा कोयले की कालिमा की तरह, जो ऐसा चिपका हुआ मालूम होते हैं कि मरने के साथ ही छूटेंगे, ऐसी बात नहीं बल्कि ये भाव समुद्र की सतह पर उठती और विलीन होती लहरों की तरह चित्त की सतह पर ही उठते और विलीन होने वाले हैं, और उन भावों के नीचे, जिस प्रकार बड़े-से-बड़े तूफानों के नीचे समुद्र गम्भीर और शान्त ही होता है उस तरह, स्वयं सुखरूप, गम्भीर और शान्त ही है। अर्जुन, जिस समय साधक को चित्त की ऐसी दशा का अनुभव होता है, उस समय उसे अत्यन्त विश्रान्ति मिली हो, निश्चिन्तता मिली हो, संसार का

त्याग कर संन्यास लेनेवाले को भी जैसी निवृत्ति नहीं मिलती ऐसी निवृत्ति मिली हो, मानों अनेक वर्षों की थकावट एकदम उतर गई हो, इस प्रकार अत्यन्त सुख होता है। ॥१८॥

"अर्जुन वायु का किञ्चित मात्र भी वेग न हो ऐसे स्थल में दीपक की ज्योति स्थिर होती है, वह उपमा चित्त की इस स्थिति को पूर्णतः लागू पड़ती है। नदी के प्रवाह की तरह एक क्षण भी विराम न लेनेवाला चित्त मानों एकाएक स्थिर तथा गहन सरोवर में परिणत होगया हो इस प्रकार योगी की स्थिति होजाती है। ॥१९॥

"योग के अभ्यास से चित्त का निरोध कर साधक इस स्थान पर पहुँचकर, स्थिर सरोवर के तटपर पहुँच अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखने-वाले पुरुष के समान अपनी साक्षी अवस्था का अनुभव करता है और उसके साथ अत्यन्त सन्तोष पाता है। ॥२०॥

"महाबाहो, जिस प्रकार गूंगे ने गुड़ खाया हो तो वह अपने मन में ही समझकर बैठ रहता है, उसी तरह यह आत्यन्तिक सुख केवल बुद्धि स्वयं अपने तक ही समझकर रह जाती है, इन्द्रियाँ उसे समझ नहीं सकतीं। किन्तु सात्विक भावों के उठने से इस सुखका परिणाम सारे शरीर पर अवश्य होता है और पश्चात् उसके जीवन पर भी होता है। ॥ २१ ॥

"कौन्तेय, यह अनुभव होने के बाद साधक को अमृतत्व के विषय में ऐसी दृढ़ स्वानुभवयुक्त तथा शंका-रहित प्रतीति होजाती है कि उसमें से वह फिर कभी विचलित नहीं होता।

"यह पद प्राप्त होने के बाद विश्व में कोई ऐसा ऐश्वर्य अथवा सिद्धि नहीं, जिसका उसे कुछ अधिक मूल्य प्रतीत हो। इस स्थिति से सभी वस्तुयें अत्यन्त स्वल्प मूल्य की होजाती हैं। इससे बड़े-से-बड़ा

दुःख आ पड़ने पर भी उसके चित्त में ऐसी दीनता कभी नहीं आती कि 'आह, मैं हतभागी हूँ, मेरा सत्यानाश हो गया। अरे रे, दैव ने मेरी ओर न देखा!' ॥ २२ ॥

"प्रिय मित्र, इस प्रकार संक्षेप में मैंने तुझे योगाभ्यास का मार्ग समझाया। किन्तु सच पूछा जाय तो इसमें मैंने तुझे उसकी थोड़ी सी कल्पना ही दी है। इसकी पूरी समझ तो साधक इसका अभ्यास करना आरम्भ करे तभी होती है, और वैसा करते हुए कितने ही अंश उसी समय समझे जा सकते हैं।

श्लोक २३-२७

"इस योगाभ्यास की यथावत पद्धति समझ ली जाय और योग्य मार्ग-दर्शक की सहायता मिले तो इसमें प्रारम्भ, मध्य अथवा कहीं भी दुःख उत्पन्न नहीं होता। सच्चे मार्ग-दर्शक की सहायता लेकर, अच्छी तरह समझ कर, प्रसन्न चित्त से तथा श्रद्धा से उत्साहपूर्वक इस योग का अभ्यास करना चाहिए। ॥२३॥

"धनुर्धर, इसके बाद साधक को सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर, मन तथा इन्द्रियों को चारों ओर से वश में रखकर, चतुराई और धैर्ययुक्त बुद्धि से आत्माभिमुख मन को शान्त करके, मुदिता के भी ध्यान का त्याग कर, किसी प्रकार का चिन्तन ही न करना और जो-जो स्मृतियाँ उठें उनका तत्काल त्याग कर देना, इस प्रकार का अभ्यास धीरे-धीरे आरम्भ करना चाहिए। ॥२४-२६॥

"गुडाकेश, इस अभ्यास के परिणाम से योगी की सब तूफानी राजस वृत्तियाँ शान्त होजायँगी और उसके चित्त में अनुपम शान्ति-रूपी परमसुख उत्पन्न होगा। प्रथम कहे सुख से भी इस शान्ति का सुख विशेष स्थिर प्रकार का है, इस प्रकार वह अपने मन में समझेगा। कारण

कि पहले सुख में कुछ करने का, प्राप्त करने और अनुभव करने का सम्बन्ध रहता है, इसके गर्भ में, जिस प्रकार समुद्र शान्त हो तो भी तूफ़ान का अवसर रहता है उस तरह, वासना के अङ्कुर रहते हैं। किन्तु यह शान्ति, सुख और दुःख से रहित, शोक की सम्भावना से विहीन होने के कारण ही सुखमय प्रतीत होती कुछेक केवल सत्तामात्र स्थिति है, ऐसा बुद्धि से समझा जाता है। इसलिए विद्वानों ने माना है कि यह शान्ति ही जितना मानवबुद्धि से जाना जा सके उतना सर्वत्र, समानभाव से, सर्वगुण दोषों से और श्रुति के सर्वधर्मों से परे चैतन्यब्रह्म का अपने में निर्वासित स्वरूप है। ॥२७॥

"अर्जुन, अब तुझे ऐसे योगाभ्यास का फल बतलाता हूँ, वह तू ध्यानपूर्वक सुन।

"इस प्रकार पापरहित हुआ निरन्तर आत्मस्वरूप का अनुसन्धान रखनेवाला योगी सरलतापूर्वक ब्राह्मी स्थिति का अनुपम शान्ति-रूपी सुख प्राप्त करता है। ॥२८॥

श्लोक २८-३२

"वह अब आत्मप्रतीति से जानता है कि भूतमात्र में एक चैतन्यरूप परमात्मा ही व्याप्त है और भूतमात्र इस परमात्मा में ही बसे हुए हैं—अर्थात् विश्व में जो कुछ भी नामरूप प्रतीत होता है, सब ब्रह्मरूप ही है।

'कौन्तेय, ऐसा जाननेवाला सर्वत्र समदृष्टि ही होता है, इसमें तो कहना ही क्या? सोने की परीक्षा स्वर्णकार अपने पास आये हुए गहने पैर में पहनने के हैं अथवा सिर में लगाने के हैं इसपर से उनका भिन्न-भिन्न मूल्य थोड़े ही लगावेगा? वह तो कसौटी पर पूरा उतरा हुआ सोना चाहे जिस आकार का और चाहे जिस अंग में पहरने का हो, उसका समान मूल्य ही समझेगा। इसी तरह सर्वत्र ब्रह्म को ही देखनेवाला योगी यह जानता है कि जड़-चेतन एवं चींटी-पतंग से लेकर ब्रह्मा तक सकल सृष्टि एक ही चैतन्यमय तत्त्व की बनी हुई है। ॥२९॥

"और कौन्तेय, इस प्रकार जो आत्मा को ही सर्वत्र देखता है और आत्मा में ही सबको निहारता है, भला वह कैसे मानेगा कि आत्मा और अपना भी कहीं कभी नाश होसकता है ? अर्थात् आत्मदृष्टि से नाश शब्द ही अर्थहीन होजाता है । ॥३०॥

"इसलिए, अर्जुन, सर्वसृष्टि में एक ही तत्व को देखनेवाला ऐसा योगी सब क्रियायें करने पर भी, पानी में खड़े होकर, पानी की अञ्जलि भरकर उसी पानी में डालनेवाले पुरुष के समान, ब्रह्मरूप न हो ऐसा कुछ भी आचरण नहीं करता। ॥३१॥

"अर्जुन, यह समझ कि जो परमयोगी इस प्रकार यह देखता है कि सर्वत्र समान रूप से आत्मा ही निवासित है तथा सुख और दुःख सब, समुद्र की लहरों के समान, इसीके भाव हैं, और इसलिए अपने को किसी से अधिक नहीं समझता न किसीसे न्यून ही समझता है, अपने चित्त में उठनेवाले सुख-दुःखादि भाव जितने अंश में विचारने योग्य समझे जाते हैं, उतने ही दूसरे के भी समझता है, वह योगकी पराकाष्ठा को पहुँच गया है ॥ ॥३२॥

श्रीकृष्ण का, योगमार्ग का ऐसा मनोरंजक विवेचन सुनकर पहले तो अर्जुन अत्यन्त उल्लास में आगया। किन्तु एकाग्रता का अभ्यास करने के विषय में वह कोई सर्वथा नया विद्यार्थी नहीं था। शस्त्रविद्या सीखने तथा शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति के लिए यह आजतक एकाग्रचित्त से विविध प्रकार के अभ्यास एवं अनुष्ठान कर चुका था। गायत्री-जप आदि नित्यकर्मों का भी उसे अच्छी तरह अनुभव था। इसलिए एकाग्रता का अभ्यास कितना कठिन है, इसका उसे अच्छी तरह ध्यान था। इसलिए वह बोला: —

"जनार्दन, आपने यह जो समत्व का योग कहा, वह अत्यन्त श्रवण मनोहर तो है हीं, इसमें कुछ शंका नहीं। किन्तु वह कितने अंश तक साध्य है, इस विषय में मैं शंकाशील हूँ। केशव, चित्त का मुझे अच्छी तरह अनुभव है, और अपने अनुभव से मैं जानता हूँ कि चित्त को एकाग्र अथवा निरुद्ध करने का काम, व्यावहारिक रूप से कहा जाय तो, अशक्य ही प्रतीत होता है। मुझे तो प्रतीत होता है कि समुद्र यदि गरजना छोड़ दे, वायु यदि बहना छोड़ दे, सूर्य, चन्द्र, ग्रह इत्यादि यदि चलना बन्द करदें, तभी इस मन की चंचलता रुक सकती है और उसका निरोध हो सकता है। इसलिए जहां मूल आधार में ही अशक्यता अनुभव होती है वहाँ आगे के अभ्यास की आशा किस प्रकार की जाय?" ॥ ३३-३४ ॥

अर्जुन की इस शंका का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण बोले:—

"अर्जुन, यह सच है कि तू कहता है उसी तरह मन अतिशय चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है। किन्तु यदि तू यह मानता हो कि यह अशक्य है तो तेरी यह धारणा ग़लत है। वस्तु दुःसाध्य है, इसलिए असाध्य है यह कहना निर्बलता का चिह्न है। इसलिए यह निश्चयपूर्वक जान कि मनोनिग्रह असाध्य नहीं है।

श्लोक ३५-३६

"अर्जुन, सब योगियों ने यह अनुभव किया है कि अभ्यास और वैराग्य इन दो उपायों द्वारा वायु के वेग के समान मन भी पकड़ा जा सकता है। प्रयत्नशील तथा पुरुषार्थी मनुष्य के लिए इसमें कुछ भी अशक्य नहीं। मनुष्य अपने मनोबल से बाह्यशक्तियों को वश में करता है, तब वही मनोबल इसी मन को वश में करने में सफल होता ही है, इसमें शंका करने का कोई कारण नहीं। उपाय करने से, धीरज रखने

से, संलग्नता से, संयम से मन अवश्य ही वश में होगा और गरीब गाय की तरह जहाँ एकाग्र करना चाहें वहाँ एकाग्र होगा।

'विधिपूर्वक लगन रखकर अभ्यास करना यह एक शर्त, और वैराग्य अर्थात् इन्द्रियों तथा मन के सर्व बाह्यरसों के प्रति तृष्णा का अभाव यह दूसरी शर्त; जो इन दोनों शर्तों का पालन करे, उसका योग अवश्य ही सिद्ध होगा, इसका मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ।" ३५–३६

श्रीकृष्ण का ऐसा उत्तर सुनकर अर्जुन को एक और स्पष्टीकरण कर लेने की इच्छा हुई। उसने कहा:—

श्लोक ३७-३९

"श्रीकृष्ण, आपने कहा कि अभ्यास तथा वैराग्य से मन अवश्य एकाग्र किया जा सकता है, सो ठीक। किन्तु मान लीजिए कि कोई बेचारा श्रद्धालु और योग की इच्छा रखनेवाला साधक मन की चंचलता के कारण उसे वश में न कर सके, तो उसकी क्या दशा होगी? क्या शरद् एवं ग्रीष्म ऋतु की बदली के समान वह आकाश में नाश को प्राप्त होजायगा? न तो योग ही मिला, न भोग ही मिला, इस प्रकार दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ साधक कौनसी गति प्राप्त करेगा, कृपाकर यह मुझे कहो।"

॥३७—३९॥

श्रीकृष्ण बोले:—

श्लोक ४०--४७

"पार्थ, तेरी शंका स्वाभाविक है। किन्तु उसका उत्तर ब्रह्म विषयक सिद्धान्त में से ही मिल जाता है। मैंने तुझसे कहा है कि इस विश्व में ब्रह्म के सिवा कोई दूसरी वस्तु है नहीं, और विश्व के स्थूल अथवा सूक्ष्म तत्वों में चाहे जितने परिवर्तन होते रहें तो भी उसमें कोई वस्तुगत परिवर्तन होता ही नहीं।

"अर्जुन, दूध कुछ घण्टे ही अच्छा रहता है, दही उससे अधिक समय तक टिक सकता है, मक्खन कुछ दिनों तक नहीं बिगड़ता और घी तो महीनों तक काम में लाया जा सकता है। पृथ्वी पर गिरे हुए पानी में कचरा और मिट्टी मिलकर उसे गदला कर डालते हैं और अशुद्ध कर देते हैं किन्तु क्या कभी गदले पानी की भी मेघवृष्टि सुनी है ? इसी प्रकार, अर्जुन, अशुद्ध और अज्ञानी चित्त में अच्छे-बुरे परिवर्तनों की सम्भावना अधिक रहती है, किन्तु ज्ञानाभिमुख हुए चित्त को चूल्हे पर चढ़ाये हुए मक्खन के समान कहा जा सकता है। यदि मक्खन के पूरीतरह तप जाने के पूर्व ही अग्नि बुझ जाय तो इससे कुछ वह फेंक नहीं देना पड़ता। फिर अग्नि सुलगाने तक उसे रखा जा सकता है और आवश्यकता हो तो उपयोग में भी लिया जा सकता है।

"अर्जुन, मैंने पहले तुझे समझाया है कि सांख्यवेत्ता कहते हैं कि प्राणी का आत्मा के आश्रित रहनेवाला लिंग अथवा वासनात्मक देह इन्द्रियों से अगोचर तथा आकाश की तरह सूक्ष्म होने पर भी वज्र से भी अधिक कठोर और दुर्भेद्य है। शरीर के मरने से इस लिंग-देह का नाश नहीं होता, वरन्, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ें भूमिमें जिस ओर पानी मिलने की सम्भावना होती है, उसी ओर फैलने की सहज प्रवृत्ति करती हैं, उसी प्रकार वह अपनी अतृप्त वासनाओं की सिद्धि के लिए जहाँ अनुकूल शरीर धारण करने के लिए उचित क्षेत्र होता है उसी ओर पहुँचने की सहज प्रवृत्ति करता है।

"अशुद्ध और अनेक वासनाओं से युक्त चित्त भी सहज ही नाश होने अथवा शीघ्र ही रूपान्तर होनेवाला नहीं होता, प्रत्युत् जैसे-जैसे वासना कम और शुद्ध होती जाती है तैसे-तैसे यह अधिक शुद्ध परन्तु अधिक कठिन और दुर्भेद्य होता जाता है।

"अर्जुन, इस सर्वव्यापक आत्मा को ही देख। यह आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है, किन्तु इसकी कठोरता अभेद्य ही है। कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इसके स्वरूप में किञ्चितमात्र भी अन्तर कर सके। उसी तरह शुद्ध होनेवाला चित्त भी ज्यों-ज्यों आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करता जाता है, उसकी सूक्ष्मता के साथ दुर्भेद्यता भी बढ़ती जाती है।

"इससे, धनुर्धर शुद्धि के लिए प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपनी साधना पूरी होने के पूर्व मृत्यु को प्राप्त हो तो इसमें कोई डर की बात नहीं। जिस प्रकार सहस्रों छिद्रों में से निकलता हुआ पानी का प्रवाह एक ही छिद्रमें से निकलने लगे, तब वह जोश में सहस्रगुणा अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार जिसने अशुद्ध सङ्कल्प का त्याग कर आत्मशुद्धि तथा आत्मप्राप्ति का ही प्रबल सङ्कल्प रक्खा है, उस संकल्प का बल अशुद्ध चित्त की अपेक्षा सहस्रों गुणा अधिक होता है। उसके विषय में हम कह सकते हैं कि उसने जहाँ चाहे वहीं जाने तथा अपनी रुचि के अनुसार शरीर प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करली है। बाह्य बलों तथा परिस्थिति की अवगणना करने की इसकी शक्ति सामान्य जीवों की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिए 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली स्थिति किसी साधक की होती ही नहीं। यह डर व्यर्थ है। यह तो, देह-धारण के लिए अनुकूल समय, स्थान तथा परिस्थिति प्राप्त होने तक, दीर्घकाल पर्यन्त अदृश्य रूप से भी पुण्यशीलों में ही रहकर, वहाँ भी लाभ प्राप्त करता और कराता रहता है। फिर अनुकूल स्थान का निर्माण होते ही यह योगभ्रष्ट जीव किसी पवित्र तथा भाग्यशाली कुटुम्ब में अथवा किसी अत्यन्त दुलभ योगी परिवार में ही जन्म लेता है। ॥४०-४२॥

"जिस प्रकार कोयल को कूकने की कला सीखनी नहीं पड़ती, वह अपनेआप सहज स्वभाव से कूकती ही है, उसी तरह यह पूर्व-जन्म

के संस्कार से सहज रूप से ही योगाभ्यास में प्रवृत्त होता है और अपनी साधना की पूर्ति का प्रयत्न करने लगता है। कर्मकाण्ड की विधियों से तथा सकाम धर्मों से परे होकर मानों बरबस खिंचता हो, उस प्रकार वह योगाभ्यास में खिंचता जाता है। ॥४३–४४॥

"अर्जुन, किसी सिद्ध योगी को देखकर तू कहीं यह न समझना कि यह सब उसकी एक ही जन्म की साधना का फल है। वस्तुत: इस जीव ने अनेक जन्मों तक अधर्म से धर्म, आसक्ति से वैराग्य, अज्ञान से ज्ञान तथा मृत्यु से अमृत की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया है और ऐसे अनेक जन्मों के प्रयत्नों का फल उक्त योगसिद्धि है। ॥४५॥

"किन्तु, पार्थ, इसका यह अर्थ भी न करना कि तब फिर अनेक जन्मों के पश्चात फल देनेवाली योगसाधना करने से क्या लाभ? क्योंकि, कभी-न-कभी तो यह प्रयत्न करना ही पड़ेगा। इसके बिना शान्ति का कोई दूसरा मार्ग ही नहीं। इसलिए कल्याण इसीमें है कि अभ्यास आज से ही आरम्भ कर दिया जाय। फिर, इसके सिवा, यह योग-मार्ग सुनने की और प्राप्त करने की इच्छा होना और उसमें रुचि होना भी सत्कर्मों के उदय का ही फल है। साथ ही, यह भी सम्भव है कि ऐसी साधना किञ्चित मात्र ही अधूरी रही हो और यह बात उस ओर प्रवृत्त करने के लिए निमित्त मात्र ही बन जाय। कुछ भी हो, ऐसा योग सिद्ध करने का अभ्यास आरम्भ करने के लिए तू उत्साह धारण कर।

"अर्जुन, तप, स्वाध्याय तथा कर्मोपासना की अपेक्षा यह ध्यानयोग अधिक महत्त्व का है और ऐसे ध्यानयोग में भी श्रद्धा तथा भक्ति से आचरित आत्म-प्राप्ति का योग सबसे अधिक महत्त्व का है। इसलिए, तू ऐसा आत्मयोगी हो। यही मेरी इच्छा और आशीर्वाद है।"॥४६–४७॥

सप्तम अध्याय

प्रकृति-विज्ञान

"पार्थ, जिज्ञासु के मन में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यह समग्र विश्व यदि एक चैतन्य-रूप परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ नहीं है तो फिर विश्व में दिखाई देते हुए ये अनन्त प्रकार के भेद और विश्व का यह विस्तार किस लिए है ? कौन्तेय, तू परमात्मा की भक्ति में आसक्त होकर और उसका आश्रय लेकर उसको जानने का योग साधने की इच्छा रखता है। इसलिए आत्मा का ज्ञान तथा विश्व की रचना का विज्ञान और इस प्रकार परमात्मा का समग्र स्वरूप तुझे निःसंशयरूप से समझ लेना चाहिए । क्योंकि इसमें ज्ञानमात्र का समावेश होजाता है। इसलिए अब वही विषय मैं तुझसे कहता हूँ, उसे तू ध्यान से सुन। ॥१-२॥

श्लोक १–२

"परन्तप, यह एक आवश्यक विषय है; कारण कि यह ऐसा अटपटा विषय है कि सहस्रों मनुष्यों में से एकाध व्यक्ति ही इस योग-सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, और ऐसे सहस्रों प्रयत्न करनेवालों में से एकाध ही मुझे तत्वतः अच्छी तरह समझ सकता है।

"अर्जुन, इस आत्मा और विश्व-विस्तार के सम्बन्ध में पण्डितों में अनेक प्रकार के मत और वाद प्रचलित हैं और अनेक दर्शनकारों ने इसके विषय में विविध प्रकार की कल्पनायें रची हैं। फिर वे, इन कल्पनाओं में कौनसी सच्ची हैं, कौनसी बुद्धियुक्त है और कौनसी प्रशंसा किये जाने योग्य हैं, इत्यादि बातों पर परस्पर विवाद तथा शास्त्रार्थ करते हैं। इन सब वादों तथा मतों में से जितना सर्वथा आवश्यक तथा

सहज ही समझा जासकने योग्य है, और जो अच्छी तरह तात्त्विक विचार देनेवाला है, उतना ही मैं तुझसे कहूँगा। इतना जान लेने से तत्त्वज्ञान में अधिक जानने की आवश्यकता न रहेगी। ॥३॥

"इस सम्बन्ध में मैंने यह मत निश्चित किया है कि सर्वव्यापी परमात्मा दो प्रकार की प्रवृत्ति अथवा स्वभाव का है।

श्लोक ४–५ एक अपर प्रकृति और दूसरी पर प्रकृति। इनमें से अपर प्रकृति के आठ प्रकार के और भेद विश्व में देखने में आते हैं–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश इन पञ्चमहाभूत के रूप में तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार के रूप में। अर्थात् इन आठ प्रकारों में से परमात्मा के स्वरूप के साथ कम-से-कम एक स्वभाव उसकी अपर प्रकृति के रूप में जुड़ा हुआ दीखता है।

"इसके सिवा, अर्जुन, इस परमात्मा का एक पर स्वभाव भी विश्व में जहाँ-जहाँ अपर प्रकृति विदित होती है वहाँ-वहाँ सर्वत्र उसके साथ ही रहता दिखाई देता है। इस स्वभाव को परमात्मा का जीव स्वभाव कहा जा सकता है।

"कौरवकुल-भूषण, परमात्मा का जीव-स्वभाव उसकी पर प्रकृति कहलाता है, कारण कि वह स्थिर, ज्ञानयुक्त तथा एकरूप है और अपर प्रकृति को आधार देकर विश्व का धारण करता है। अर्थात् इस विश्व का अस्तित्व इस चेतन जीव प्रकृति के कारण ही है। ॥४-५॥

"वीरेन्द्र, तू यह समझ कि विश्व में जो कुछ स्थावर-जंगम पदार्थ तथा प्राणी हैं, उन सबका कारण परमात्मा का यह दो प्रकार का—आठ प्रकार का अपर तथा एक प्रकार का पर—जड़ चिदात्मक स्वभाव है। इन दो प्रकृतियों द्वारा परमात्मा ही अखिल विश्व की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण है। इस परमात्मा के ऊपर, उसके पीछे, अथवा

उसे आधार देनेवाला दूसरा कोई तत्त्व नहीं, प्रत्युत् धागे में माला के दाने पिरोये होने के समान इस परमात्मा में ही अखिल विश्व पिरोया हुआ है।" ॥६-७॥

"कौन्तेय, प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसा गुण रहता है कि वह यदि निकल जाय तो हम उस वस्तु को उस नाम से पहचानना छोड़ देते हैं। अर्जुन, जिस रेखा के दोनों छोर मिल जायँ क्या हम उसे सीधी रेखा कहेंगे? अथवा जिसमें से मिठास निकल जाय क्या हम उसे शक्कर कह सकेंगे? दूध में खटाई आजाय और उसमें से पानी जुदा होने लगे, तब उसे दूध कौन कहता है? इसलिए यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु का जो लाक्षणिक गुण है वह उस वस्तु का सार-रूप है।

श्लोक ८-११

"परन्तप, इस प्रकार तू यह समझ कि परमात्मा की जो अपर तथा पर प्रकृतियाँ बतलाईं, तथा उन्हें प्रकट करनेवाले महापदार्थों में उनका जो लाक्षणिक गुण है, वही परमात्मा का तत्त्व है।

"उदाहरणार्थ, यह समझ कि, जल का रस धर्म, चन्द्र-सूर्य का प्रकाश-धर्म, सर्व वेदों में निहित प्रणव, आकाश का शब्द धर्म, मनुष्य में पुरुषतत्त्व, प्राणियों में जीवन तत्त्व, पृथ्वी का गन्ध धर्म, अग्नि का तेजगुण अथवा तपस्वियों का तप-प्रभाव—यही सब इन प्रत्येक में बसे परमात्मा का चिह्न है। ॥८-९॥

"धनञ्जय, संक्षेप में ही यदि तू परमात्मा को जानना चाहे तो यों कहा जा सकता है कि प्राणीमात्र का यह सनातन बीज ही वह ब्रह्म है, और विभूतिरूप में जानना चाहे तो यों कहा जा सकता है कि बुद्धिमानों की बुद्धि तेजस्वियों का तेज, बलवानों का काम तथा राग से रहित बल और धर्मयुक्त काम ही ब्रह्म है। ॥१०-११॥

"अथवा, संक्षेप में इसे यों भी समझाया जा सकता है कि विश्व में जो कुछ सात्विक, राजस अथवा तामस भाव है, वह वस्तुतः परमात्म-रूप ही है।

श्लोक १२ । १३

"किन्तु, ऐसा कहने में एक गलतफहमी होने का भय है। अर्जुन, तीनों गुण परमात्म-रूप ही हैं, इसका तू यह अर्थ न समझना कि परमात्मा त्रिगुणात्मक है। नहीं, कदापि नहीं। परमात्मा तो इन तीनों गुणों से परे तथा इन्हें केवल आधार ही देनेवाला है और त्रिगुण का इनके स्वरूप को स्पर्श तक नहीं होता।

त्रिगुण का भाव ब्रह्मरूप ही है यों कहने से गलतफहमी पैदा होती है। ऐसा न होने देने के लिए ही सांख्यशास्त्र वाले ब्रह्म ही एक वस्तु है इस सिद्धान्त को छोड़कर पुरुष और प्रकृति—अथवा ब्रह्म और माया—ये दो स्वतन्त्रतत्त्व हैं यह प्रतिपादन करते हैं, और पुरुष तथा प्रकृति को एक-दूसरे से सम्बद्ध किन्तु जुदा ही तत्त्व मानते हैं।

"कुरुश्रेष्ठ, यह बात निर्विवाद है कि सृष्टि में तीनों गुणों के भाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं। इन तीनों गुणों के कार्यों से ही यह सर्व जगत् ऐसा व्याप्त हुआ प्रतीत होता है कि एक ओर सामान्य जीव इसके मोह-जाल में फंसे रहकर इससे परे अविनाशी परमात्मा को समझ ही नहीं सकते, और इसलिए यह मानते हैं कि यह सब त्रिगुण प्रकृति का ही कार्य है, दूसरी ओर विद्वान लोग भी परमात्मा तथा त्रिगुणों के बीच किस प्रकार सम्बन्ध समझा जाय और त्रिगुण के भाव परमात्म-स्वरूप होने पर भी परमात्मा को उससे अलिप्त तथा परे किस प्रकार समझा जाय इस विषय में असमंजस में पड़ जाते हैं और विविध प्रकार के कल्पना जाल रचकर उनमें फँस जाते हैं।

"इस प्रकार परमात्मा की यह त्रिगुणात्मक प्रकृति एक प्रकार की

अटपटी समस्या है । इसलिए जिस प्रकार बाजीगर के कौशल तथा युक्तियों को माया कहते हैं, उसी तरह इसे परमात्मा की दैवी माया कहते हैं।

"कौन्तेय, इस प्रकार इस त्रिगुण के जाल में विद्वान-अविद्वान सभी फँसे हुए हैं। उसमें से निकल जाने का एक ही मार्ग है, वह यह कि विद्वान को गुणों के विषय का यह कल्पनावाद ही छोड़ देना चाहिए और अविद्वान इन गुणों तथा इनके कार्यों सम्बन्धी आसक्ति छोड़ दें तथा दोनों परमात्मा का ही आश्रय रखकर, उसे शोध कर, उसके स्वरूप की निष्ठा तथा ज्ञान प्राप्त कर लें।

"अर्जुन, गुणों का आकर्षण तथा तत्सम्बन्धी कल्पनायें छोड़कर, योगभ्यास द्वारा परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करनेवाला दोनों वस्तुएँ यथार्थरूप से देखता है—परमात्मा का स्वरूप त्रिगुणों से परे तथा अलिप्त है, और फिर भी त्रिगुण उस परमात्मा के आश्रित ही हैं, और ये तीनों ही परमात्मा की ही अपर प्रकृति के रूप में रहते हैं। वस्तुस्थिति यही है कि वह निश्चित रूप से देखता है, किन्तु यह विषय इन्द्रियातीत है ऐसा जानकर उसकी उत्पत्ति जानने के लिए कल्पना दौड़ाने की झंझट में नहीं पड़ता। कौन्तेय, जीभ को गुड़ मीठा लगता है यह प्रत्यक्ष अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु क्या उस मीठेपन का स्वरूप और उसकी व्याख्या विद्वत्ता से समझाई जा सकती है? वह तो खाकर ही पहचाना जा सकता है और पहचानकर भी मन में केवल समझ कर ही रह जाना पड़ता है। अथवा, दूध की सफेदी निकाल दी जाय तो वह किस रंग का रहेगा और उसका स्वाद रहेगा अथवा नहीं, इस विवाद का क्या कहीं अन्त आसकता है? इसी प्रकार इन गुणों की माया केवल परमात्मा के ज्ञान से ही समझी और पार की जा सकती है; किन्तु समझकर भी वाणी द्वारा समझाई नहीं जा सकती। ॥१२–१४॥

"सुभद्रेश, इस संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं—एक तो यह समझने-वाले कि जिसमें त्रिगुणों का व्यापार दिखाई देता है,

श्लोक १५ वह अपर प्रकृति ही विश्व का कारण तथा कलेवर है। वे इस संसार को जड़ भूतों का ही समुदाय समझते हैं और यह मानते हैं कि जिस प्रकार दूध का ही विकार दही है, उसी तरह इस जड़ का विकार चेतना है। इसलिए वे आत्मज्ञान की प्राप्ति, चित्त की शुद्धि तथा उत्कर्ष, इन्द्रियों का संयम, अनासक्ति तथा भोग की मर्यादा आदि में विश्वास नहीं करते। प्रत्युत प्राप्त स्थिति में जिस प्रकार जितने भोग, ऐश्वर्य और सुख मिल सकें उतने प्राप्त कर लेने के सिवा दूसरा कुछ प्रयोजन नहीं देखते। दुष्कर्म करने में उन्हें किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं होता। किसी प्रत्यक्ष आपत्ति के भय से ही वे दुष्कर्म करने से रुकते एवं किसी प्रत्यक्ष सुखोपभोग की आशा से ही कोई सत्कर्म करने को प्रेरित होते हैं।

"परन्तप, यह विचारसरणि आसुरी है। यह आँखोंवाली समान दिखाई देती हुई भी अन्धी है और विद्वत्तायुक्त दिखाई देने पर भी अज्ञानमय है। कारण कि, अपनेमें तथा आसपास सर्वत्र चैतन्य का इतना सब व्यापार दिखाई देते हुए भी चैतन्य के बीज से रहित जड़ प्रकृति में निर्माण करने की यह शक्ति किस प्रकार आसकती है, इसका वे विचार नहीं करते।

"महाबाहो, प्राणियों के ज्ञान को अज्ञान से आवरित करने वाली माया नाम से जो पहचानी जाती है, वह यह भूलभरी विचारसरणि ही है। ऐसी आसुरी प्रकृति में फँसे हुए मनुष्य कभी आत्मा का अव-लम्बन नहीं लेते। ॥१५॥

"अर्जुन, अब तू उन सत्कर्म में श्रद्धा रखनेवाले दूसरे प्रकार के मनुष्यों के भेद सुन, जो परमात्मा का अवलम्बन लेते और त्रिगुणात्मक प्रकृति के जाल को संकट-रूप समझते तथा उससे छूटने की इच्छा रखते हैं।

श्लोक १६–१६

"अर्जुन, ऐसे मनुष्यों के चार विभाग किये जा सकते हैं। ये चारों ही परमात्मा का आश्रय लेनेवाले हैं, फिर भी इनमें बड़ा अन्तर्गत भेद हैं। इनमें एक तो दुःखी एवं निराश, निष्फल, संसार की व्याधि और चिन्ताओं तथा रोगों से तप्त लोग परमेश्वर की शरण ढूँढते हैं। यह आर्तजनों का वर्ग कहाता है।

"दूसरा विभाग ऐसे पीड़ितों का नहीं, वरन्, पीड़ित न होने पर भी विशेष सुख समृद्धि की इच्छा रख, परमेश्वर की कृपा से उसकी प्राप्ति होती है यह मानकर, अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी उपासना, भक्ति करनेवालों का है। यह अर्थार्थियों का वर्ग कहा जाता है।

"तीसरा वर्ग जिज्ञासुओं का है। सांसारिक सुखों की प्राप्ति अथवा दुःखों के नाश के सम्बन्ध में वे उदासीन-से होते हैं। 'ये मिलें, न मिलें, जैसा प्रारब्ध और जैसी प्रभु की इच्छा' ऐसे विचार की गाँठ बाँधकर उसकी न तो कभी याचना करते हैं और न उसकी इच्छा से परमात्मा की शरण लेते हैं। प्रत्युत् उन्हें परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करने की महद् अभिलाषा रहती है, और परमात्मा की भक्ति कर, उसका अनुग्रह प्राप्त कर, उसे समझने की शक्ति प्राप्त करने की ये महान् आशा रखते हैं। यह अकृतार्थ जिज्ञासुओं का वर्ग है।

"चौथा वर्ग है ज्ञानियों का। इन्होंने कर्मयोग तथा भक्ति द्वारा आत्मप्रतीति से यह जान लिया है कि वासुदेव ब्रह्म ही एक सत्य है, उसके सिवाय दूसरे किसीका अस्तित्व ही नहीं है, और इसलिए वे इस

ब्रह्मस्वरूप में ही अपने व्यक्तित्व को लीन किये हुए हैं। इन्होंने एक परमात्मा का ही अवलम्बन लिया है, अथवा निरालम्ब होकर बैठे हैं, इन दो में से क्या ठीक है, यह कहना भी कठिन है। कौन्तेय, मनुष्य के लिए कहा जासकता है कि वह भूमि का आश्रय लेकर सो रहा है, किन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि खड़े-खड़े सोनेवाले घोड़े का शरीर किसके आश्रय पर सो रहा है? अथवा, जबतक नदी समुद्र तक पहुँच नहीं जाती तब तक यह कहा जासकता है कि वह समुद्र की ओर दौड़ रही है और कवि इस नदी को पत्नी की तथा समुद्र को पति की उपमा दे सकता है। किन्तु उसके समुद्र में मिल जाने के बाद क्या यह कहा जा सकता है कि वह दौड़ती है या नहीं दौड़ती? अथवा क्या फिर पति-पत्नी की कल्पना का अवकाश रहता है? इस प्रकार ब्रह्मपद को प्राप्त ज्ञानी परमेश्वर का अवलम्बन लेकर रहता है अथवा निरालम्ब है यह भाषा ही स्थानीय होजाती है। पार्थ, अम्बिया में गूदा और गुठली इस प्रकार दो भाग किये जा सकते हैं, किन्तु क्या बादाम के लिए कहा जा सकता है कि उसमें गूदा कौनसा और गुठली कौनसी है? इसी तरह परमात्मा और ज्ञानी के बीच कौन आत्मा और कौन जीव है यह निश्चित करना कठिन है। ज्ञानी को शरीरधारी परमात्मा कहना अथवा परमात्मा को ज्ञानी का आत्मा कहना, ये दोनों ही एकसमान हैं। वह उस स्थान पर जाकर बैठा है जिससे कोई विशेष उच्च स्थान नहीं है।

"अर्जुन, इस कारण यद्यपि उक्त चारों प्रकार के ईश्वर-भक्त पवित्र वृत्ति के और आदरणीय पुरुष हैं, फिर भी ज्ञानी को इन सबमें प्रथम स्थान देना चाहिए। जिसका योग पूरा होगया है, उसे नित्ययोगी कहना अथवा योग-वियोग-रहित कहना एकसा ही है। किन्तु जिस

प्रकार मनुष्य को अपने जीव से बढ़कर और कुछ अधिक प्रिय नहीं होता और जीव को दूसरी ममताओं की अपेक्षा अपने शरीर की ममता सबसे अधिक होती है, उसी प्रकार ज्ञानी को, अपने जीव के स्थान पर परमात्मा को ही स्थापित करने के कारण, परमात्मा से अधिक प्रिय और कुछ नहीं होता और परमात्मा को, अपने शरीर सम बने ज्ञानी की अपेक्षा और कोई अधिक प्रिय नहीं होता।

"धनंजय, अनेक जन्मों की साधना के अन्त में ऐसी ब्रह्मनिष्ठता प्राप्त होती है, और संसार में ऐसे महात्मा पुरुष विरले ही उत्पन्न होते हैं। इनका दर्शन और इनका समागम दुर्लभ ही है।" ॥१६–१९॥

श्रीकृष्ण का यह प्रवचन सुनकर अर्जुन ने प्रश्न किया—

श्लोक २०–३०

"जनार्दन, आपने मनुष्यों के आसुरी और ईश्वर-भक्त, ये दो भेद बताये। आपने कहा कि आसुरी मनुष्य त्रिगुणात्मक जड़-प्रकृति को ही जगत् का कारण और कलेवर समझते हैं और परमात्मा के प्रति नास्तिकता प्रकट करते हैं। तत्पश्चात् आपने यह कहा कि ईश्वरभक्त अनन्य होते हैं और केवल परमात्मा का ही आलम्बन रखते हैं।

"किन्तु, केशव, संसार में ऐसे सैकड़ों मनुष्य देखने में आते हैं कि जो परमेश्वर का अनन्य आलम्बन भी नहीं रखते, और उसी प्रकार देवभाव के प्रति नास्तिकता भी नहीं रखते, प्रत्युत् भिन्न-भिन्न अनेक देवों के प्रति आस्था रखकर उनकी शरण ढूँढ़ते हैं और उनकी भक्ति करते हैं। ऐसे मनुष्यों को आप किस श्रेणी का समझते हैं ?

इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण बोले—

"अर्जुन, अपर तथा पर प्रकृतिवाले और दोनों के आधाररूप पर-ब्रह्म के सिवा दूसरे जो कुछ देवता अथवा शक्तियाँ हैं, वह सब परमात्मा

की त्रिगुणात्मक अपर प्रकृति का ही कोई गौण, अंशमात्र तथा व्यक्त रूप हैं। ये शक्तियाँ मर्यादित हैं और सब परमात्मा के आश्रित रहने-वाली तथा उसकी अपर प्रकृति का कार्य है। प्राणियों की अनेक कामनायें इन शक्तियों द्वारा सिद्ध होती हैं और, इसलिए अपूर्ण ज्ञानवाले होने तथा अज्ञान और भोग ऐश्वर्य इत्यादि कामनाओं से युक्त होने के कारण अंशतः आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य उनका आश्रय लेते हैं।

"परन्तप, आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य नास्तिक होते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें कहीं भी श्रद्धा अथवा भक्ति नहीं होती। भोग और ऐश्वर्य में तो उन्हें अपार श्रद्धा और भक्ति होती है, और जिस शक्तिद्वारा उसकी सिद्धि होती है, उस शक्ति की तथा कामनाओं की वे श्रद्धा, भक्ति तथा उत्साह से आराधना करते हैं।

"इस प्रकार अपनी कामनाओं के कारण जिनका ज्ञान हरण हो गया है, वे अपनी कामना के अनुरूप शक्ति ढूँढ कर, उसे देवस्थान पर बैठा कर श्रद्धापूर्वक उसे भजते हैं, और उनके हृदय में स्थित अन्तर्यामी प्रभु भी उसकी प्रकृति से परिचित होने के कारण उनकी श्रद्धा को वहीं स्थिर होने देते हैं।

" क्योंकि, ऐसे मनुष्यों का देवका भजन तो केवल साधन ही होता है। इनका साध्य तो इनकी कामनाएँ ही होती हैं। इससे बाह्यतः देव की भक्ति करते हुए भी वे एकाग्रतापूर्वक अपनी कामनाएँ का ही ध्यान धरते हैं। और इस एकाग्रता के परिणाम में उनकी कामनाएँ सफल भी होती हैं। क्योंकि, आत्मा के सत्य-सङ्कल्प होने से एकाग्रता के कारण सङ्कल्प शीघ्र सिद्ध होते हैं।

"अर्जुन, इससे, ऐसे कामनिक भक्तों का समावेश, अज्ञान से आच्छा-दित आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों में ही करना उचित है। इनकी

बुद्धि भी अल्प होती है, इन्हें मिलनेवाला फल भी अल्प समय ही टिकनेवाला होता है और इनकी गति भी, इनके देव की मर्यादा तक ही होती है। ब्रह्मनिष्ठ की गति ब्रह्मोपासक को ही प्राप्त होती है। ।२०–२३।।

'कौन्तेय, अबुद्धि मनुष्यों का तर्क यह होता है कि प्राणियों के शरीर में रहनेवाला आत्मा केवल अव्यक्त (अप्रकट

श्लोक २४-२६ त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति) का ही प्रकट स्वरूप है, बस इतना ही। देह की उत्पत्ति के साथ यह आत्मा प्रकट होता है, और देह के नाश के साथ वह फिर अव्यक्त में रूपान्तरित हो जाता है। अथवा सरल रीति से समझाऊँ तो, उनके विचार से प्राणियों के शरीर में दिखाई देता मन ही आत्मा है और इस मन से परे कोई स्वतन्त्र चैतन्य है ही नहीं।

"परन्तप, ये मूढ़ बुद्धि लोग यह नहीं समझ सकते कि परमात्मा तो अव्यक्त और व्यक्त से परे है, अव्यय और अविनाशी है, भूत, वर्त्तमान और भविष्य सर्वकाल में सदा एक रूप रहता और भविष्य एवं भूत सबका साक्षी है। वे यह नहीं जान सकते कि जिस प्रकार यह रथ अपना वाहन है, उसी प्रकार मन तो इस चैतन्य रूप परमात्मा का केवल एक वाहन ही है। अर्जुन, जिस प्रकार यह रथ अपने लिए ही चलता है और हम इसे जान सकते हैं किन्तु वह हमें जान नहीं सकता, उसी प्रकार मन इस आत्मा को जान नहीं सकता किन्तु आत्मा इस मन को जानता है। जिस प्रकार काग़ज़ पर लिखे हुए अक्षर को काग़ज़ पढ़ नहीं सकता, वह तो केवल अक्षर को धारण करता है और उससे अङ्कित होता है, और जिस प्रकार वीणा के तारों से निकलते सुर के भेदों को वे तार नहीं जानते किन्तु बजानेवाला ही जानता है, वे तार तो केवल कम्पायमान ही होते हैं, उसी प्रकार मन का चिन्तन तो मन का कम्प मात्र है, उसका

अज्ञायमान होना ही है। यह कम्प किस विचार का सूचक है, बेचारा मन इस बात को क्या जाने ? यह तो कागज के पढ़नेवाले अथवा वीणा के बजानेवाले के समान आत्मा ही जान सकता है।

"ऐसा आत्मा योग के बिना जाना नहीं जा सकता। अर्थात्, जिस प्रकार बाजीगर का सत्य उसकी जादू की माया के पीछे छिपा रहता है, और उक्त जादू को सीखकर ही वह पहचाना जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप योगमाया के नीचे ढका और इससे योगविद्या सीखकर ही जाना जा सकता है।

"अर्जुन माया का अर्थ ही है विद्या से नाश पानेवाली और उसके अभाव में चमत्कारक प्रतीत होती हुई वस्तु। आसुरी माया अर्थात् आसुरी विद्या से नाश पानेवाली और उसके अभाव में चमत्कार प्रतीत होती वस्तु; दैवी माया अर्थात् दैवी विद्या से नाश पानेवाली और उसके अभाव में चमत्कारक प्रतीत होती वस्तु; इसी प्रकार योगमाया का अर्थ है योगविद्या से नाश पानेवाली और उसके अभाव में चमत्कारक प्रतीत होती वस्तु। यह आत्मा योगविद्या से जाना जासकने वाला है, किन्तु उस विद्या के अभाव में चमत्कारी प्रतीत होता है, योगविद्या के परिणाम से वह स्वयंसिद्ध प्रतीत होता है। ॥२४-२६॥

श्लोक २७-३०

"परन्तप, जिस प्रकार जादूगर अनेक प्रकार की युक्तियों और चालाकी से प्रेक्षकों को अपनी करामात जानने नहीं देता और इससे प्रेक्षक उलटे रस्ते भटककर उसकी करामात के प्रति आश्चर्यचकित तथा अन्धा और मूर्च्छित के समान होजाता है उसी प्रकार मनुष्य इस संसार में अपने राग-द्वेषों के कारण निर्माण होनेवाले सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मूर्च्छित रहते हैं। वे उलटे रस्ते लगजाते हैं और आत्मा को जानने का उन्हें मार्ग ही नहीं सूझता, तब फिर प्रयत्न तो कहाँ से करें ?" ॥२७॥

"कौन्तेय, यह तो जो पुण्यशाली पापों का क्षय कर, राग द्वेष छोड़कर द्वन्द्वों की मूर्च्छा से जाग जाते हैं, वे ही दृढ़ व्रत धारण कर परमात्मा को भजते हैं और जरा मरण से छूटने के लिए उसका आश्रय लेते हैं और उसके लिए प्रयत्न करते हैं।

"पार्थ, ऐसे योगीजन ही ब्रह्म को पूर्णरूप से जानते हैं, अध्यात्म को जानते हैं, समग्र कर्मों को जानते हैं, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ को जानते हैं, और अन्तकाल के समय भी इस परमात्मा के ज्ञान की इन्हें विस्मृति नहीं होती और इसलिए उसीमें वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं।" ॥२८-३०॥

अष्टम अध्याय

योगी का देह-त्याग

अर्जुन ने पूछा—"पुरुषोत्तम, आपने अभी ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूति, अधिदैव और अधियज्ञ ये जो शब्द व्यवहृत किये और उनसे युक्त परमात्मा को पहचानने के लिए कहा, और यह कहा, कि अन्तकाल में संयमी

श्लोक १—२

पुरुषों को परमात्मा का ज्ञान रखना चाहिए—यह मैं विशेष स्पष्ट रूप से समझना चाहता हूँ।" ॥१—२॥

श्रीकृष्ण बोले—"अच्छा, सुन। मैंने अभी जो शब्द कहे वे विशेष रूप से प्रयोग किये हैं। मैं जो तुझे आत्मज्ञान और सृष्टि-विज्ञान समझा गया हूँ, उसी विषय का यह भिन्न प्रकार और भिन्न परिभाषा में निरूपण है।

श्लोक ३—४

"कौन्तेय, मेरा कथन यह है कि ज्ञानी ही परमात्मा को, उसके ब्रह्मभाव, अध्यात्मभाव, कर्मभाव, अधिभूतभाव, अधिदैवभाव तथा अधियज्ञ-भाव सहित पूर्णरूप से जानता है। इसमें 'अधि' और 'भाव' ये दोनों शब्द प्रत्येक स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं। उनके सामान्य अर्थ तू जान ले।

'इसमें पहले 'अधि' उपसर्ग का अर्थ कहता हूँ। 'अधि' का अर्थ 'सम्बन्धित' अथवा 'सम्बन्ध रखनेवाला' तथा 'ऊँचे स्थान पर रहनेवाला' होता है। उदाहरणार्थ, अधिकारी अर्थात् कार्यकर्ताओं से सम्बन्धित और उनसे उच्च स्थान प्राप्त पुरुष, अधिराज अर्थात् राजाओं से सम्बन्धित और उनसे उच्च पद प्राप्त पुरुष, इत्यादि।

"अब 'भाव' शब्द का अर्थ समझ भाव का अर्थ है किसी पदार्थ का विशेष धर्म, लक्षण, चिह्न, प्रकृति और स्वभाव, जिसके द्वारा वह पदार्थ दूसरों से जुदा किया जा सके। उदाहरणार्थ, शिष्य-भाव अर्थात् शिष्यत्व का लक्षण, दया-भाव अर्थात् दयापन का लक्षण, वानर-भाव अर्थात् वानर-प्रकृति, वानर का स्वभाव, इत्यादि।

'अब मैं तुझे ऊपर कहे हुए शब्दों का अर्थ समझाता हूँ।

"ब्रह्मभाव का अर्थ है ब्रह्मपन का विशेष धर्म।

"अध्यात्मभाव का अर्थ है चित से सम्बन्धित और उसकी उच्च प्रकृति अथवा धर्म।

"कर्मभाव का अर्थ है कर्म की विशेषता अथवा स्वभाव, कर्म का विशेष चिह्न।

"अधिभूतभाव का अर्थ है भूतों-सम्बन्धी तथा भूतों से परे का धर्म।

"अधिदैवभाव का अर्थ है देवों अथवा शक्तियों से सम्बन्धित तथा उनकी श्रेष्ठ प्रकृति अथवा स्वभाव।

"अधियज्ञभाव का अर्थ है यज्ञ से सम्बन्धित—यज्ञ का श्रेष्ठ उद्देश्य—जिसे यज्ञ पहुँचता है वह।

"परन्तप, मैंने तुझसे यह कहा है कि इन सब भावों सहित परमात्मा को जानना, यह ज्ञान और विज्ञान है। वे भाव क्या हैं, यह मैं तुझे विशेष स्पष्टरूप से समझाऊँगा।

"पार्थ, मैं तुझे यह समझा चुका हूँ कि परमेश्वर अजन्मा, अनादि, अविनाशी तथा अव्यय है; उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता; वह अक्षर (न घिसे जाने योग्य) है, सर्व नाशमान वस्तुओं के मूल में वह अविनाशी रूप से रहता है, और नाशमान् प्रतीत होती हुई वस्तुओं का वह अविनाशी तत्त्व है। परमेश्वर की यह प्रकृति, यह लक्षण

उस परमेश्वर का अक्षरभाव है और उस अक्षरभाव को ही ब्रह्मभाव भी कहते हैं।

"तत्पश्चात्, अर्जुन, मैं यह भी कह चुका हूँ कि वह परमात्मा सर्वत्र, समानरूप से रहते हुए भी, प्रत्येक प्राणी के चित्त में तथा पदार्थ में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित होता है, और इससे प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ अपना-अपना व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट करता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ में भिन्न-भिन्न लक्षणोंवाले भिन्न-भिन्न आत्मा निवास करते हों। यह परमात्मा का अध्यात्मभाव है और प्राणी की व्यक्तिगत प्रकृति अथवा स्वभाव (अपना भाव) रूप में देखा जाता है।

"अर्जुन, अब कर्म का लक्षण क्या है, यह सुन। संक्षेप में यह कहा जासकता है कि कर्म का सामान्य लक्षण है भूत प्राणीमात्र को उत्पन्न करनेवाला सृष्टि का व्यापार। संसार में और मन में जो कुछ स्थूल अथवा सूक्ष्म उत्पत्ति-लय चल रहा है, वह सब कर्म है; और यह भी परमेश्वर की ही एक प्रकृति है।

"गुडाकेश, यों समझ कि जिस प्रकार अक्षरभाव उस परमात्मा का ब्रह्म-भाव है उसी प्रकार क्षरभाव परमात्मा का अधिभूतभाव है। सर्व भूतों का, सर्व दृश्य सृष्टि का सामान्य लक्षण क्षररूप—निरन्तर हेरफेर होते रहना, क्षण-क्षण में रूपान्तर होना—यह है। अर्जुन, समुद्र के जल-रूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, फिर भी उसके ऊपर निरन्तर रूपान्तरित होती हुई लहरें धू-धू करती ही रहती हैं। समुद्र का जल-भाव उसका अक्षरभाव है, यों कहा जाय, तो लहरें उसका क्षर-भाव कहलायँगी। इस प्रकार कई अंशों में समुद्र में भी अक्षरभाव और क्षरभाव साथ रहता है; तब फिर, जिस परमात्मा की एक प्रकृति कर्म भी

है, उसमें अक्षरभाव और क्षरभाव साथ ही रहें, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। सर्व भूतों का यह सामान्य लक्षण है और यह परमात्मा की ही एक प्रकृति है।

"अर्जुन, अब तू अधिदैवभाव क्या है, यह ध्यानपूर्वक समझ।

"परन्तप, मैंने तुझे समझाया था कि चैतन्य-रूप, सर्वव्यापी परमात्मा को कितने ही लोग परमशक्ति कहते हैं और कितने ही परमदेव कहते हैं, तथा उसकी अवान्तर दृश्य शक्तियों को भी भिन्न-भिन्न देवों के नाम से पुकारते हैं। इसी प्रकार कितने ही विद्वान देव अथवा शक्ति के बदले बलसूचक पुरुष शब्द का भी प्रयोग करते हैं, और इस प्रकार परमात्मा को परमपुरुष तथा उसकी सृजन, पालन और संहारक शक्तियों को विराट पुरुष, ईश्वर पुरुष, इत्यादि नामों से पुकारते हैं। साथ ही, प्राणियों के हृदय में स्फुरित चैतन्य को भी वे पुरुष अथवा प्रत्यक् पुरुष का नाम देते हैं। इस प्रकार पुरुष का अर्थ है देव, शक्ति और बल।

"अब परमात्मा का अधिदैवभाव क्या है? सर्व देवों का—सर्व शक्तियों का सामान्य लक्षण बल है। यों समझना चाहिए कि यह बल अथवा पुरुषत्व उस परमात्मा की ही प्रकृति है।

"इसके बाद अब अधियज्ञ का रहस्य समझ ले।

"कौन्तेय, मैं यज्ञ के विषय में तुझे बहुत विस्तारपूर्वक कह चुका हूँ। यज्ञ की भावना, यज्ञ के प्रकार, यज्ञ का उद्देश्य और इसका महत्व मैं तुझे समझा चुका हूँ। यह भी तू जानता है कि भिन्न-भिन्न देवों को उद्देश्य कर, भिन्न-भिन्न वासनाओं से, भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ होते हैं। किन्तु ये सब भेद दृष्टियाँ तो मन की धारणायें ही हैं। अन्त में तो सर्व यज्ञों का सच्चा उद्देश्य एक ही होता है, क्योंकि सर्व यज्ञ उसीको पहुंचते

हैं। यह उद्देश्य उस हृदय में निवासित परमात्मा ही है। क्योंकि, यज्ञ का जो कुछ फल प्राप्त होता है, वह उसके द्वारा ही होता है। इसलिए हृदय में स्थित परमात्मा ही अधियज्ञ है।

"इस प्रकार, अर्जुन, परमात्मा का अक्षर और क्षर भाव, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव भाव, परमात्मा का कर्म भाव और अधियज्ञ भाव उस परमात्मा के विषय का ज्ञान तथा विज्ञान है। ॥३–४॥

"पाण्डुनन्दन, अब अन्त समय में ज्ञानी तथा अज्ञानी की क्या गति होती है, वह मैं तुझसे कहता हूं।

"परन्तप, विद्वानों ने सामान्यता यह विचार किया है कि मनुष्य मरते समय जिस भाव का चिन्तन करता है, वह उस भाव के साथ एकरूप होजाता है और उसीको पाता है।

श्लोक ५–६

"अर्जुन, यह कुछ मरण-समय ही होता हो, सो बात नहीं। जीवित मनुष्य भी जिस-जिस पदार्थ का अत्यन्त रागपूर्वक अथवा द्वेषपूर्वक चिन्तन करता है, उसके साथ इतना तन्मय होजाता है कि उसे अपने अस्तित्व तक का भाव नहीं रहता। ध्येय के साथ एकरूप होजाना चित्त का स्वभाव ही हैं। किन्तु जीवित मनुष्य की एकरूपता स्थिर नहीं होजाती। उसके शरीर के साथ के सम्बन्ध के कारण उसकी वृत्ति उस पदार्थ से खिसककर फिर किसी दूसरे पदार्थ से चिपक जाती है।

"किन्तु, कौन्तेय, अन्त समय में जीव का शरीर के साथ का सम्बन्ध टूटने की तैयारी में होता है। इसलिए, विद्वानों का कथन है कि जिस समय उसे शरीर की सम्पूर्ण रूप से विस्मृति हो जाती है, उस समय वह जिस भाव का चिन्तन करता है उसी भाव के साथ संलग्न होजाता है और उसी का रूप ग्रहण कर लेता है।

"इस प्रकार जो ज्ञानी अन्त समय में परमात्मा का ही अनुसन्धान रखकर और उसी के स्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करता है। वह तत्काल ब्रह्म को ही प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं।" ॥५-६॥

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—"गुरुवर, यदि अन्त में अन्त समय की भावना पर ही जीव की गति का आधार रहता हो

श्लोक ७

तो केवल अन्तकाल के समय ही परमात्मा का स्मरण किया जाय तो इसमें कुछ हानि है? मरते मरते समय ही उसका विचार करना पर्याप्त नहीं है? जीवित समय में कठिन और दुःसाध्य तप, संयम, स्वाध्याय तथा योगाभ्यास करने की क्या आवश्यकता है! क्योंकि, ऐसा मालूम होता है कि यह सब कुछ करने पर भी यदि अन्त समय में उस का स्मरण न हो और इसका चित्त किसी दूसरे ही विषय में सलग्न हो जाय, तो वह ब्रह्मभावको प्राप्त न होगा। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि केवल अन्तकाल का स्मरण ही आवश्यक है। इसमें मेरी भूल हो तो बताइए।"

यह सुनकर वासुदेव किञ्चित मुस्कराते हुए बोले—

"अर्जुन, आसानी से मोक्ष प्राप्त करने की तेरी कल्पना तो अच्छी है। किन्तु कठिनाई यही है कि वह शक्य नहीं है।

'कौन्तेय, जिस विद्या का अभ्यास जारी नहीं रक्खा जाता, वह आवश्यकता पड़ने पर याद आही जायगी, यह निश्चय नहीं। निरन्तर अभ्यास करते रहने वाले को भी यदि अत्यन्त आपत्ति के समय मन व्याकुल होगया हो तो पुरानी विद्या भी याद नहीं आती। अच्छे तैरने-वाले भी कभी घबराकर डूबजाते हैं। तब फिर जिसने तैरने का अभ्यास ही नहीं किया वह डूबे तो इसमें क्या आश्चर्य?

"कौंतेय, अपनी अस्त्रविद्या के मंत्रों का भला तू समय समय पर अनुष्ठान किसलिए करता है? युद्ध के समय ही उनका उपयोग होता

है, तब उसके पहले उनके याद करने की क्या आवश्यकता है : किन्तु तू जानता है कि कदाचित युद्ध के समय उनका विस्मरण होजाय तो तू फँस जायगा, इसलिए उनका अनुष्ठान कर उनका ज्ञान ताजा रखता है।

'इसी प्रकार, अर्जुन, क्या यह सम्भव है कि जिस मनुष्य ने अपना सारा जीवन विविध प्रकार की कामनाओं के चिन्तन में बिताया हो वह अन्त समय में परमात्मा का स्मरण कर सकेगा ? अरे, जिस समय योगी तक के लिए कफ, वात पित्त से परेशान होने, ज्वर से अचेत होने, श्वास रुक जाने तथा अनेक पीड़ाओं से व्याकुल होने की सम्भावना रहती है, उस समय, क्या यह अपेक्षा की जा सकती है कि जिसने सारा जीवन तृष्णाओं के सेवन में ही बिताया है वह परमात्मा के चिन्तन में एकाग्र बन सकेगा ? वह तो, उस समय, प्रकट करने में समर्थ न होने पर भी, अपने धन सम्पत्ति, कुटुम्बी, शत्रु एवं अत्यन्त आसक्ति से सेवित अथवा सेवन के इच्छित भोगों के ही चिन्तन में एकरूप हो जायगा, यही अधिक सम्भवनीय है।

"और अर्जुन, मृत्यु कुछ पहले से सन्देश भेजकर थोड़े ही आती है। जिस प्रकार निर्दोष और निःशङ्क रूप से रास्ते में चलते हुए चूहे को बिल्ली मानों आकाश से टूटकर एकदम झपट लेजाती है, उसी प्रकार बिना किसी पूर्वसूचना के ही यम अपने लक्ष्य को झपट लेजाता है। इस युद्ध में अनेक सैनिकों का घात कैसा अकस्मात् होगा, इसीका विचार कर। यौवन के मद और बल से चूर इन लाखों योद्धाओं में से किस क्षण किसका हृदय बींधकर शत्रु का बाण प्राण निकलने से पूर्व 'हा !' करने तक का अवकाश देगा, क्या इसका निश्चय है ? उससमय, उनकी परमेश्वर के साथ एकरूप होने की तैयारी किस प्रकार होसकती है ?

"इसलिए, गुडाकेश, मोक्ष की इच्छा रखनेवाले को सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है। परमात्मा का अनुसंधान छोड़ा जा सके ऐसा एक लक्षण भी सुरक्षित नहीं हैं। जिसे अन्तकाल के समय ब्रह्मभाव बनना हो, उसे प्रत्येक क्षण परमात्मा का चिन्तन जारी ही रखना चाहिए। उसे अपना श्वासोच्छ्वास ही ब्रह्मरूप कर डालना चाहिए।

"इस प्रकार परमात्मा के प्रति मन और बुद्धि समर्पित कर, सर्वकाम में ईश्वर का स्मरण कर, युद्ध करता हुआ तू ईश्वर को ही प्राप्त होगा, यह श्रद्धा रख। ॥ ७ ॥

"पार्थ, साधक जिस रीति से ध्यान का अभ्यास कर सर्व संकल्प का संन्यासरूपी योग सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, उसकी प्रकृति मैं तुझे समझा चुका हूं। इस प्रकार के साधक को जिस समय यह प्रतीत हो कि उसे देह छोड़ने का कारण उत्पन्न होगया अथवा शरीर रखने का कारण नहीं रहा है, उस समय वह योग-विधि से अपना शरीर त्याग कर अन्तसमय में परमगति प्राप्त करने के विषय में निःशंक होजाता है।

श्लोक ८-१४

'वह अभ्यास' बल से, एकाग्रचित हो, सर्वज्ञ, अनादि, सर्वनियन्ता सूक्ष्मतिसूक्ष्म, सर्वद्रष्टा, अचिंत्यरूप, अज्ञानरूपी अन्धकार के नाशक होने के कारण सूर्य की उपमा योग्य परमात्मा का अनुसन्धान करता हुआ अपने प्राण को पहले आज्ञाचक्र में धारण करता है। ॥८-१४॥

"तत्पश्चात् वह योगी सब इन्द्रियों का संयम कर, मन को हृदय में स्थिर करके, धीरे-धीरे अपने प्राण को अपने मस्तक में ऊंचा चढ़ाकर योग धारण करके रहता है। इस समय वह ऊं के ब्रह्मवाचक एकाक्षरी मन्त्र का जप करता है।

"कौन्तेय, वेदपाठी ब्राह्मण इस ओंकार की महिमा बखानते हैं और बारम्बार इस पद का उच्चारण करते हैं, किन्तु उससे पहचाने जाने-वाले पदार्थ को वे नहीं जानते। राग-रहित यती उस पद के मर्म को यथावत जानते हैं और साधक उसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। देह छोड़ जानेवाला योगी भी उस पद का जप करता और उसके लक्ष्य ब्रह्म का अनुसन्धान रखता हुआ इस प्रकार प्राण को तालु पर चढ़ा कर देह छोड़ देता है और परमगति को प्राप्त करता है।' ॥१०–१२॥

योगाभ्यास से प्राण छोड़ने की उपर्युक्त रीति सुनकर अर्जुन कुछ विचलित हुआ। उसने कहाः—

"योगेश, आपने योग-धारणा से देह छोड़ने की जो रीति समझाई वह तो निश्चित रूप से सिद्धि देनेवाली है, इसमें शंका नहीं। किन्तु सांसारिक प्रवृत्तियाँ करनेवाला तथा युद्ध के साहस मोल लेनेवाला मुझ जैसा क्षत्रिय इस प्रकार प्राण छोड़ने का अवसर पायगा, यह आशा किस प्रकार रख सकता है? और इसलिए, यदि इस प्रकार देह-त्याग करना ही इष्ट हो, तो क्या ऐसी प्रवृत्तियों से अलग रहना ही अधिक श्रेयस्कर नहीं है? इस विषय में अपना वास्तविक मत बताइए।"

इसपर श्रीकृष्ण बोलेः—

"अर्जुन, श्रद्धा और भक्ति मनुष्य की तारक है, साधन तो निमित्त-मात्र हैं। निर्वाण की इच्छा रखनेवाले और उसके सिवा दूसरे किसी पदार्थ की कामना न रखने वाले योगी की मृत्यु किसी भी तरह हो, अन्त में उसे निर्वाण ही प्राप्त होगा। किन्तु, परंतप, सङ्कल्पबल इतना प्रबल होता है कि यदि किसी शुद्धचित्त योगी ने किसी विशेष प्रकार से ही अपनी देह छोड़ने का निश्चय किया हो, तो सत्य संकल्प के प्रभाव से वह उस तरह भी देह छोड़ सकता है। . . . . . .

"कौन्तेय, इसमें पवित्र भीष्मपितामह ही उदाहरणस्वरूप हैं। तू जानता है कि इस उदारचित्त महात्मा का इच्छा-मरणी होने का दृढ़ संकल्प है। साथ ही तू जानता है कि वे राज-काज की सब प्रवृत्तियाँ करते हैं, और इस भीषण संग्राम में घोर युद्ध करनेवाले हैं, फिर भी उन्हें अपने योगबल पर इतनी दृढ़ श्रद्धा है कि वे अपनी इच्छा होगी तबतक अपना प्राण टिकाये रख सकेंगे और स्वयं जिस मुहूर्त को उचित मानते हैं उसीमें उसे छोड़ेंगे। इस प्रकार यदि योगबल से ही देह छोड़ने का तेरा निश्चय हो, तो तू योगाभ्यास और सकल्प के बल से युद्धादि कर्म करता हुआ भी ऐसा कर सकेगा, इसमें शंका नहीं।

"किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अमुक रीति से देह छूटे यह आग्रह रखने की आवश्यकता है।

"किन्तु, अर्जुन, जिसके सर्व सङ्कल्प नाश होगये हैं, जो योगारूढ़ और सिद्ध कहे जासकने योग्य नित्ययोगी होगया है, जिसे देह का अस्तित्व और उसका नाश दोनों एकसमान प्रतीत होते हैं, जिसे एक क्षण भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि गतिमान् अथवा रूपान्तरित हो सकनेवाले इस विश्व में परमात्मा के सिवा दूसरा कोई पद अथवा पदार्थ है, जिसे देह का उद्भव और उसका नाश समुद्र में उठने और फूटनेवाले बुलबुलों से अधिक महत्व का भासित नहीं होता, वह निरन्तर योगी देह होते हुए भी ब्रह्म में ही लीन है और देह का नाश होने पर भी उसीमें स्थित है। उसका शरीर छूटने से होने वाला निर्वाण, उसकी अपनी दृष्टि से निर्वाण नहीं प्रत्युत् दूसरों की दृष्टि से हा है।

"अर्जुन, प्रेक्षकों की दृष्टि से घड़े में का आकाश और विश्व में व्याप्त आकाश इस प्रकार आकाश में भेद किये जा सकते हैं, किन्तु सर्वत्र समान रूप से व्याप्त आकाश को मिट्टी के घड़े के आवरण का कुछ भास होता

है ? अथवा प्रेक्षक की दृष्टि में बुलबुला बना पानी दूसरे पानी से जुदा दिखाई देता है, किन्तु क्या स्वयं पानी को इसमें अपने स्वरूप में कुछ भेद दिखाई देता है ? इसी प्रकार शांत हुए योगारूढ़ सिद्ध को मरण समय परमात्मपद प्राप्त नहीं करना होता, वरन पहले से ही प्राप्त हुआ होने के कारण, उसका मरण संसार की दृष्टि से ही निर्वाण है, उसकी अपनी दृष्टि से नहीं। इसमें उनके लिए निर्वाण कोई दुःसाध्य प्राप्ति नहीं वरन् सहज रूप से सिद्ध हुई स्थिति है।" ॥१४॥

"कौन्तेय, शरीर रहते ही सर्व संकल्पों के संन्यास से और ज्ञाननिष्ठा से शान्ति प्राप्त तथा ब्रह्मरूप हुआ योगारूढ़ सिद्ध हो, अथवा अन्तकाल के समय भी वैसा होने की दृढ़ इच्छा रखनेवाला योगाभ्यासी साधक हो, परमपद प्राप्त करने के बाद इन महात्माओं को दुःख का निवासरूप तथा नाशमान देह पुनः धारण नहीं करना पड़ता। किन्तु जबतक इस प्रकार सर्व सङ्कल्पों का संन्यास सिद्ध नहीं होजाता, तबतक ठेठ ब्रह्म तक सब भूतों को अपनी कामनाओं के कारण जन्म-मरण की घटमाल में फिरना ही पड़ता है। परमात्मपद को पहुँचनेवाले का ही इस चक्र से छुटकारा होता है, कारण कि जन्म का कारण-रूप इस ज्ञान की वासनाओं का ही क्षय होजाता है। ॥१५–१६॥

श्लोक १५-१६

"गांडीवधर, इस सम्बन्ध में पुराणकारों का मत मैं तुझे कहता हूँ, वह सुन - कौन्तेय, पुराणकार यह मानते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य अपने संकल्प से अपनी छोटी-छोटी सृष्टि रचते हैं और उनमें उलझे रहते हैं, और अपनी छोटी सृष्टि में समाविष्ट जीवों का ममत्व रखकर उनकी चिन्ता करते हैं, उसी प्रकार सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों सहित इस पृथ्वी की

श्लोक १७–१६

उत्पत्ति किसी महान् सङ्कल्पधारी सत्व (विशेष प्रकार के जीव) ने की है। इसी महात्मा को पौराणिक, ब्रह्म कहते हैं।

"पार्थ, इसके साथ ही उन्होंने पृथ्वी की काल-गणना के सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग इस प्रकार चार युग किये हैं और प्रत्येक युग कितने वर्ष का होता है इसकी गिनती की है। उनकी यह कल्पना है कि ऐसे चार युगों को एक चौकड़ी कहा जाय तो एक हज़ार चौकड़ी जितना (अर्थात् अपने चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष जितना) लम्बा ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी ही लम्बी उसकी रात होती है।

"उनके हिसाब से इस सृष्टि का आयुष्य ब्रह्मा के एक दिन जितना अथवा अपने युगों की एक हज़ार चौकड़ी जितना होता है। ब्रह्म के सङ्कल्प से रचित यह सृष्टि उसके दिन में स्थित रहती है, और उसकी रात होते ही उसके संकल्पों का यत्न होने के कारण इस सृष्टि का प्रलय होजाता है। ऐसा प्रलय भी एक हज़ार चौकड़ी तक रहता है। इस प्रलय में स्थावर जंगम तथा जड़-चेतन सर्व सृष्टि नाश को प्राप्त होकर मानों आकाश में विलीन होगई हो इस प्रकार अदृश्य होजाती है और ब्रह्म का प्रातःकाल होने पर फिर उत्पन्न होने लगती है।

'इसी प्रकार सृजन-प्रलय का चक्र चलता रहता है।

"पार्थ, इस प्रकार ब्रह्मा का दिन निकलने पर उत्पत्ति और रात्रि होने पर प्रलय हुआ करता है, फिर भी जिन्होंने ज्ञान से सङ्कल्पों का संन्यास नहीं किया है, उनके लिंग-देह का नाश नहीं होता। वासनारूप लिंग-देह इतना सूक्ष्म और दुर्भेद्य है कि सृष्टि के आकाश में विलीन होजाने पर भी, वहाँ भी देह-धारण की अनुकूल परिस्थिति की बाट जोहता हुआ अपना व्यक्तित्व और जीव-भाव सम्हाले रखता है; किन्तु निर्वाण को प्राप्त करता है और उत्पत्ति का समय आते ही फिर शरीर-

धारण की तैयारी करने लगता है। इस प्रकार कल्पों तक —निर्वाण होने तक —जीवों की गति अप्रकट प्रकृति में से प्रकट सृष्टि में और प्रकट सृष्टि में से अप्रकट प्रकृति में आवागमन करती रहती है। ॥१७–१६॥

"कौन्तेय, इस प्रकार प्रलय-काल में प्रकृति में लीन हुए समान जीव कुछ निर्वाण प्राप्त किये नहीं होते, वरन् अव्यक्त बने होते हैं, बस इतना ही। इस अव्यक्त दशा में भी उनका व्यक्तित्व कायम रहता है। किन्तु

श्लोक २०–२२

इस अव्यक्त दशा से भी अधिक अप्रकट एक दूसरी सनातन वस्तु है, जो इन भूतों के नाश में भी नष्ट नहीं होती और अव्यक्त दशा में भी इन भूतों को आधार देती रहती है। इस सनातन सत्ता-रूप अप्रकट वस्तु को ही अक्षर कहते हैं, परमपद कहते हैं, और जो इसके भाव को प्राप्त करते हैं उन्हीं-का लिंग-देह भी विलीन होजाता है और उस परमात्मा को पहुँचता है और निर्वाण को प्राप्त होता है। ॥२०–२१॥

"पार्थ, यह परमपुरुष, परमपद, परमधाम, परमसत्ता और श्रेष्ठ वस्तु ही, जिसमें सर्व अव्यक्त और व्यक्त भूतों सहित प्रकृति निवास करती है और जो सबको व्याप्त कर रहती है, प्राप्त करने योग्य है, और उसे प्राप्त करने का एक ही मार्ग है, और वह है उसकी अनन्य भक्ति का। ॥२२॥

श्लोक २३-२८

"पार्थ, अब योगमार्ग से देह त्यागने का आग्रह रखनेवाले योगियों ने परमपद-प्राप्ति की दृष्टि से देह-त्याग के लिए जिन समयों को अनुकूल अथवा प्रतिकूल माना है वह भी तू जानले, क्योंकि योगमार्ग के सम्प्रदाय में ये मुहूर्त महत्त्व पूर्ण समझे जाते हैं। ॥२३॥

"उनके मत से उत्तरायण के छः महीने, शुक्ल पक्ष, दिन का समय

और जब धूम्र-रहित अग्नि प्रज्वलित हो वह समय निर्वाण प्राप्त करने के लिए अनुकूल होता है। यह निर्वाण का अर्चि-मार्ग कहाता है, इसमें प्राप्त ब्रह्मरन्ध्र में होकर सूर्यमण्डल को भेद कर ब्रह्मा के अधिकार से बाहर जाकर निर्वाण को प्राप्त करता है। ॥२४॥

"इसके विपरीत, दक्षिणायन के छः मास, कृष्णपक्ष, रात्रि का समय और धुएँ सहित अग्नि जलती हो, उस समय देह छोड़ना उचित नहीं। यह चन्द्रमार्ग कहाता है। इससे यह सूचित होता है कि इस योगी की साधना अपूर्ण है और इसलिए उसे फिर जन्म लेना पड़ेगा। ॥२५॥

"परंतप, संसार में निर्माण तथा संसृति देनेवाली शुभ और अशुभ दो गतियाँ सनातन काल से चली आरही हैं। जो योगमार्ग के अभ्यासी हैं, पवित्र हैं, मुमुक्षु हैं, उन्हें भले ही उपयुक्त मुहूर्त अनुकूल-प्रतिकूल होने वाले हों, किन्तु जो कल्याण का प्रयत्न ही नहीं करते उनके लिए इन मुहूर्तों से कुछ लाभ नहीं होता। इसी तरह मेरा मत है कि जो बुद्धिमान पुरुष मुहूर्तों का आधार नहीं रखते, इस बीतनेवाले क्षण में ही मृत्यु आजायगी यह मानकर सदैव परमात्मा में युक्त होकर रहते हैं एवं एक क्षण भी अचेत नहीं रहते, उनके लिए देह-त्याग के हेतु सब मुहूर्त अनुकूल ही हैं। इस लिए मेरी सलाह है कि तू सर्वकाल के लिए योग की सिद्धि प्राप्त कर। ॥२६—२७॥

"प्रिय कौन्तेय, जो यह कहा है कि वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान इत्यादि सब सत्कर्मों से जो कुछ पुण्य प्राप्त होता है, वह सब परमात्मा को लेकर ही है। इसलिए इन सब कर्मों के फल की वासना छोड़कर—उनकी प्राप्ति के मोह से परे रह कर—योगी सबके मूलरूप परमस्थान को ही प्राप्त करता है।" ॥२८॥

सूचना

आठवें अध्याय का मन्थन लिखने में मैं निःसंशय रहा हूँ सो बात नहीं। निर्वाण के लिए योगमार्ग से और उत्तरायण आदि मुहूर्तों में देह-त्याग करना आवश्यक ही है अथवा नहीं, इस विषय में व्यास का क्या मत था यह स्पष्ट नहीं है। गीता के टीकाकारों ने सामान्यतया इसकी अनिवार्यता स्वीकार नहीं की, किन्तु निर्वासनिकता तथा ज्ञान-निष्ठा की आवश्यकता स्वीकार की है। मैंने भी इसी भाव के अनुकूल मंथन अवश्य किया है, किन्तु महाभारत के अन्य भागों से, उसी प्रकार भीष्म आदि के चरित्र से ऐसी सम्भावना प्रतीत होती है कि व्यास के काल में उपर्युक्त विधि से ही देह-त्याग करने की मान्यता दृढ़ होगी। सत्ताईसवें श्लोक से ऐसा भाव निकाला जा सकता है कि गीता ने इस मान्यता का त्याग किया है, फिर भी स्पष्ट रूप से ऐसा कहीं व्यक्त नहीं किया है। इससे सम्भव है कि गीता-काल के पश्चात् इस विषय में विचार आगे बढ़ा हो और पुरानी मान्यता अश्रद्धेय बनी हो, और इस-लिए टीकाकारों ने इस अध्याय की मान्यताओं को गौणरूप से ही स्वीकार-योग्य ठहराई हो। यह तो सर्वथा निश्चित है कि पीछे के कोई भक्ति-मार्गी, ज्ञानमार्गी अथवा ज्ञानेश्वर जैसे योगमार्गी भी इस अध्याय की मान्यता पूरी-पूरी स्वीकार नहीं करते हैं।

नवम अध्याय

ज्ञान का सार

सर्व संकल्पों के संन्यास और सर्वत्र समबुद्धि विषयक योग, उसके लिए श्रीकृष्ण का बताया हुआ ध्यान का अभ्यास-

श्लोक १-३

क्रम, उससे सम्बन्धित अपर तथा पर प्रकृतियुक्त परमात्मा का ज्ञान-विज्ञान और साथ ही मरण समय उसका चिन्तन, यह सब अर्जुन ने ध्यानपूर्वक सुना और समझा भी सही। किन्तु ज्यों-ज्यों वह सुनता और उसपर विचार करता गया, त्यों-त्यों इसे सिद्ध करने की शक्यता के सम्बन्ध में वह संशोधित और इसलिए विचलित होता गया।

फिर उसे ऐसा भी प्रतीत हुआ कि यदि इसी मार्ग पर सबलोगों को जाना हो, इसके साथ ही फिर श्रीकृष्ण का यह भी मत हो कि सांसारिक कर्मों का त्याग न किया जाय और उसके साथ पौराणिकों द्वारा वर्णित उत्पत्ति तथा प्रलय की कल्पना सच हो, तो सामान्य बुद्धि और शक्ति के सहस्रों स्त्री-पुरुषों को अपने कल्याण की आशा छोड़ देनी चाहिए, और यही मानकर चलना चाहिए कि व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर मोक्ष जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, प्रत्युत् वह कभी सिद्ध न होने वाले आदर्श की केवल एक कल्पना ही है। व्यवहार्य दृष्टि से जो जीव-स्वभाव अस्तित्व में आया हुआ है, वह अनन्तकाल तक टिका ही रहेगा।

चतुर-शिरोमणि श्रीकृष्ण अर्जुन की मुख-मुद्रा से ताड़ गये कि उसके मन में क्या विचार चल रहे हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि अर्जुन

ने उपरोक्त योग की दुःसाध्यता के सम्बन्ध में कुछ अधिक भय कर लिया है, और इसका कारण यह है कि वह यह मान बैठा है कि इस योग की सिद्धि केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकती है; किन्तु भक्ति के उत्कर्ष पर जो ज़ोर दिया है, उसे उसने अच्छी तरह ध्यान में नहीं लिया। भक्ति का साधन कितना बलवान है और बुद्धि से अथवा तीव्र अभ्यास-वैराग्य से भी जो सिद्ध नहीं हो सकता, वह भक्ति से कितना शीघ्र सिद्ध होता है वह उसकी समझ में नहीं आया है। इसलिए अर्जुन की उलझन दूर करने तथा उसे प्रोत्साहन देकर, उसका, आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए श्रीकृष्ण ने इस विषय का फिर दूसरी तरह निरूपण करना शुरू किया।

मधुसूदन बोले—प्रिय और निर्मत्सर अर्जुन, मैंने तुझे जो मोक्षदायक ज्ञान-विज्ञान समझाया था, उसे प्राप्त करने की कुञ्जी अब मैं तुझे बताता हूँ। इससे तेरा भय दूर हो जायगा और तुझे सहज ही यह प्रतीत होगा कि इस मार्ग में तेरे लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

"परन्तु, जब तक मनुष्य ज्ञान और साधना की इस कुञ्जी का महत्व नहीं समझ लेते और उसमें श्रद्धाहीन रहते हैं, तब तक उनके लिए जन्म-मरण का चक्र छूट नहीं सकता। किन्तु इस कुञ्जी को प्राप्त करने और उसका उपयोग करने वाला सहज ही संसार-सागर से पार हो जाता है।

"ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान और उसके रहस्य को तू ध्यान देकर सुन।"

"महाबाहो, परमात्मा का ज्ञान और विज्ञान एक बार फिर से मैं संक्षेप में और अधिक सरलता तथा भिन्न प्रकार से कह जाता हूँ।

श्लोक ४–६

"पार्थ, जिससे यह सब विश्व फैला हुआ है और इसके चारों ओर जो व्याप्त है, उस परम पुरुष परमात्मा का स्वरूप अत्यन्त अप्रकट

तथा सूक्ष्म है। संसार के भूत मात्र, पानी में मछली की तरह, इस परमात्मा में ही स्थित हैं। किन्तु, अर्जुन, जिस प्रकार जल मछली में नहीं है, उसी प्रकार इन भूतों में परमात्मा भी नहीं है।

"किन्तु यदि इस दृष्टान्त को तू पूर्णतया घटित करने जायगा तो और चक्कर में पड़ जायगा। क्योंकि परमात्मा भूतों में है ही नहीं यह कहना भी सर्वथा सत्य नहीं है। कारण कि मैं दूसरे ही वाक्य में यह कहना चाहता हूँ कि यह परमात्मा भूतों के अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु जिस प्रकार जल मछली के आस-पास ही फैला रहता है, उस तरह केवल बाहर से ही फैला हुआ नहीं है।" ॥४॥

"इस प्रकार परमात्मा और संसार का सम्बन्ध चमत्कारिक है। वह संसार के भूतों का पोषण और धारण करने वाला होने पर भी उनमें नहीं है; और उनमें होने पर भी यह परमात्मा ही सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है। ॥५॥

"परंतप, एक और उदाहरण देकर, इसे और समझाने का प्रयत्न करूँगा। किन्तु एक तरह यह सब उदाहरण तुझे अपूर्ण ही समझने चाहिएँ, क्योंकि संसार में ऐसा कोई पदार्थों का सम्बन्ध नहीं है, कि जिसकी उपमा परमात्मा और विश्व के सम्बन्ध में सर्वथा लागू की जा सके। परमात्मा का स्वरूप एक और अद्वितीय होने, उसी प्रकार मन और वाणी से अतीत होने के कारण, अपने को निश्चित रूप से दो ही वस्तुओं का ज्ञान है अथवा हो सकता है एक, चैतन्य रूप परमात्मा है इसका, और दूसरा, यह संसार नाशमान होने पर भी अनुभवित होता है इसका। इन दो ज्ञान के सिवा एक तीसरा निश्चय अपने को यह होता है कि यह संसार किसी प्रकार परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है, उसी में स्थित है, और उसी में व्यय हो जाता है, और परमात्मा अविनाशी है, जब कि संसार नाशमान है, इतना ही नहीं प्रत्युत क्षण-क्षण परिवर्तनशील है।

"परन्तु धनञ्जय, इस परमात्मा में से संसार-चक्र किस प्रकार चलता है यह विषय इन्द्रियातीत होने के कारण उस सम्बन्ध में केवल कल्पना ही की जा सकती है, उपमाओं से ही समझाने का प्रयत्न किया जा सकता है, और युक्तिवाद ही रचे जा सकते हैं। समर्थ तत्वचिन्तक भिन्न भिन्न उपमाओं, कल्पनाओं तथा युक्तिवादों से उसके संबन्ध में ख़याल बनाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं; किन्तु कोई भी इस विषय में निश्चित जानकारी नहीं दे सकते। यह परमात्मा ही जानता है कि अपना कैसा स्वरूप है, कितने प्रकार की शक्तियाँ हैं, किस प्रकार संसार को प्रकट करता, रखता, और नाश करता है; किन्तु किसी किसी प्राणी की बुद्धि इस रहस्य का उद्घाटन कर नहीं सकती।

"इसलिए, उदाहरण देने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि किसी प्रकार तू परमेश्वर तत्व के निर्णय पर पहुँच जाय और दृश्य सृष्टि के मूल में रहने वाली सद्वस्तु का विचार कर सके। तुझे उदाहरणों से पूर्ण बोध होने की आशा न रखनी चाहिए।

'अर्जुन तू मेरे उदाहरणों का विचार करते समय यह सावधानी सदैव रखना, जिससे कि तू उलझन में नहीं पड़ेगा।

"तब परमात्मा और जगत के सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण आकाश और वायु का दिया जा सकता है।

"अर्जुन, जिस प्रकार सदा और सर्वत्र चलता रहने वाला वायु निर्मल और निश्चल आकाश में से उद्भूत हुआ है और उसी में रहता है, उसी प्रकार यह सदैव परिवर्तनशील जगत निर्मल और निश्चल परमात्मा में से ही उद्भूत हुआ है और उसी में रहता है। और जिस प्रकार आकाश इस वायु के प्रत्येक अणु-अणु के साथ मिला हुआ है, और उसके भीतर और बाहर सर्वत्र है, उसी तरह परमात्मा संसार के अणु-अणु के साथ

मिला हुआ है और उसके भीतर और बाहर सर्वत्र है। और जिस प्रकार आकाश वायु से अधिक व्यापक है और इसलिए जहाँ वायु न हो वहाँ आकाश तो है ही, उसी तरह परमात्मा की व्याप्ति विश्व की अपेक्षा अधिक है, इसलिए जहाँ विश्व का किसी प्रकार का नाम-निशान भी नहीं होता वहाँ भी परमात्मा का निवास है और फिर अर्जुन, जिस तरह आकाश और वायु का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, तिस पर भी आकाश को वायु के गुण-दोषों का जरा स्पर्श भी नहीं होता वरन मानो आकाश वायु को पहचानता ही न हो इस प्रकार सदैव उससे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार आत्मा तथा जगत का इतना घनिष्ट और निकट सम्बन्ध हैं तो भी जगत के गुण-दोषों का परमात्मा को जरा स्पर्श नहीं है, वरन् मानों परमात्मा संसार को पहचानता ही न हो, इस प्रकार सदैव अलिप्त रहता है।" ॥६॥

"अर्जुन, दिन में भिन्न-भिन्न रंग धारण करने वाले गिरगट को हम एक ही प्राणी जानते हैं और उसके रंग-भेद को उस

श्लोक ७–८

की कोई प्रकृति (स्वभाव, शक्ति, गुण, तत्व) का परिणाम समझते हैं। यह प्राणी अपने से जो कुछ रंग-भेद प्रकट करता अथवा लोप करता है, उससे हम उसके गिरगटपन के सम्बन्ध में किसी भ्रान्ति में नहीं पड़ते। इसी प्रकार परमात्मा में भूतों सहित इस विश्व को विविध प्रकार से प्रकट करने, धारण करने और अपने में लय कर डालने की अद्भुत शक्ति विद्यमान है। यह शक्ति उस की प्रकृति अथवा स्वभाव ही है। इस से विश्वरूप में अथवा विश्व-विहीन रूप में एक परमात्मा ही है। जिस तरह गिरगट की चमड़ी में कभी-कभी उसके रंग लुप्त हो जाते हैं उसी तरह जब कल्प का अन्त आता है उस समय परमात्मा की प्रकृति में विश्व लीन होता है; और जिस प्रकार कभी गिरगट के शरीर में रंग प्रकट होते हैं, उस तरह, जब

कल्प का आरम्भ होता है, उस समय परमात्मा की प्रकृति में से विश्व उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार अपनी प्रकृति के—अथवा स्वभाव भूत शक्ति के ही आधार पर परमात्मा इस प्रकृति के वशवर्ती समग्र जड़ चिदात्मक विश्व बारम्बार उत्पन्न करता है और लीन करता है।" ॥७-८॥

किन्तु, पार्थ, इस प्रकार परमात्मा को जगत का उत्पादक, पालक और संहारक कहने से वह कुछ इन कर्मों का कर्ता नहीं हो जाता। सामान्य बुद्धि को चक्कर में डालने वाली, परमात्मा सम्बन्धी यह दूसरी विशेषता है।

श्लोक ९-१०

"अर्जुन, सामान्य मनुष्य, परमात्मा विषयक ऐसी बातों से चक्कर में पड़ जाता है। उन्हें ऐसा भी प्रतीत होता है कि विद्वान लोग बड़ी सरलता से परस्पर विरोधी बातें कह सकते हैं, किन्तु उनका कुछ अर्थ नहीं होता। कारण कि सामान्य मनुष्यों को कर्तापन का इतना भान और अभिमान होता है कि वे जो-जो क्रियाएँ करते हैं उनमें अपना कर्तापन समझे बिना रह ही नहीं सकते और इसलिए क्रिया करने वाला अकर्ता कैसे हो सकता है इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते।

"किन्तु, धनंजय, ज़रा अधिक विचार किया जाय तो यह समझ में आ सकता है कि कर्म करते हुए भी अकर्तापन हो सकता है। सामान्य व्यवहार में हम कई बार ऐसा अकर्तापन स्वीकार भी करते हैं।

"उदाहरणार्थ, कौन्तेय, राजा की आज्ञा से अपराधी का वध करने वाले जल्लाद पर हम लोग मनुष्य के वध करने का आरोप नहीं करते। कारण कि हम कहते हैं कि वध की प्रेरणा करने वाला वास्तविक कर्त्ता राजा है, जल्लाद तो साधनमात्र है। इससे यद्यपि वध तो जल्लाद ही करता है, फिर भी हम यही मानते हैं कि वह अकर्त्ता है।"

"फिर, धर्मशास्त्र के नियमानुसार राज्यशासन करने वाला राजा

योग्यविधि से न्याय की खोजकर किसी अपराधी के वध किए जाने की आज्ञा दे, तो उस राजा पर भी हम मनुष्य को वध करने का आरोप नहीं करते। वही वध का प्रेरक है, फिर भी हम उसे अकर्त्ता ही मानते हैं, तथा धर्मशास्त्र के नियम को ही इस कर्म का कर्त्ता मानते हैं। धर्म-शास्त्र की आज्ञा अनुचित हो तो, उसीमें हम परिवर्तन करते हैं, किन्तु राजा को दोष-पात्र नहीं गिनते।"

तत्पश्चात् अर्जुन, इस धर्म-शास्त्र के स्मृतिकार पर भी हम उक्त अपराधी के वध का दोष नहीं डालते। कारण की स्मृतिकार किसी विशेष व्यक्ति को उद्दिष्ट कर धर्मशास्त्र की रचना नहीं करता, प्रत्युत धर्म का विचार करके ही करता है। फिर उक्त नियम राजा तथा जल्लाद के द्वारा अपने आप ही व्यवहार में आता है, स्मृतिकार को उसका अमल करने का किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। हम यही कहते हैं, कि स्मृतिकार का कर्त्तापन तो धर्मशास्त्र की रचना करने में है; किसी अपराधी का वध करने में नहीं। इस प्रकार कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्तापन विविध रूप से होता है।

कपिध्वज, इस प्रकार परमात्मा भी सृष्टि का कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता है। जिस प्रकार स्मृतिकार, राजा तथा जल्लाद मनुष्य-वध के दोषपात्र नहीं होते, उसी तरह परमात्मा को सृष्टि के कर्त्तापन का बन्धन नहीं होता। कारण कि जिस प्रकार स्मृतिकार, राजा तथा जल्लाद के मन में वध किये जाने वाले अपराधी के प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं, प्रत्युत सर्वथा तटस्थ एवं उदासीन भाव रहता है, और केवल धर्म को ही दृष्टि में रखकर वध का निमित्त बनते हैं; उसी तरह परमात्मा की सृष्टि की उत्पत्ति आदि क्रियाओं में किसी प्रकार की आसक्ति अथवा राग द्वेष नहीं, प्रत्युत उदासीनता रहती है, और केवल अपनी प्रकृति के कारण ही उस कर्म का कर्त्ता कहाता है।

"अर्जुन, बिल्ली चूहे को मारती है, अथवा गरुड़ साँप को निगल जाता है, उससे हम इन प्राणियों पर पापाचरण का आक्षेप नहीं करते। बिल्ली तथा गरुड़ जन्म स्वभाव से ही चूहे तथा सर्प के भक्षक हैं और उनके स्वभाव का कुछ प्रतिकार है ही नहीं यह मानकर हम शान्त रह जाते हैं। और, जिस प्रकार किसी को ज्वर हो जाता है, तो हम उस पर शरीर को गर्म कर डालने का दोष नहीं लगाते, वरन् ज्वर का यह प्रकृति-धर्म है यह मानकर शान्ति रखते हैं, उसी तरह परमेश्वर की अध्यक्षता में उसकी सनातन प्रकृति में से चराचर जगत् अपने आप उत्पन्न होता है, बढ़ता है और नष्ट होता है; किन्तु परमात्मा को यह सब करने के लिये कुछ विचार, प्रयत्न अथवा अभ्यास नहीं करना पड़ता। साथ ही अपनी सृष्टि के प्रति उसके मन में न तो किसी प्रकार का राग-द्वेष अथवा आसक्ति होती है, न उसका कुछ अभिमान ही होता है।

"इस प्रकार हे धर्म-प्रिय परमेश्वर सृष्टि का कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता ही है।" ॥ ६ – १० ॥

"कौन्तेय, इस तरह परमात्मा विश्व से पृथक एवं परे, अव्यय और अविनाशी है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व और

श्लोक ११-१२

उसका अणु-अणु सब स्थावर-जङ्गम तथा जड़-चेतन सृष्टि परमात्मा रूप ही है और परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है—ये दोनों कथन विवेक-पूर्वक विचार करने पर सत्य प्रतीत होते हैं।

"अर्जुन, भिन्न-भिन्न आकार के मिट्टी के खिलौनों में, उनके अणु-अणु पर्यन्त, मिट्टी के सिवा दूसरा कुछ नहीं होता और उन सबको तोड़ कर चूरा कर डालने पर भी उसके मिट्टीपन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार सब खिलौने मिट्टी-रूप होते हुए भी किसी भी खिलौने

के आकार में मिट्टीपन है यह नहीं कहा जा सकता। मिट्टीपन तो सब आकारों से परे है और विशेष अव्यय तथा अविनाशी है। अर्जुन, इस उदाहरण से परमात्मा तथा विश्व का सम्बन्ध समझ में आसकता है।

"किन्तु, कौन्तेय, छोटे बालक मिट्टी की कल्पना किसी आकृति वाले ढेले के रूप में, खिलौने के रूप में अथवा रेती के रूप में ही कर सकते हैं। आकृति के बिना केवल मिट्टीपन का विचार नहीं कर सकते। उसी प्रकार मूढ़ बुद्धि के मनुष्य आत्मा अथवा परमात्मा का विचार इनके किसी बाह्य आकार में ही कर सकते हैं। वे यह मानते हैं कि मनुष्य का शरीर ही मानव आत्मा है। अथवा कभी उनकी यह धारणा होती है कि मनुष्य इस विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के कारण परमात्मा का स्वरूप भी मनुष्याकार ही है और जिस प्रकार मनुष्य योजना करके मिट्टी आदि बाह्यपदार्थों से घड़े, मटके, आदि पदार्थ बनाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा बाहर रहनेवाले आठ प्रकार के प्रकृति तत्वों का मसाले के रूप में उपयोग कर जड़ और चेतन विश्व की रचना करते हैं। किन्तु आकार मात्र से परे सर्व भूतों के महेश्वर तथा विश्व के उपादान कारण रूप परमेश्वर की वे कल्पना ही नहीं कर सकते।

"और, पार्थ, मूढ़ और अबोध बालक सर्प अथवा सिंह शांति से पड़ा हो अथवा चलता आता हो, तो उसमें वे किसी प्रकार का भय नहीं देखते, और उससे अपनी मृत्यु की आशङ्का नहीं करते। इसके विपरीत उसके साथ खेलने अथवा छेड़खानी करने की इच्छा करते हैं। किन्तु जब वह सर्प अथवा सिंह फुंकार मारने अथवा क्रोध और बल प्रदर्शित करता हुआ गर्जना करने लगता है, तभी उन्हें इसमें भय दिखाई देता है और वे व्यग्र हो जाते हैं। इस प्रकार शक्ति के प्रदर्शन बिना उन्हें सर्प अथवा सिंह के स्वभाव की कल्पना ही नहीं होती।

"इसी प्रकार, परंतप, आसुरी प्रकृति वाले जीव विश्व में उग्र, भयानक, अद्भुत और विशाल रूपमें व्यक्त होती हुई शक्तियों में ही परमेश्वर की कल्पना करते हैं, किन्तु उसका शान्त, सौम्य, सरल और सूक्ष्म रूप का खयाल और उसके प्रति आदर भाव भी नहीं कर सकते। इन्हें व्यक्तबल ही परमेश्वरपन का चिह्न प्रतीत होता है।

"ऐसे मूढ़ भावना वाले पुरुष राक्षसी अथवा आसुरी प्रकृति होकर व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म, निरर्थक ज्ञान एवं विपरीत बुद्धि का पोषण करते हैं और मोहक पदार्थ तथा शक्तियों की ही खोज करते हैं।"॥११-१२॥

"पाण्डुसुत, आसुरीभाव और दैवीभाव वाले मनुष्यों के भेद के सम्बन्ध में पहिले भी मैं तुझे कह चुका हूँ। साथ ही,

श्लोक १३-१४. दैवीभाव वाले मनुष्यों में भी आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी ये चार प्रकार के भक्त हैं, यह बता चुका हूं। ये सब महान आशय वाले सत्पुरुष परमेश्वर को ही सर्व भूतों का मूलकारण तथा सब में अव्ययरूप से स्थित मानकर, उसके सिवा दूसरे किसी देव को न मानते हुए अनन्य भाव से उसी को भजते हैं। ॥१३॥

"कौन्तेय, ऐसे अनन्य भक्तों में भी दो भेद हैं—एक ज्ञानपूर्वक सांसारिक कर्मों द्वारा भक्ति करने वाले और दूसरे भक्तिमार्ग के नाम से परिचित विशेष प्रकार का कर्मयोग करने वाले।

"पांडव, जिस प्रकार सन्यासीजन सांसारिक कर्मों का त्याग कर ज्ञान तथा चित्त-शुद्धि के लिए तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि के रूप में कर्मयोग का आचरण करते हैं, उसी प्रकार भक्तिमार्गी परमेश्वर का नाम स्मरण, कीर्तन भजन, पूजन, नमस्कार आदि द्वारा अपना चित्त निरन्तर परमात्मा से जोड़कर, दृढ़ता पूर्वक व्रतों को धारणकर और सदैव भक्तिमार्ग में प्रयत्नशील रह कर उसकी उपासना करते हैं।" ॥१४॥

"किन्तु, पार्थ, जो ज्ञान-यज्ञ करने वाले भक्त हैं, वे इस प्रकार के भक्ति-मार्ग का अनुसरण नहीं करते, वरन् अपने नित्य कर्तव्य-कर्मों द्वारा परमात्मा की भक्ति करते हैं। वे स्पष्ट रूप में समझते हैं कि समग्र विश्व में एक रूप कहिए भिन्न रूप कहिए, अथवा अनन्त रूप कहिए, एक परमात्मा ही है, और सभी कर्मों द्वारा वही उपास्य है।" ॥१५॥

श्लोक १५

"अर्जुन, ब्राह्मण अनेक प्रकार की साधन-सामग्री तथा हवन-द्रव्य इकट्ठे कर, मण्डप, वेदी आदि रच कर, मन्त्र पढ़कर विधिपूर्वक, अग्नि प्रज्वलित कर, देवताओं की स्थापना कर और सङ्कल्प छोड़ कर यज्ञ करते हैं। किन्तु इन सब भिन्न-भिन्न साधनों, द्रव्यों, क्रियाओं, मंत्रोच्चारों, देवताओं तथा अग्नि आदि में कोई भिन्न वस्तु नहीं, प्रत्युत इन सब स्थूल तथा उसी प्रकार सूक्ष्म भौतिक, वाचिक, अथवा मानसिक, द्रव्यों तथा कर्म रूप में एक परमात्मा ही है उसे विश्व का उत्पादक एवं पालनकर्ता पिता कहिए, धारणकर्ता एवं प्रसवकर्ता माता कहिए अथवा उसे रचियता विधाता अथवा ब्रह्मा कहिए, कुछ ही कहिए, वह एक परमात्मा ही है।

श्लोक १६–१९

"परंन्तप, पवित्र ओंकार कहो, वेदों के सूत्र मन्त्र कहो, अथवा वेदों से गम्य वस्तु कहो, वह सब यह परमेश्वर ही है। वेद भी परमेश्वर रूप हैं (ओंकार भी ईश्वर का रूप है और वेदों से जिसे जानना है, वह भी यही है। सब का अन्तिम लक्ष्य स्थान, सब का भरण-पोषण कर्त्ता, सब का स्वामी, सब का साक्षी, सब का निवास-स्थान, आश्रय-स्थान, सबका हितैषी, सब का उत्पति, स्थिति तथा प्रलय का कारण, निदान और बीज यही अव्यय आत्मा है।

"धनंजय, परमात्मा ही सूर्य और अग्नि द्वारा तपता है, शोषण करता और बरसता है। प्राणियों का अमर आत्मा भी यही है, मरण पश्चात प्राणियों के शव में से भी उसका अ-भाव नहीं होता, प्रत्युत मृत्यु रूप में भी वह का वही है। अविनाशी - सत्यरूप—भी यही है और नाशवान-असतरूप भी यही है।" ॥१६-१६॥

"कौन्तेय, सचाई इस प्रकार होने पर भी तीनों वेद पढ़े ब्राह्मण भी उस परमात्मा को नहीं समझते। प्रत्युत सोमरस

श्लोक २०-२१

पान कर. जुदा-जुदा पापों के जुदे-जुदे प्रायश्चित कर, तथा अटपटी विधियों वाले विविध यज्ञ कर अन्त में स्वर्ग-प्राप्ति की ही इच्छा रखते हैं। गायों तथा स्वर्ण का दान देकर इष्टापूर्त कर्म कर अतुल पुण्य एकत्र कर, वे इतनी ही इच्छा करते हैं कि इन सब के फल-स्वरूप मृत्यु के पश्चात उन्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति हो और वहाँ उन्हें लम्बे अर्से तक देवों के भोग भोगने को मिलें।

"अर्जुन, कोई दरिद्री एक बार परिश्रम कर पैसा इकट्ठा कर रक्खे और फिर परिश्रम करना और उसमें वृद्धि करना छोड़ कर, आमोद-प्रमोद में उसे खर्च करने लगे और उस के बीत जाने पर फिर वैसा का-वैसा दरिद्री बन जाय, उसी प्रकार यह पुण्य का संग्रह करने के पीछे पड़े हुए लोग अपनी कामना से निर्मित विशाल स्वर्ग-लोक का अपने सञ्चित पुण्यों की समाप्ति तक भोग करते हैं, और फिर दुबारा मृत्यु-लोक में आ गिरते हैं। इस प्रकार अर्जुन, वेदों के केवल कर्मकाण्ड का अनुसरण करने वाले अपनी वासनाओं के दास बन कर मृत्यु और स्वर्ग के बीच आवागमन करते रहते हैं।" ॥२०-२१॥

"किन्तु प्रिय सखा, जो ज्ञानी अनन्य भक्त हैं, जो परमात्मा के सिवा दूसरे किसी देव को श्रद्धेय नहीं समझते और

श्लोक २२

इसलिए उसके सिवा और किसी को नहीं भजते, एवं जो नित्य केवल परमेश्वर में ही अपनी वृत्ति केन्द्रित करते हैं, वे भोग के प्रति इतने उदासीन रहते हैं, कि उसकी कभी चिन्ता ही नहीं करते वरन परिस्थिति अनुसार जो मिलता है उसी में सन्तोष मान लेते हैं। वे न तो अधिक इच्छा करते हैं,न अधर्म की इच्छा करते हैं और न अधर्म से पाने की इच्छा करते हैं। इसलिए उनकी जो आवश्यकताएं हैं, सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही उनकी पूर्ति करता है। इतना ही नहीं कि उसे क्या चाहिए इसकी चिन्ता दूसरे मनुष्य करते हैं, वरन् यह मूक एवं जड़ प्रतीत होती हुई प्रकृति भी, मानों उसके लिए चिन्ता करती हो इस प्रकार, उसकी सेवा में उपस्थित होती है और उसकी आवश्यकताएँ पूरी करती है।" ॥२२॥

'किन्तु महाबाहो स-काम मनुष्य में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। वे तो जुदी-जुदी कामनाओं के लिए जुदे-जुदे

श्लोक २३-२५

देवता निर्माण कर, श्राद्ध से उनकी पूजा करते हैं और उन-उन कामनाओं की तृप्ति के लिये याचना करते हैं। वे एक से कहते हैं; विद्या दो, दूसरे से कहते हैं, धन दो; तीसरे की सन्तान के लिए आराधना करते हैं, चौथे को राज्य प्राप्ति के लिये बलि चढ़ाते हैं, और पाँचवें को रोग निवारणार्थ सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

"अर्जुन, इस प्रकार यद्यपि वे भिन्न-भिन्न देवताओं को भजते हैं, फिर भी वे परमात्मा के सिवा दूसरे किसी को नहीं भजते। क्योंकि जब उसके सिवा शक्तियों का स्वामी कोई दूसरा है ही नहीं, तो सचमुच दूसरे किसकी आराधना की जा सकती है? परन्तप, मनुष्य गङ्गा में नहाय,

जमुना में नहाय अथवा सरस्वती में नहाय, किन्तु इन तीनों में एक पानी ही हो, तब भला पानी के सिवा वे दूसरे किस में नहाते हैं ! अथवा मनुष्य मुकुट धारण करे, कुण्डल पहरे अथवा कड़ा पहरे, यदि इनमें स्वर्ण के सिवा दूसरी कोई धातु ही न हो तो, भला वह स्वर्ण के सिवा दूसरा क्या पहनता है। इस प्रकार, मनुष्य चाहे इन्द्र को पूजें वरुण को पूजे अथवा अग्नि की पूजा करें; किन्तु परमात्मा के सिवा वे दूसरे की पूजा कर नहीं सकते; क्योंकि, वह एक नहीं सर्व यज्ञों द्वारा पुजने वाला और सर्व यज्ञों का फल देने वाला स्वामी है।" ॥२३-२४॥

"किन्तु अर्जुन, जिस प्रकार स्वप्न में शत्रु को लात मारते जाने वाला मनुष्य अपने पैर को ही, पलङ्ग पर पछाड़ कर चोट पहुँचता है, अथवा जिस प्रकार रत्न की परीक्षा न कर सकने वाला कोई मनुष्य अपने को मिले मूल्यवान रत्न को साधारण मूल्य में बेच देता है, इस प्रकार ये अनेक देवताओं की आराधना करने वाले सकाम भक्त, तत्वतः परमात्मा को न जानने के कारण उसे भजते हुए भी पूर्ण फल प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

'सव्यसाची, सत्यसङ्कल्प आत्म भक्तों को उसकी कामना के अनुकूल गति देता है। इसलिये देवोपासक देवताओं का, पितृपासक पितृ का और भूतोपासक भूतों का पद पाते हैं और जो परमात्मा के उपासक हैं, वे ही परमात्मा का पद प्राप्त करते हैं।

श्लोक २६ — 'अर्जुन, अनेक देवताओं की और एक परमात्मा की अनन्य भक्ति में और भी कितने ही भेद हैं, वह भी तुझे समझाना चहता हूँ।

"पाण्डव, तू जानता है कि देवताओं की भक्ति में विशिष्ट प्रकार की ही साधना सामग्री तथा द्रव्यों की आवश्यकता होती है; ज़रा सी भी भूल किये बिना उसकी विधियाँ पूरी करनी पड़ती हैं, निश्चित मन्त्रों से

ही उनका यजन हो सकता है, और इन सब में यदि किसी जगह भूल हो जाय तो केवल सारी आराधना ही निष्फल नहीं जाती, वरन् भक्त पर आपत्ति आने की भी भीति उत्पन्न हो जाती है।

"किन्तु, प्रियमित्र, जीवों के परम सुहृद परमात्मा की भक्ति में ऐसे विघ्न नहीं आते। एक प्रकार से देखा जाय तो इसमें एक ही वस्तु की अपेक्षा रहती है और वह है सच्ची भक्ति की। ईश्वर का ऐसा भक्तिमान् उपासक अपने पास पत्र, पुष्प फल अथवा पानी जैसे साधारण साधन हों तो भी इनके द्वारा ही ईश्वर का आराधन कर सकता है और मूल्यवान सम्पत्ति अर्पण करने वाले सम्राट से भी अधिक कृतार्थ हो सकता है। क्योंकि परमात्मा केवल भक्ति-भाव की ही जाँच करता है, उसे अर्पण की गई सामग्री के मूल्य की जाँच नहीं करता।" ॥२६॥

"किन्तु, अर्जुन, इस पर से तू कहीं यह न समझ बैठना कि परमात्मा अल्प सन्तोषी और छला जा सकने योग्य है और तुलसी पत्र अर्पण कर, फूल चढ़ा कर और फल एवं पानी का नैवेद्य चढ़ाने से ही पूर्णतया उसकी भक्ति हो जाती है।

श्लोक २७२८

"कौन्तेय, परमात्मा साधन और द्रव्यों के मूल्य के विषय में उदासीन है और केवल भक्ति की ही अपेक्षा करता है, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि देवताओं की तरह वह द्रव्यार्थी नहीं है। पार्थ! जिस प्रकार जिसके पास कुछ न हो, वह बाज़ार में जाकर कुछ खरीद नहीं सकता, उसी तरह जिसके पास देवता के लिये आवश्यक द्रव्य न हो तो वह उस देवता की आराधना नहीं कर सकता। किन्तु परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। तुलसी पत्र और पानी जैसी वस्तु से भी उसकी आराधना की जा सकती है।

"किंतु, दूसरी ओर, परमात्मा की भक्ति तो सर्वस्वार्पण द्वारा ही हो सकती है। अर्थात कि यदि भक्त के पास पत्र-पुष्प ही सर्वस्व हो,

उसके सिवा दूसरा कुछ न हो, तो वह इनके द्वारा ही परमात्मा की भक्ति कर सकता है। किंतु यदि कोई पुरुष अपने पास सर्वस्व रख कर केवल पत्र पुष्प ही ईश्वरार्पण करे तो उसकी भक्ति से भगवान ठगाई में नहीं आता।

"इसलिए, अनन्य भक्ति का अर्थ है ईश्वर के सिवा दूसरा कुछ प्रिय न होना। इससे, जिस प्रकार कोई लोभी पुरुष अपने घर आये हुए परम मित्र की अपनी अच्छी-से-अच्छी सामग्री से आदर-सत्कार करने की अपेक्षा स्वयं तो मिष्टान्न खाय और मित्र को खिचड़ी खिलाय अथवा स्वयं चाँदी के थाल में खाय और मित्र को मिट्टी के पात्र में खिलाय, तो यह न कहा जा सकेगा कि उसने मैत्री दर्शायी है; उसी तरह जो भक्त अपनी सर्वस्व और श्रेष्ठ सम्पत्ति परमात्मा के प्रति सौंपने के बदले, उसका छोटासा अंश ही उसको समर्पित करे तो वह कर्म भक्ति नाम के उपयुक्त नहीं होता।

"इससे पार्थ, ईश्वरभक्ति के लिए दूसरे शब्द की योजना की जाय तो वह होगा सर्वस्वार्पण। तू यदि पूजा के निमित्त कुछेक द्रव्य ईश्वरार्पण कर अपनी भक्ति को पूर्ण हुई समझता हो तो मैं जो सर्व सङ्कल्प सन्यास रूप योग की, समबुद्धि की, ज्ञान-विज्ञान पूर्वक परमात्मा के ज्ञान की तथा सांसारिक कर्मों द्वारा भक्ति-मार्ग की बात करता हूँ उस की सिद्धि हो नहीं सकती।

"इसलिए, गुडाकेश, इस मोक्ष देने वाली परामक्ति के लिए तो तुझे अपना समस्त जीवन ही ईश्वरार्पण करना होगा। तू जो कुछ करे, भोगे, हवन करे, अर्पण करे, तप करे, वह सब ही परमात्मा के अर्पण करना चाहिए। अर्थात् कि शरीर, वाणी तथा मनसे तू जो कुछ भी क्रिया करे उन सब से तू अपने लिए एक ही फल की इच्छा कर और

वह यह कि इन सबके परिणाम में तेरा चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर उसमें सत्यरूपी परमात्मा का ज्ञान प्रकटित हो और उसमें तेरी स्थिर निष्ठा हो। इस के सिवा तू इस लोक अथवा परलोक की कोई भी कामना न रख।

"फिर अर्जुन, ईश्वरार्पण का अर्थ है पर-हितार्थ जीवन। संसार में जो कोई देव, मानव, पशु पक्षी अथवा जीव जन्तु हों, उन सब के परमात्मस्वरूप होने के कारण, उनके हितार्थ ही जीवन व्यवहार कर रखना ही ईश्वरसमर्पित जीवन होता है।

"महारथी, देहधारी को अपने व्यक्तित्व का भान ही न हो, यह सर्वथा शक्य नहीं है। यह ठीक है कि वह स्वयं भी परमात्मरूप ही है, किन्तु यदि वह इस प्रकार का अभिमान करने लगे, तो अधोगति को प्राप्त होगा। क्योंकि, परमात्मा के परमभावपन में अहम्पन के भाव को स्थान ही नहीं है, और जहाँ अहम्पन का भाव उठता है, वहाँ परमात्मा का परमभाव नहीं, प्रत्युत उसकी गौण प्रकृति का ही दर्शन है। इसलिए ईश्वरभक्त अपनी अहंवृत्ति को और व्यक्तित्व को टाल नहीं सकता, किन्तु ज्ञान तथा भक्ति द्वारा ही टालता है। इसलिए जिसमें उसे मैं और मेरा यह भाव उत्पन्न होता है, उस सब को वह लोक-कल्याण के लिए अर्पित कर निरन्तर निःस्व (अपना कुछ नहीं, ऐसा) बनता रहता है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर में मल इकट्ठा करने की इच्छा नहीं करता, बस उसे निकाल डालने का ही निरन्तर प्रयत्न करता है, उसी तरह ईश्वर-भक्त स्वयं अथवा अपना जो कुछ है, हो, अथवा रहता है, उसे पर-हितार्थ व्यवहृत कर डालने में ही प्रयत्नशील रहता है।" ॥२७॥

"इस प्रकार सर्वस्व को परमात्मा के अर्पण कर देने वाले भक्त और मेरे पूर्व कथित सर्व सङ्कल्प सन्यासी में कुछ भी भेद नहीं है। ऐसे भक्तों को, शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्म बन्धनकारी नहीं हो सकते। प्रत्युत उनके द्वारा इनकी चित्त-शुद्धि एवं ज्ञान-शुद्धि होती है और उनकी परमपद में स्थिति होती है।" ॥२८॥

श्री कृष्ण का यह सब निरूपण सुन कर अर्जुन के मन में एक शङ्का उत्पन्न हुई। उसने पूछा—

"गोविन्द, आपने कहा है कि जो लोग जुदे-जुदे देवताओं को पूजते हैं, वेभी अनजान में परमात्मा को ही भजते हैं,

श्लोक २६ किन्तु अपने अनजानपन के कारण परमात्मा को प्राप्त नहीं होते, वरन अपने इष्टदेव को ही पाते हैं। किन्तु; जो परमात्मा को पहचान कर उसे ही भजते हैं, वेही परमपद प्राप्त करते हैं।

"वासुदेव, सर्वत्र, समानरूप से रहने वाले निष्पक्ष ब्रह्म में ऐसा भेदभाव किस लिये है? माधव, कोई व्यक्ति शक्कर को मीठी समझ कर खावे अथवा शक्कर समझ कर खावे, दोनों को वह मीठेपन का एकसा ही स्वाद देती है। उसी प्रकार ज्ञान से अथवा अज्ञान से भक्ति करने वालों को परमात्मा अपने पद की प्राप्ति एक समान क्यों नहीं देता? क्या यह परमात्मा की समानरूपता में न्यूनता न कही जायगी?"

अर्जुन की शङ्का सुनकर श्रीकृष्ण प्रसन्न-मुख से बोले—

"अर्जुन, तूने ठीक शङ्का की है। यह सच है कि परमात्मा सर्वत्र समान रूप से रहता है, और उसे कोई प्रिय नहीं है एवं कोई अप्रिय भी नहीं है। पुण्यवान को, पापी को, आसुरी स्वभाव वाले को, दैवी स्वभाव वाले को, जड़ को, चेतन को—सब को वह अपने में समान रूप से धारण कर रहता है। अपने भजने वाले से वह दूर नहीं है, न भजने वाले से भी अणुमात्र दूर नहीं है। देवताओं को भजने वालों की कामनाओं को यही पूर्ण करता है और परमपद की इच्छा करने वाले निष्काम भक्त की कामनाओं का अन्त लाने की इच्छा भी यही तृप्त करता है। इस में ज़रा भी संशय नहीं है।

"किन्तु, अर्जुन, देव-भक्तों को दो कारणों से परमपद की प्राप्ति

तथा उसकी शान्ति नहीं मिल सकती। पहिला कारण तो यह है कि उन की बुद्धि अभी भोगों में इतनी आसक्त होती है कि उन्हें परमपद की इच्छा ही नहीं होती। उन्हें कोई वह देने जाय, तो भी उसे लेने की वे इच्छा नहीं करेंगे। शत्रुंजय, जो व्यक्ति पानी मांगे, उसे दूध देने से सुख नहीं होता; नमक माँगने वाले को शक्कर देने से अनुग्रह प्रतीत नहीं होता, शराब पीने वाले को सुधारस पिलाया जाय तो वह कृतज्ञता प्रदर्शित नहीं करता। योग्य हो, अथवा अयोग्य हो, प्राणी अपनी कामनाओं की तृप्ति की ही इच्छा करता है, श्रेय की इच्छा नहीं करता। इसलिए कर्म-फल प्रदाता परमात्मा उनकी उन कामनाओं की पूर्ति कर उन्हें सन्तोष देता है।

"फिर, अर्जुन, सकाम भक्त परमपद को नहीं पहुँच सकते, इसका दूसरा कारण सुन—

"परन्तप, जिस प्रकार विराट राजा के नगर से तू रथ में बैठ कर कुरुक्षेत्र में आया, इस तरह परमपद को पहुँचने के लिये कोई स्थानान्तर नहीं करना पड़ता। परमपद में कौन नहीं है ? जो कुछ है सब उसी में रहता है ! न कहीं जाना है, न कहीं आना है, न कुछ प्राप्त ही करना है। अपनी इन्द्रियों से भी अधिक निकट, मन की अपेक्षा भी अधिक निकट रूप से वह परमात्मा निवास करता है। किन्तु, महाबाहो, जिस प्रकार जो यह नहीं जानता कि अपने घर में धन गड़ा हुआ है, वह उसका आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार कंजूस व्यक्ति उसका अस्तित्व तो जानता है, किन्तु अनिच्छा के कारण उसका उपभोग अथवा आनंद प्राप्त नहीं कर सकता इसी तरह परमात्मा को न पहचानने वाले अथवा पहचानते हुए भी इच्छा न करने वाले को उस की प्राप्ति अथवा शान्ति न मिले तो इस में आश्चर्य क्या है ?

"इस प्रकार जो परमात्मा को ही भक्ति पूर्वक भजता है, उसे ही वह मिलता है,।"

श्रीकृष्ण के इस विवेचन से अर्जुन को सन्तोष हुआ और इसलिए इस स्थान का उम्मीदवार होने के लिये कितना पूर्वाधिकार चाहिए, यह जानने को उत्सुक हुआ। वह बोला —

हृषीकेश, आपने जो कुछ कहा, वह मेरी समझ में आगया। किन्तु अब ऐसी परमपद की आकाँक्षा किसे हो सकती है, कौन यह इच्छा रखता है, पद की प्राप्ति के पहिले उसे पूर्व तैयारी के रूप में किस देवता का भजन-पूजन करना चाहिए एवम् उसके पूर्व संस्कार कैसे होने चाहिएँ, ये सब बातें मुझे विस्तार के साथ समझाइये।"

श्लोक २०-२४

'बहुत ठीक" कह कर वासुदेव बोले—

"अर्जुन, परमपद की प्राप्ति का उम्मेदवार होने के लिए एक ही सम्पत्ति की आवश्यकता है—वह है अत्यन्त भक्तिमान हृदय। इसके सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं चाहिए, पूर्व तैयारी नहीं चाहिए, पूर्व चरित्र नहीं चाहिए। जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोने का सिक्का लेकर बाज़ार जाय, तो उसे भुना कर जीवन के आवश्यक पदार्थ प्राप्त कर सकता है, कारण कि स्वर्ण-मुद्रा को दुकानदार खुले आम स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अनन्य भक्ति वाले हृदय को दूसरे सब साधन प्राप्त कर लेने में असुविधा नहीं होती।

"इसलिए, धनञ्जय, मनुष्य का पूर्व जीवन अत्यन्त दोषमय बीता हो, उसका जन्म अधम अथवा पापी-कुल में हुआ हो, स्त्री, वैश्य अथवा शूद्र जैसा वैदिक संस्कारों से वञ्चित वह व्यक्ति हो, तो भी यदि उसके हृदय में परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति उत्पन्न हो, तो वह समझ कि उससे उसका सब कुछ सुधर गया। अपने सब दोषों को हटाकर, अपने भक्ति-बल से वह तेज़ी से सन्मार्गपर चढ़ जाता है और दुरात्मा से धर्मात्मा बन जाता है।

"इस प्रकार यदि संस्कारहीन, चरित्रहीन, कुलहीन, स्त्री-पुरुष भी इस पद के अधिकारी हो सकते हैं तो, जिन्हें संस्कार-सम्पन्न तथा चरित्र-सम्पन्न करने के लिये शताब्दियों से प्रयत्न किया जाता है,वे ब्राह्मण और राजर्षि इस पद की आकांक्षा करें, तो उनके अधिकार के सम्बन्ध में तो कहना हीं क्या है ?

"इसलिये, अर्जुन, इस अनित्य और सुख-हीन संसार को पाकर परमात्मा की भक्ति कर ले। इस परम चैतन्य को श्रेष्ठ समझ। इसी में अपनी सारी बुद्धि और मन तथा अपना सम्पूर्ण प्रेम लगा। उसी की पूजा कर, उसी को नमस्कार कर। इस प्रकार तू उसी को पावेगा, यह मैं तुझ से प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ। परमेश्वर के भक्त का कभी अनुद्धार होता ही नहीं।" ||३०—३४||

दसवाँ अध्याय

विभूति वर्णन

श्लोक १—३

भक्तवत्सल श्रीकृष्ण ज्ञान-सहित भक्ति का विषय समझाते हुए अत्यन्त प्रेमार्द्र हो गये। अर्जुन जैसा बाल सखा सुनने वाला हो, आत्मस्वरूप का तथा पराभक्ति का निरूपण हो, और ज्ञानियों के, योगियों के और धर्मज्ञों के राजा श्रीकृष्ण जैसे वक्ता हों, तब वक्ता और श्रोता दोनों को निरूपण करते और सुनते हुए अगर तृप्ति न हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। इसलिए अर्जुन का हित चिन्तन करनेवाले और उसके प्रेमके वश में रहने वाले वासुदेव अर्जुन को बारम्बार परमात्मा के ज्ञान तथा भक्ति का तत्व समझाने लगे। उन्हों ने कहा—

"प्रियवर, सदैव सत्यरूप परमात्मा का उद्भव कहाँ से हुआ और कब हुआ यह न कोई जानता है, न जान ही सकता है। क्योंकि, जो कुछ विश्व में है, उसका उद्भव परमात्मा के बाद का है और परमात्मा में से है। इस से, जिस प्रकार अपने पूर्व जन्म सम्बन्धी यथार्थ बातें हम यथार्थरूप में नहीं जान सकते, उसी प्रकार परमात्मा के उद्भव को भी हम यथार्थरूप में नहीं जान सकते।

'परंतप, हमारे बचपन में भीष्म की तरह कोई वृद्धावस्था को पहुँचा हो, तो उसके विषय में हमें यही ख़याल होता है कि 'जब से हम उसे जानते हैं, तब से ऐसा वृद्ध ही देखते हैं।' इसी तरह परमात्मा के विषय में हमारा यह निरन्तर ज्ञान है कि वह अनादि है, सदैव एक रूप है तथा सर्व लोगों का महेश्वर है। उसे इस प्रकार यथावत समझ कर जो उसके

विषय में किसी प्रकार भ्रम में नहीं रहता, वही सब पापों से मुक्त होता है।" ॥१-३॥

"पार्थ, प्राणियों के हृदय में और संसार में सुख-रूप अथवा दुःख-रूप, पुण्य-रूप अथवा पाप-रूप कल्याण-कारक अथवा

श्लोक ४-७

अकल्याण-कारक, जो कुछ भाव अनुभव में आते हैं, वे सब सत्यरूप, और ज्ञानस्वरूप उक्त परमात्मा में से ही भिन्न-भिन्न प्रकार से उद्भावित होते हैं।

"धनञ्जय, वास्तव में तो परमात्मा स्वयं तो सुखरूप भी नहीं है और दुःख रूप भी नहीं है; उसमें पुण्य भी नहीं है, पाप भी नहीं है, यश अथवा अपयश इन दोनो में से एक भी परमात्मा का भाव नहीं है। प्रत्युत वह तो जिस प्रकार बुद्धि, ज्ञान, निशङ्कता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, जन्म, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश आदि सबका आधाररूप है, उसी प्रकार अबुद्धि, अज्ञान, मोह, क्रोध असत्य, दुःख, विनाश, उच्छृङ्खलता, उद्वेग, मरण. भय, हिंसा, विषमता, असन्तोष, भोग, कृपणता, अपयश, आदि भावनाओं का भी आधार है। दोनों उसी के कारण हैं।

"कौन्तेय, अपार आकाश में तिरते हुए ब्रह्माण्डोंमें कौन ऊपर है और कौन नीचे है, कौनसा दाहिने हाथ पर है और कौनसा बाँये हाथ पर है, यह स्वतन्त्र रूप से निश्चय नहीं किया जा सकता। यह तो देखने वाला किसी तीसरे ही स्थान पर खड़ा होकर अपने स्थान की दृष्टि से दिशाओं का भेद करता है। फिर, महाबाहो, मनुष्य के एक ही ओर आँख आदि इन्द्रियाँ होती हैं और दूसरी ओर उनका अभाव होता है, तथा एक ओर छाती और दूसरी ओर पीठ होती है, इसलिए, वह अगला-पिछला, दाहिना-बायाँ, आदि भेद करता है। किन्तु जिसके चारों ओर इन्द्रियां हों, और छाती तथा पीठ एक समान ही हो, वह किसे आगे और किसे

पीछे कहेगा ? कौन से हाथ को बायाँ और कौनसे को दाहिना कहेगा ?

"उसी तरह, परंतप, परमात्मा के स्वरूप में भेदों को स्थान नहीं है। किन्तु मनुष्य जुदा-जुदा पदार्थों तथा भावों को भिन्न-भिन्न भूमिका से तौलकर उन भावों में तारतम्य तथा तुलना का विवेक करता है। इन भावों को वह ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, बल, प्रकाश, अमरता आदि के उद्देश्य से लेजाता है, और मानों अज्ञान से ज्ञान की ओर, अधर्म से धर्म की ओर, आसक्ति से वैराग्य की ओर, कार्पण्य से ऐश्वर्य की ओर, निर्बलता से बलकी ओर, अंधकार से प्रकाशकी ओर, एवन् मृत्यु से अमरता की ओर पहुँचना सृष्टि का उन्नति क्रम है, इस प्रकार देखता है। साथ ही, वह यह भी देखता है, कि ज्यों-ज्यों सृष्टि उस-उस क्रम को सिद्ध करती है, त्यों-त्यों उसकी शुद्धि होती जाती है और उसका परमात्मा के साथ विशेष साम्य होता हुआ प्रतीत होता है। इस से, सव्य-साची, विवेकशील पुरुष यह निर्धारित करते हैं कि ऐसे उच्च भावों में परमात्मा का विशेष अस्तित्व है, और जिस में उच्चभावों का दर्शन होता हो उसे वे परमात्मा की विभूति—परमात्मा का विशेष प्रादुर्भाव-मान कर उसके प्रति आदर से, आश्चर्य से अथवा भय से देखते हैं और उसके द्वारा परमात्मा की महिमा को जानते हैं।

"कौन्तेय, इस प्रकार मनुष्यों और प्राणियों के पूर्वज स्वरूप माने गए सात महर्षियों, चार सनकादि कुमारों, तथा मनु आदि का जन्म इस परमात्मा के सङ्कल्प मात्र से ही हुआ है यह मान कर पण्डितजन इतिहास का प्रारम्भ करते हैं; क्योंकि इस वास्तविक आदिकाल को हम लोग यथार्थ रूप से जान नहीं सकते।" ॥४–६॥

"पार्थ इस प्रकार जो ज्ञानी तत्व से परमात्मा की विभूति—उस का विशेष प्रताप—समझते हैं, तथा इसके द्वारा परमात्मा के साथ बढ़ते हुए साम्य का क्रम पहचानते हैं, वे परमात्मा के साथ अविचलरूप से मिल जाते हैं, इसमें कुछ शंका नहीं।" ॥७॥

श्लोक ८—११ "धनञ्जय, एक बार मैं फिर तुझे ज्ञानी पुरुष का दृष्टि-कोण और भक्ति का स्वरूप समझाता हूँ।

"देख, वे यह दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि इस संसार में जो कुछ नामरूप है, उस सब की उत्पत्ति का कारण और स्थान परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए चित्त के अवलम्ब और अनुसन्धान के योग्य कोई हो, जिसमें जीव को संलग्न किया जाय ऐसा कोई हो, परस्पर बोध का अथवा चर्चा का विषय बनाने योग्य कोई हो, सदैव के लिये सन्तोष और आनन्द देने वाला कोई हो, तो वह केवल एक परमात्मा ही है। यह जान कर वे मन, कर्म तथा वचन से प्रेमपूर्वक परमात्मा का ही ध्यान, भजन तथा कीर्तन करते हैं।

"अर्जुन, इस प्रकार करते करते उनका चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्धि के साथ उनकी बुद्धि भी निर्मल, तेजस्वी एवम् सूक्ष्म होती जाती है। तत्पश्चात् इस प्रकार शुद्ध हुई इच्छा द्वारा वे परमात्मा को यथावत् जान कर, उसमें स्थिर हो जाते हैं और उसके पद को प्राप्त करते हैं।

"कौन्तेय, मैंने धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, बल, प्रकाश, अमरता तथा ज्ञान आदि परमात्मा की विभूति के जो अनेक अंग तुझ से कहे हैं, उन में से अज्ञान में से ज्ञान के प्रति जो उन्नति का क्रम है वही मुक्ति का देने वाला है। दूसरी सब सिद्धियाँ गौण हैं। इस ज्ञान रूपी सिद्धि की प्राप्ति भक्ति द्वारा जितनी होती है, उतनी किसी दूसरे एक साधन में नहीं हो सकती। भक्ति भक्त के हृदय को शुद्ध करती है और फिर जिस प्रकार निर्मल काँच में दीपक का प्रकाश चमक उठता है, उसी तरह इस हृदय में ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है।" ॥८—११॥

श्री कृष्ण का यह निरूपण सुन कर अर्जुन सात्विक भावों से शराबोर हो गया। शिक्षक अपने विद्यार्थी को कोई विषय श्लोक १२–१८ बारम्बार समझाने पर भी जबतक वह अच्छी तरह उसकी समझ में नहीं आ जाता, तबतक बार बार

सुनने पर भी उसे उसका पूरा आनन्द, रस अथवा महत्त्व अनुभव नहीं होता। किन्तु जिस दिन अकस्मात् उसका तत्त्व विद्यार्थी के हृदय में समा जाता है उस दिन घोर अन्धकार में भटकते हुए मनुष्य को जिस प्रकार बिजली अकस्मात चमक कर मार्ग दिखा देती है उसी तरह, वह अपने हृदय में ऐसा अनुभव करता है मानो प्रकाश हो जाता है। अर्जुन की दशा भी ऐसी ही हो गई थी। 'परमात्मा ही सब से महान, सब का निवास-स्थान और सब से पवित्र तत्त्व है, वही जगत का सनातन आत्मा है, वही आदि देव है, दिव्य है, अजन्मा है, और सर्वव्यापक है'— परमात्मा का इस प्रकार निरूपण नारद, व्यास, अगस्त आदि अनेक देवर्षियों, महर्षियों तथा ऋषियों के मुँह से वह बारम्बार सुन चुका था। किन्तु इसका पूरा अर्थ उसके ध्यान में अब तक आता ही न था। सभी एक ओर से कहते हैं कि परमेश्वर को कोई जानता नहीं, उसे कोई समझ नहीं सकता, वह स्वयं ही अपने को जानता है, दूसरे सब के लिए वह अगम्य है, इत्यादि। दूसरी ओर देखिये तो जितने ऋषि-मुनि हैं, वे सब रात-दिन परमेश्वर की ही चर्चा करते दिखाई देते हैं। ये दोनों बातें उसे परस्पर विरोधी प्रतीत होती थीं, और इस लिए वह असमञ्जस में पड़ जाता था। श्रीकृष्ण के निरूपण से यह बात उसके हृदय में स्पष्ट हो गई और भक्त लोग अज्ञेय परमात्मा का किस प्रकार ज्ञान निरूपण, चिन्तन तथा भजन करते हैं, इस की उसे कुछ झलक मिल गई। वह समझ गया कि परमेश्वर का उसकी विभूतियों द्वारा ही मनन, चिन्तन और निदिध्यासन हो सकता है और इनके द्वारा ही उसकी भक्ति और उपासना हो सकती है। इसलिए इस विषय में वासुदेव के पास से अधिक विवरण प्राप्त करने के लिए वह आतुर हो उठा और बोला—

"जनार्दन, आपने सर्वभूतों के कारणरूप, सर्व देवों के देव तथा जगत के पति का जो ज्ञान और विज्ञान समझाया वह ठीक ही है। इस

विषय में मैं अब निःसंशय हो गया हूँ। अनेक ऋषियों के मुँह से सुन कर भी जो बात मेरी समझ में नहीं आती थी, वह आज आप के प्रवचन से मैं इस प्रकार स्पष्ट रूप से समझ सकता हूँ, मानो कोई किसी ढकी हुई वस्तु को खोल कर दिखा देता हो, अथवा मानो कोई आरसी लाकर उस में प्रतिबिम्ब दिखाता हो। अब मैं आप से एक दूसरी बात जानना चाहता हूँ। बात यह कि, विभूतियाँ द्वारा सर्व विश्व में व्याप्त परमात्मा की चमत्कारिक विभूतियाँ कितनी हैं? कितनी प्रकार की हैं? इसका चिन्तन करने वाला इन्हें किस तरह समझे? उसके किस-किस भाव का चिन्तन किया जाय? ये सब बातें आप मुझे विस्तार पूर्वक समझाइये। क्योंकि, आप के मुँह से परमेश्वर की बातें सुनते हुए मुझे कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि बस अब बहुत हो गया।" १२-१८

परमेश्वर की महिमा सुनने के लिए अर्जुन का उत्साह और श्रद्धा देख कर श्री कृष्ण को अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्हें

श्लोक १९-४२

स्वयं परमात्मा की महिमा का गान करने से अधिक प्रिय और क्या हो सकता था? इसलिए इस प्रश्न का स्वागत करते हुए वे बोले—

"परंतप, परमेश्वर की विभूतियों का विस्तार से वर्णन करना तो शक्य नहीं है। उसकी विभूतियाँ इतनी अनन्त, अपार और विविध हैं और मनुष्य का विज्ञान इतना अल्प है कि यह दर्शाने के लिए कि यह कार्य असाध्य है, कवि लोग परमात्मा के अनन्य भक्त के रूप में एक हज़ार मुँह वाले शेष नाग की कल्पना करते हैं और उसे सदैव परमात्मा की महिमा गाता हुआ बताते हैं; और फिर यह परिणाम निकालते हैं कि यह शेषनाग भी उसकी विभूतियों का अन्त नहीं पा सकता। साथ ही अनेक कवि इस अशक्यता को दर्शाने के लिए कहते हैं कि समुद्र जितनी बड़ी दवात हो और उस में सुमेरु पर्वत जितनी स्याही भरी हो,

क़लम बनाने के लिये कल्पतरु की डालियें काम में लाई जाती हों, पृथ्वी के जितने बड़े-से बड़े काग़ज़ हों, और इन सब साधनों सहित स्वयं सरस्वती लिखने वाली हों, तो भी परमात्मा के गुणों का अन्त नहीं आता।

"इसलिए अर्जुन, मैं परमात्मा की विभूतियों का विस्तार से वर्णन करने बैठूं तो भी उनमें से सहज ही नज़र में आसकने वाली कुछेक मुख्य विभूतियों का ही नाम निर्देश मात्र हो सकेगा।" ॥१६॥

"गुडाकेश, वह तू अब अच्छी तरह समझ गया होगा कि परमात्मा ही सब प्राणियों का आत्मा है, और सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी वही है।

"परन्तप, विद्वानों का कथन है कि इस परमात्मा की शक्तियां अनन्त प्रकार की हैं। किन्तु ये शक्तियाँ किसी एक ही पदार्थ में सम्पूर्णतया प्रकटित हुई प्रतीत नहीं होतीं। पदार्थ मात्र में उस की विविध शक्तियों का एकाध अंश ही दिखाई पड़ता है।

"फिर, अर्जुन उसकी एकाध शक्ति का ही विचार किया जाय, तो उस विषय में भी हमें किसी पदार्थ में वह शक्ति अल्प प्रमाण में प्रकटित हुई दिखाई देती है और किसी जगह आश्चर्य चकित कर डालने जितने भारी प्रमाण में प्रकटित हुई देखने में आती हैं। उदाहरणार्थ हम परमात्मा की तेज शक्ति का दीपक में, नक्षत्रों में, अथवा चन्द्र तथा ग्रहों में अत्यल्प अन्श देखते हैं। किन्तु वही शक्ति सूर्य में अत्यन्त विपुल प्रमाण में दिखाई देती है। इस से हम प्रकाशदाता पदार्थों को ध्यान में ला कर यह समझते हैं कि सूर्य में परमात्मा की तेज शक्ति की पराकाष्ठा हो गई है। और कहते हैं कि तेजरूप में परमात्मा पूर्ण रूप से सूर्य में प्रकटित हुए हैं।

"किन्तु, कौन्तेय, इस सम्बन्ध में हमें एक दूसरी बात भी ध्यान में

रखनी है। वह यह कि तेज की विभूति के रूप में परमात्मा सूर्य स्वरूप हैं इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि सूर्य से अधिक प्रकाश देने की परमात्मा की शक्ति नहीं है। वस्तुतः सूर्य में भी परमात्मा की तेज शक्ति का एक छोटा अन्श ही प्रतीत होता है। आकाश में लकटते हुए अनेक नक्षत्रों में ऐसे अनेक महा सूर्य होंगे जो सूर्य के प्रकाश को फीका कर सकते हैं। किंतु हमें उनके प्रकाश का परिचय नहीं है। हमारे अपने लिए तो केवल सूर्य ही परम प्रकाशवान पदार्थ रूप में भासित होता है। इसलिए, हम इसे परमात्मा की विभूति मान कर सन्तोष मान लेते हैं। वस्तुतः यह सम्भव हो सकता है कि इस से परमात्मा की अणुमात्र शक्ति ही प्रकटित हुई हो।

'धनञ्जय, यह कौन जान सकता है कि सोते हुए मनुष्य में कितनी बुद्धि है, सुप्त सिंह में कितना बल है एवन् शून्य समान प्रतीत होते हुए आकाश में कितने ब्रह्माण्ड निर्माण करने की सामग्री भरी हुई है? उसी तरह निजरूप परमात्मा के बल, ऐश्वर्य, ज्ञान, प्रकाश, भावना, शक्ति आदि का ख़याल, यदि वह विश्वरूप में व्यक्त न हो तो किसे आ सकता है? और इस प्रकार व्यक्त होने के बाद भी उन शक्तियों का नाश तो हो ही नहीं सकता। इस के प्रकारों की संख्या और इसकी महत्ता की तो कल्पना ही की जा सकती है।

"इस प्रकार मनुष्य अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की मर्यादा शक्ति द्वारा संसार में जो कुछ सुखरूप अथवा दुःखरूप, सात्विक, राजस अथवा तामस, कल्याणकारी अथवा अकल्याणकारी शक्तियाँ देखते हैं, उस का जिस पदार्थ में भारी प्रमाण में प्रदर्शन होता है, उस पदार्थ को परमात्मा की एक विभूति कहते हैं और उस में परमात्मा का चिंतन करते हैं।

"इस प्रकार आदित्यों में विष्णु, प्रकाशमान ज्योतियों में सूर्य

वायुओं में मरीचि, तारागणों में चन्द्र, वेदों में साम, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, मछलियों में मगर, नदियों में गङ्गा, सरोवरों में समुद्र, इन सब में विभिन्न शक्तियाँ विशेप प्रकार से व्यक्त होने के कारण भक्तजन उन सब में परमात्मा का दर्शन करते हैं।

"साथ ही, अर्जुन, पदार्थों का जो विशेष लक्षण होता है, उस में भी भक्तजन परमात्मा का चिंतन करते हैं। उदाहरणार्थ, भूतों में स्थित चेतना, वाणी में ओंकार, सत्ववानों का सत्त्व, गुह्यों में मौन, ज्ञानियों में ज्ञान आदि रूप में परमात्मा ही प्रकटित होते हैं, यह भावना करते हैं।

"फिर, अनेक बार जहाँ एक ही प्रकार की अनेक समान शक्तियाँ हों वहाँ भक्तजन उनमें से प्रथम शक्ति को ही परमात्मा में चिंतन के लिये अनुकूल मान लेते है। उदाहरण स्वरूप वर्णमाला के अक्षरों में आकार, समासों में द्वन्द्व, महीनों में मार्गशीर्ष, छन्दों में गायत्री आदि।

"इसके सिवा, महाबाहो, भक्तजन यह बात भी नहीं भूलते कि परमात्मा ही तामस अथवा राजस शक्ति के रूप में अतिभारी प्रमाण में प्रकटित होते हैं, और, इसलिए यह समझने के लिए कि संसार में कुछ भी द्वेष्य नहीं है, ऐसी शक्तियों का भी विचार करते हैं। उदाहरणार्थ आयुधों में वज्र, ठग-विद्याओं में जुआ, नाश करने वालों में मृत्यु तथा दमन-नीति में दण्ड, इन सबको भी परमात्मा की ही विभूति मानते हैं।

"किन्तु, इस प्रकार विचार करके भी वे अपने उदाहरण के लिए अथवा चित्त को एकाग्र करने के लिए परमात्मा की दिव्य तथा कल्याण-कारी विभूतियों का ही अधिक विचार करते हैं। इस तरह अनेक विद्याओं में से अध्यात्म विद्या को, सौम्यशक्तियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, क्षमा, इत्यादि को, दैत्यों में प्रह्लाद को, यादवों में मुझे, तथा पाण्डवों में तुझे ही चिन्तन के लिए पसन्द करते हैं।

"अब, अर्जुन, तू थोड़े में ही बहुत समझ जा। क्योंकि, भिन्न-भिन्न नाम पदार्थों के नाम देकर मैं हज़ारों विभूतियाँ भी गिनाऊं तोभी वे सब परमात्मा की शक्ति में का एक नगण्य अंश ही रहेगा। इसलिए इस गिनती का करना शक्य नहीं है।

"संक्षेप में ही तू पूरा समझ ले। सर्वभूतों का जो कुछ बीज है वह परमात्मा ही है। चर-अचर कोई भूत अथवा प्राणी बिना उसके नहीं है। इन सब में जहां विशेष शक्ति का प्रदर्शन होता है, वहां परमात्मा की विशेष प्रकटता समझी जाती है, किन्तु, इससे, यह न समझना चाहिए कि न्यून दिखाई देने वाली शक्तियों में परमात्मा का अंश कम है। इस के साथ ही अर्जुन, यह समझ कि ऐसी सर्वशक्तियों सहित यह सकल विश्व परमात्मा की शक्ति के अंशमात्र का ही दर्शन कराता है।

अगर तू इतना समझ ले तो कह सकते हैं कि थोड़े में तू सब समझ गया। ॥२०-४२॥

एकादश अध्याय

विराट दर्शन

उपोद्घात तीसरा

(१)

ग्यारहवाँ अध्याय आरम्भ करने से पहिले फिर कुछ उपोद्घात करने की आवश्यक्ता प्रतीत होती है।

चौथे अध्याय के उपोद्घात में बताया था, कि गीता तत्वज्ञान विषय का ग्रन्थ होने के अलावा वैष्णव सम्प्रदाय का ग्रन्थ है और इसलिए इस में वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यताओं का उल्लेख है। अर्थात् इसमें एक ओर श्रीकृष्ण का विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिपादन है और दूसरी ओर उससे भी आगे बढ़कर श्रीकृष्ण मानों परमात्मा का मुख हों, इस प्रकार सम्पूर्ण प्रवचन रचा गया है। गीता के साथ इस मन्थन को पढ़ने वाले के लक्ष्य में यह बात आई होगी कि गीता में कहीं भी परमात्मा जैसे तृतीय पुरुष का शब्द नहीं है, वरन सर्वत्र मानों श्रीकृष्ण ही परमात्मा और परमात्मा ही श्रीकृष्ण हों, इस प्रकार, परमात्मा के बदले 'मैं', 'मेरा', 'मुझसे', 'मुझमें' इस प्रकार प्रथम पुरुष का प्रयोग हुआ है।

सब धर्मों के पुराने ग्रन्थों में ऐसी पद्धति दिखाई देती है। बाइबिल में और कुरान में भी मानों पैग़म्बरों द्वारा परमात्मा बोलता हो, इस प्रकार प्रथम पुरुष का ही प्रयोग किया गया है। फिर हिन्दू धर्म के ग्रन्थों में ऐसा किया जाय, इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। क्यों कि वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार तो परमात्मा ही श्रीकृष्ण द्वारा बोलता है, यह

केवल श्रद्धा का विषय नहीं, वरन सैद्धान्तिक बात है, यह कहने में कुछ अतिशयोक्ति नहीं होती।

किन्तु, श्रीकृष्ण रूप में परमात्मा ही है यह कहना एक बात है; और श्रीकृष्ण अर्थात् परमात्मा और परमात्मा अर्थात् श्रीकृष्ण यह कहना दूसरी बात है। पहली बात तत्व की है और दूसरी सम्प्रदाय की और श्रद्धा की है। दूसरी बात का अर्थ यह होता है कि यदुवंश में वसुदेव-देवकी से उत्पन्न हुए प्रतापी पुरुष श्रीकृष्ण में परमात्मा की सब विभूतियाँ और शक्तियाँ एक केन्द्र में आकर बस गई थीं। इस श्रद्धा का अर्थ यह है कि जिस प्रकार सूक्ष्म दर्शक शीशे में से आने वाली किरणें दूसरी ओर एक केन्द्र में एकत्रित होती हैं और वहाँ थोड़ीसी जगह में ही समस्त किरणों की सारी उष्णता एकत्र कर देती हैं, उसी प्रकार परमात्मा का सर्वस्व इन श्रीकृष्ण में आकर बस गया था।

भागवत आदि वैष्णव पुराणों तथा महाभारत में भी स्थल-स्थल पर श्रीकृष्ण का चरित्र इस प्रकार चित्रित किया गया है कि जिससे इस श्रद्धा को पोषण मिलता है। और इसके लिये जिस प्रकार परमात्मा में परस्पर विरोधी प्रतीत होती हुई शक्तियों और भावनाओं की गुंजायश है, उसी तरह श्रीकृष्ण के चरित्र को भी सद्-असद् सब प्रकार के कर्म वाला चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है, साथ ही उन्हें अनेक चमत्कार करने वाले की तरह भी बताया गया है।

(२)

इसके अनुसार, जहाँ यह सिद्धान्त है कि, तात्विक दृष्टि से सब कुछ परमात्मा स्वरूप है, वहाँ ज्ञानी, योगी, धर्मज्ञ तथा प्रतापी श्रीकृष्ण के मुख से परमात्मा का निरूपण "मैं" शब्द द्वारा हो, इसमें गीता हिन्दू-धर्म और उसी प्रकार अन्य धर्म-ग्रन्थों से प्रभावित प्रणालीका ही अनुसरण करती है। किन्तु इसके साथ ही परमात्मा की वैष्णवी शक्ति का श्रीकृष्ण में प्रदुर्भाव है, यह एक मान्यता, तथा परमात्मा की समग्र

विभूतियाँ श्रीकृष्ण में ही केन्द्रीभूत हैं, यह दूसरी मान्यता तथा उपर्युक्त सिद्धान्त, इस प्रकार इन तीनों बातों का गीता में सम्मिश्रण है। इससे ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण कि श्रीकृष्ण 'मैं' सर्वनाम का उपयोग न कर सकते हों अथवा उन्हें 'तू' कहकर सम्बोधित न किया जा सकता हो। इस प्रकार इस अध्याय में श्रीकृष्ण का वर्णन चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मयुक्त अथच विष्णुरूप में किया गया है, और इससे यह विचार उत्पन्न होता है मानो श्रीकृष्ण अर्जुन को सदैव इसी रूप में दिखाई देते थे। वस्तुतः ऐसा करने का अभिप्राय, जैसा कि भक्तिमार्गी सदैव कहा करते हैं, इस सिद्धांत की स्थापना करना प्रतीत होता है कि सगुण और निर्गुण में तथा परोक्ष (विष्णु) और प्रत्यक्ष (श्रीकृष्ण) में किसी प्रकार का भेद न किया जाय।

(३)

गीता के पाठक श्रीकृष्ण को पूर्ण समझें, उनमें और परमात्मा में तथैव उनमें और विष्णु में किसी प्रकार का भेदमात्र न समझें, इसके लिए अगले अध्यायों में जो यह प्रतिपादन किया गया है कि विश्वरूप में परमात्मा ही है, उसके लिए इस अध्याय में ऐसा काव्यमय विराट्-दर्शन का स्थूल शब्दचित्र उत्पन्न कर कल्पनाशक्ति को सहायता पहुँचाने का प्रयत्न किया है, जिससे कि उसका पढ़ना और सुनना मनोहर प्रतीत हो।

इसके सिवा, इसके साथ ही इसमें परमात्मा का कालस्वरूप भी सम्मिलित कर दिया गया है। परमात्मा के सनातन-स्वरूप में भूत, वर्तमान और भविष्य का भेद नहीं है। वह तीनों काल का साक्षी भी है। किन्तु इन तीनों काल का अर्थ क्या है? दृश्यमात्र वस्तु अन्त में तो विनाश-पथगामी ही है और काल है परमात्मा की दृश्यों का सदैव संहार करने वाली शक्ति, इस प्रकार भी यहाँ परमात्मा का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

किन्तु यहाँ काल का इतना ही रूप चित्रित नहीं हुआ है। यहाँ परमात्मा अथवा काल को नियति-रूप भी दिखाया गया है। प्राणी अपने को समझते हैं उतने स्वतन्त्र नहीं हैं, जितना चाहते हैं उतना सब नहीं कर सकते; बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता कुछ काम नहीं आती, प्रत्यक्ष विनाश को रोका नहीं जा सकता, इतना ही नहीं प्रत्युत् खुली आँखें अपने-आप उस विनाश के मुँह में जा पड़ना पड़ता है, अथवा विनाश करने में निमित्त बनना पड़ता है। जिस समय ऐसा होता है, उस समय हम कहते हैं—'इसकी मौत आगई है,' 'ईश्वर ने ही ऐसा निश्चय किया है।' इसीको नियति कहा जाता है। कौरवों की मौत आगई थी, यह विचार व्यास ने महाभारत में अनेक स्थानों पर प्रतिपादित किया है और उसीको यहाँ पुनः काव्यरूप में उपस्थित किया है।

मैं आशा करता हूँ कि इतना उपोद्घात इस अध्याय को समझने के लिए उपयोगी होगा।

एकादश अध्याय

जिस प्रकार गाय अपने प्रिय बछड़े के लिए पाना छोड़ती है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय अर्जुन पर ज्ञान, कर्म, योग तथा भक्ति की धार छोड़कर गुरु-कृपा रूपी दुग्ध से उसे तृप्त कर दिया। आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी यह सर्वोत्तम ज्ञान सुनकर अर्जुन को उत्पन्न हुआ मोह और संशय दूर होगया। किन्तु जिस प्रकार शिल्पकार पहले मूर्ति बनवानेवाले की इच्छाओं को समान्यतया समझ लेता है और फिर उसपर अधिक चिन्तनकर उसका पूरा-पूरा चित्र अपने कल्पनाचक्षु के सामने खड़ा करने का प्रयत्न करता है, और उसके बाद मानों उसको देख-देखकर मूर्ति घड़ता हो इस प्रकार टांकी मारता हो, उसी तरह अर्जुन ने अध्यात्म-

श्लोक १–४

विद्या का बुद्धिग्राह्य ज्ञान प्राप्त कर लिया और उसके बाद उसपर अधिक चिन्तन कर अपने कल्पनाचक्षु के समक्ष उसका चित्र पूर्णतया उत्पन्न करने का प्रयत्न करने लगा। अत्यन्त नम्रता एवं गद्गद् कण्ठ से वह बोला:—

"कमलपत्राक्ष, मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति तथा प्रलय की विधि तथा परमात्मा की सदैव एकरूप रहनेवाली सत्ता और उसकी महिमा विस्तारपूर्वक सुनी तो अवश्य है। किन्तु इस प्रकार सुनने से इसकी कुछ कल्पना हो नहीं सकती कि यह सब किस प्रकार होता होगा और परमात्मा में सब भाव और भूत किस प्रकार वास करते होंगे? बिल्ली भी परमात्मा का स्वरूप है और चूहा भी, इनमें से एक दूसरे को मारे, इससे एक ओर बिल्ली को शिकार मिलने का आनन्द होता है और दूसरी ओर चूहे को प्राण जाने का भय और शोक होता है; इस प्रकार विश्व के परस्परविरोधी बनकर रहनेवाले भूत, कर्म और भाव एक ही परमात्मा में एक ही समय किस प्रकार निवास कर रहते होंगे इसकी कुछ कल्पना नहीं होती।

"फिर, गरुड़ध्वज, एक ही सर्वान्तर्यामी परमात्मा दुर्योधन तथा उसी प्रकार अर्जुन के रूप में विचरते होने पर भी दुर्योधन के भावों तथा शक्ति का अर्जुन को ज्ञान न हो और अर्जुन के भावों तथा शक्ति का दुर्योधन को ज्ञान न हो, तथा प्रत्येक अपने मन में अपनेको एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर और अजेय मानता फिरे, यह किस तरह होता है?

"योगेश्वर, आपने ईश्वर विषयक जो तात्त्विक ज्ञान-विज्ञान समझाया उससे बुद्धि में तो यह बात दृढ़ता से जम जाती है कि यह सब ऐसा ही है, किन्तु मन में इसकी कोई कल्पना नहीं बैठती। इस-लिए मैं इस प्रकार विश्व-दर्शन करना चाहता हूँ, जिससे कि विश्वरूप

परमात्मा का स्पष्ट चित्र उत्पन्न हो सके। यदि यह सम्भव हो, तो कृपा कर वह मुझे बताइए ॥ ॥१-४॥

अर्जुन की यह प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण बोलेः—

"अर्जुन, तेरी कठिनाई और इच्छा ठीक है। विश्वरूप परमात्मा के अनेक वर्ण और आकृति वाले सैकड़ों और सहस्रों स्वरूप नेत्रों के एक ही दृष्टिपात में समझे जा सकें, इस प्रकार तू उसका दर्शन करना चाहता है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पवन तथा देवताओं के दृश्य तथा अदृश्यरूप—सबको तू एकही दृष्टि से देखना चाहता है तो भले ही देख ले। किन्तु यह सब तू इन चर्म-चक्षुओं से देखना चाहता हो तो वह शक्य नहीं है। इसके लिए तुझे अपने कल्पना-चक्षु की सहायता लेनी पड़ेगी।

श्लोक ५—८

'परन्तप, संसार में जन्म लेकर मनुष्य ने जो कुछ देखा, सुना, सूंघा, चाखा अथवा अन्य प्रकार से अनुभव किया होता है, वह मूर्त्त हो अथवा अमूर्त्त, उसका मूर्तिमान संस्कार अपने इस मस्तिष्क में पड़ जाता है। निद्रा में जिस समय बाह्य इन्द्रियाँ सोई पड़ी होती हैं, उस समय ऐसे अनेक संस्कारों की स्मृतियाँ खड़ी होती हैं और स्वप्नरूप में दिखाई देती हैं। किन्तु ऐसे समस्त संस्कार एक ही समय जाग्रत नहीं होते और उनका सम्मिलित चित्र उपस्थित नहीं करते।

"धनंजय, योगीजन बाह्य इन्द्रियों का प्रत्याहार करके धारणा तथा प्राणायाम के अभ्यास द्वारा ऐसे अनेक संस्कारों को इच्छापूर्वक जाग्रत कर सकते हैं। उस समय वे मस्तक में पड़े हुए संस्कारों को इस प्रकार मूर्त्तिमान कर सकते हैं मानों वे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई दे सकते हैं।

"गुड़ाकेश, फिर, अनेक योगेश्वर योग न जाननेवाले सामान्य मनुष्य के चित्त को भी योगबल से अपने वश में करके उसे योगनिद्रा

में डाल देते हैं, और फिर अपनी अथवा उसकी इच्छानुसार उसके चित्त में रहे संस्कारों को जाग्रत कर उनका दर्शन कर सकते हैं।

"कौन्तेय, तुझे खुद को आज योगाभ्यास के लिए समय नहीं है। इसलिए मुझे अपनी योगविद्या के बल से तुझे तेरे चित्त में निवासित विश्व का चित्र दिखाना होगा।

"अच्छा, तब तू पूर्णतया मेरे अधीन होगा। जिस प्रकार घोड़े का बछेरा अपनी माँ के पीछे-पीछे स्वतन्त्रतापूर्वक भटकता है, इस प्रकार अपने चित्त को मेरा अनुसरण करने के लिए खुला छोड़ दे। इससे मैं तुझे अभी योगनिद्रा में डालकर तेरे प्रज्ञाचक्षु खोल सकूँगा। और देखकर तथा सुनकर विश्व का जो चित्र तेरे मस्तिष्क में बना हुआ है, वह तुझे प्रत्यक्ष रूप में दिखा सकूँगा।" ॥५-८॥

श्लोक ६-१४ इस प्रकार बोलते-बोलते ही योगीराज श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने वश में कर लिया और एक क्षण में ही उसे योगनिद्रा में सुला दिया। जिस प्रकार बिजली की आकस्मिक चमक से अथवा अकस्मात पड़े हुए बर्फ जैसे ठण्डे पानी से मनुष्य चौंक जाता है, उस प्रकार अर्जुन के शरीर में पहला आकस्मिक कम्प हुआ। मानों उसका शरीर एकदम अस्थिर होगया और उसका श्वासोच्छ्वास क्षण भर के लिए तेज चलने लगा। किन्तु थोड़ी देर के बाद वह क्रिया मन्द गति से किन्तु नियमित रूप से होने लगी। और वह इस प्रकार अनुभव करने लगा मानों रंग-भूमि पर जल्दी-जल्दी खेला जाता हुआ कोई अद्भुत नाटक अथवा द्रुतवेग से फिरता हुआ कोई चित्रपट देखता हो।

प्रथम तो, गुरुभक्त अर्जुन को प्राणप्रिय और पूज्य गुरुरूप परमात्मा श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ-न हुआ कि वहाँ उस मूर्ति में द्रुतवेग से सहस्रों

प्रकार के परिवर्तन होते दिखाई देने लगे। मूल भूमिका में श्रीकृष्ण की ही मूर्ति और स्मृति स्थिर रही और वह इस प्रकार देखने लगा मानों श्रीकृष्ण अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक रूप बदलते और अपनेमें से निर्माण करते हों, अपनेमें धारण कर रखते हों अथवा अप में लीन करते हों एवं समस्त सृष्टि को अपने शरीर के एकाध भाग में ही रक्खे हुए हों। पहली बार तो उसे यह दिखाई दिया मानों पुराणों में वर्णित सौम्य तथा आह्लादजनक विष्णु की मूर्ति में श्री-कृष्ण परिवर्तित होते हों। किन्तु, उसके पश्चात् मानों सहस्रों मस्तिष्क, सहस्रों हाथ, सहस्रों पाँव, सहस्रों नेत्र, कान आदि अवयव वाले, सहस्रों सूर्य का एक संयुक्त प्रकाश हो ऐसे प्रकाशमान, पृथ्वी से आकाश तक व्याप्त विराट मूर्ति में परिणत होते हुए प्रतीत हुए। इस राक्षसी आकारवाली मूर्त्ति थोड़ी देर तक तो उसे सर्वथा आश्चर्यजनक किन्तु सुन्दर भासित हुई। किन्तु पीछे तो वह ऐसी विकराल एवं भयङ्कर प्रतीत होने लगी कि खाण्डववन को जलानेवाला तथा महादेव के साथ युद्ध करनेवाला शूर-शिरोमणि अर्जुन तक भयग्रस्त होगया और स्वयं कहाँ है, किसके पास है, किसलिए खड़ा है, यह दर्शन किसका है, किस प्रकार हुआ है, यह सब कुछ भूल गया और त्रस्त होगया।

इस दर्शन में उसका भक्तिभाव अत्यन्त जाग्रत हो उठे, इसमें तो कहना ही क्या? वह बारम्बार प्रणाम करता हुआ दर्शन में दिखाई देती हुई मूर्त्ति का वर्णन और स्तवन करने लगा। और जिन जिन भावों को अनुभव करता गया उन-उनको प्रकट करने लगा। ॥९–१४॥

अर्जुन द्वारा किया गया वर्णन और स्तवन

श्लोक १५–३१

"अहो हो देव, यह आपका कैसा विशाल और अद्भुत स्वरूप दिखाई देता है! मुझे ऐसा दर्शन होरहा है मानों सर्वदेव, पञ्चमहाभूतों के संघ, अखिल सृष्टि के आदिपिता ब्रह्मा, सब ऋषि तथा रेंगकर चलनेवाले जीवों

तक सब स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतन सृष्टि आपमें ही आकर बसी हुई हो! ॥१५॥

"किन्तु, ओह, विश्वेश्वर, इतने ही में यह क्या होगया? अब तो आप ऐसे दिखाई देते हो, मानों आपके सहस्रों हाथ, पाँव, उदर, मुख नेत्र एवम् सहस्रों रूप फूट निकले हों! ओह, यह कुछ भी नहीं जाना जाता कि आपका मध्य भाग कौन सा है, आदि भाग कौनसा है और अन्त भाग कौन सा है? ऐसा प्रतीत होता है मानों आपका विश्व-रूप यही है। ॥१६॥

"हां, अब आपका मुकुट, गदा, और चक्र मैं देख सकता हूँ। किन्तु अब तो मेरी आँखें चकाचौंध हो रही हैं! ओह, आपके शरीर में से उग्रतेज की ज्वालायें किस प्रकार निकल रही हैं! मानो एक दम अपार अग्नि भड़क उठी हो, अथवा ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न का सूर्य ठीक आँख के निकट आकर खड़ा होगया हो, इस प्रकार सब दिशाओं में आप तेज से दीप्त दिखाई देते हैं और आपके अवयव अब ज़रा-ज़रा ही पहचाने जा सकते हैं। ॥१७॥

"मुझे यह निश्चय होता है कि ज्ञानी के जानने योग्य परमअक्षर ब्रह्म, इस सृष्टि का अन्तिम आधार अविनाशी देव, सब पदार्थों के धर्म का अविचल रक्षक जो सनातन पुरुष कहलाता है, वह आप ही हैं। आपमें ही सब कुछ रहा है, इसलिए आपमें से ही सब कुछ प्रकटित होता है, इसमें कुछ भी शङ्का नहीं है। ॥१८॥

"अहो! आदि, मध्य और अन्तरहित, अनन्त शक्तिवाले देव! आप के बाहुओं की गिनती हो सकना सम्भव नहीं है। ये सूर्य और चन्द्र आपकी आँखों की पुतलियों के समान प्रतीत होते हैं। आपका मुख, उस-में से बाहर निकलती हुई अग्नि-सम लाल प्रकाश वाली जिह्वा के कारण

प्रदीप्त अग्नि के समान प्रतीत होता है और ऐसा मालूम होता है मानों आपके तेज से सारा जगत् तप्त होकर पिघल जायगा। ॥१६॥

"हे महापुरुष! पृथ्वी से आकाश तक चारों दिशाओं को भर देने वाला आपका शरीर देखकर तीनों लोक थर्राते हुए दिखाई देते हैं ॥२०॥

"एक ओर से देवों के गण आपमें लीन होते हुए प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर से अनेक भयभीत होकर हाथ जोड़ते हुए आपका स्तवन करते हैं। तीसरी ओर महर्षि तथा सिद्धजन आपकी महिमा के स्तोत्र पढ़ते हैं। चौथी ओर तीस करोड़ देवता, सिद्ध, साधक, गन्धर्व, यक्ष, पितर और दूसरे जो कुछ भी मनुष्य से ऊपर की योनि के सत्त्व सुनने में आते हैं वे सब आश्चर्यचकित होकर आपको देखते हैं। ॥२१-२२॥

"आह! अब तो आपका मुख अधिक डरावना बनता जाता है। आपके अनेक मुख, नेत्र, हाथ, पाँव, जाँघ तथा पेट के सिवाय आपकी विकराल डाढ़ें देखकर सब योग और स्वयं मैं भी व्याकुल हुआ जाता हूँ! ॥२३॥

"ओ. भगवान्! आप कौन हैं? ओह! आपका प्रलयकाल की अग्निके समान और विकराल डाढ़ोंवाला मुख देखकर मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता। हे देव, प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ! मुझपर रोप न करो। मेरी भूल हुई हो तो क्षमा करो! मुझे डर आता है। ॥२५॥

"अरे, मैं यह क्या देख रहा हूँ? ये सब राजा, भीष्म, द्रोण, कर्ण सहित सब कौरव, हमारे भी सब योद्धा आपके इन भयानक और धधकते हुए जबड़ों के समुद्र में गिरती हुई वेगवान नदियों के समान अथवा अग्नि में गिरते हुए पतंगों की तरह कितने वेग से गिर रहे हैं! और, हे पिता, आपकी डाढ़ों के नीचे उनका कैसा चूर्ण हुआ जा रहा है! अरे, उधर उस मुँह में किसके सिर पिसते हुए दिखाई देते हैं? ॥२६-२६॥

"अरे, अब तो अपनी ज्वालामयी जिह्वाओं से आप सब लोगों को खींच-खींचकर खाते हुए प्रतीत होते हैं। और ऐसा प्रतीत होता है मानों आपके ताप से सारा संसार अभी जलकर राख होजायगा।

"हे देवश्रेष्ठ, आप प्रसन्न हों, प्रसन्न हों! हे विष्णु! आपके ऐसी उग्र शक्ति प्रकटानेवाले स्वरूप का नाम क्या है? हे आदिपुरुष! मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस रूप में आप किस नाम से पहचाने जाते हैं? मैं यह नहीं समझ पाता कि आपकी यह किस प्रकार की प्रवृत्ति और किस प्रकार की शक्ति है। कृपा कर मुझे अपने इस स्वरूप का रहस्य समझाइए।" ॥ ३१ ॥

अर्जुन की ऐसी दशा देखकर मेघ-गर्जन के समान गम्भीर और घोर किन्तु साहस प्रदान करनेवाले स्वर से श्रीकृष्ण अर्जुन

श्लोक ३२-३४ को इस दिव्य पुरुष का परिचय कराते हुए बोले:—

"अर्जुन, तू भयभीत न हो। यह रूप देखकर घबरा न उठ। मैं पहले जो बात तुझसे कहता आया हूँ, वही स्थूल रूप से तू इस रूप में देखता है। यह देव दूसरा कुछ नहीं प्रत्युत् लोक का क्षय करने वाला काल ही है। पार्थ, इन दोनों ओर के सैनिकों का काल पूरा हो चुका है, इनकी मृत्यु ही इनके सिर पर नाच रही है और सबको इस भीषण युद्ध में प्रेरित कर रही है। यदि इस युद्ध में से तू खिसक भी जायगा, तो भी उनका निकट आया हुआ काल उन्हें जीवित रहने न देगा। ॥३२॥

"सव्यसाची, इनमें से बहुतों का मरण तेरे हाथों से होनेवाला है, इससे न तो तू व्याकुल हो, न उद्वेग कर। तू यह समझ ले कि इनके मरने के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता है, वह तू है। इसलिए उठ खड़ा हो, और अनायास ही मिलनेवाली कीर्ति तथा राज्य-सम्पत्ति स्वीकार कर उनका भोग करले। तू यह समझ कि काल ने उन्हें पहले से ही मार दिया है और तू इस मृत्यु की अन्तिम क्रिया मात्र करता है। ॥३३॥

"कौन्तेय, मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि इस युद्ध में तेरी विजय होगी। भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण आदि सब पहले से ही मारे जा चुके हैं, यह मानकर तू अपना कर्त्तव्य पालन कर।" ॥ ३४ ॥

श्लोक ३५

'केशव के यह वचन सुनकर अर्जुन के लिए अब श्रीकृष्ण के प्रति मनुष्य-भाव से देखना शक्य नहीं रहा। उसे अब कृष्ण की महिमा नवीन प्रकार से दिखाई दी। निज को विष्णु का जो सौम्य तथा भयङ्कर रूप में दर्शन हुआ उसकी भूमिका में कृष्ण ही हैं, यह प्रत्यक्षवत् दर्शन होने के कारण अब उसके लिए श्रीकृष्ण का ईश्वर-भाव से स्तवन करते हुए रुकना शक्य न था। शिष्य-भाव से कृष्ण के पास से अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करने पर भी, पुराने परिचय के कारण तथा श्रीकृष्ण यही पसन्द करते हैं यह समझ-कर, अर्जुन अभीतक उनके साथ बाह्योपचर रहित मित्र-भाव से बर्तता था। किन्तु अब एक बार तो उससे अपनी सब भक्ति प्रदर्शित किये बिना न रहा जा सका। इसलिए, दोनों हाथ जोड़कर, कम्पायमान होता हुआ बारम्बार नमस्कार करता हुआ एवं डरते-डरते प्रणाम करता हुआ, गद्गद् कण्ठ से वह पुनः स्तवन करने लगा :— ॥ ३५ ॥

श्लोक ३६–४१

"हे हृषीकेश, संसार के बालक से लेकर वृद्ध तक ज्ञानी-अज्ञानी सब आपका जयजयकार करते हैं और आपकी कीर्त्ति फैलाने में जो आनन्द मानते हैं और आपके प्रति अपनी भक्ति रखते हैं, आज मैं उस की उपयुक्तता को समझ सकता हूँ। राक्षस आपसे थर्राते हैं और भागते फिरते हैं और सिद्ध पुरुष आपको नमस्कार करते हैं, इसमें भी मुझे अब कुछ आश्चर्य प्रतीत नहीं होता। कारण कि मैं अभी देख चुका हूँ कि आप ही आदि पुरुष हैं। संसार ब्रह्मा को सृष्टि का रचियता मानता है, किन्तु यह ब्रह्मा भी आपसे उत्पन्न होने के कारण अर्वाचीन ही हैं। आप तो

अनल, सब देवों के देव तथा अखिल विश्व में व्याप्त होकर बसे हुए हैं। संसार का जो अक्षर तत्त्व तथा पदार्थों का सनातन एवं नाशन धर्म है, और इन दोनों धर्मों से परे जो मूल वस्तु है, वही आप हैं। ॥३६-३७॥

"यह विश्व आपके ही आधार पर टिका हुआ है, संसार को आप ही सम्पूर्ण रूप से जानते हैं, और ज्ञानसे जो जानी जा सकने योग्य वस्तु है, वह आपका ही स्वरूप है। जो प्राप्त करने योग्य पद है, वह आपके साथ एकरूप हो जाना ही है।

"सृष्टि के जो अनेक देवी-देवता भिन्न-भिन्न रूप में, भिन्न-भिन्न शक्ति-सम्पन्न दिखाई देते हैं, वे वस्तुतः आपके ही भिन्न-भिन्न आविर्भाव हैं। आपके कारण ही इन सबका अस्तित्व और महत्त्व है। आपको छोड़कर इनका कोई स्थान नहीं है।

"इससे, हे सर्व रूप, आपको मेरा सहस्रों बार प्रणाम है। गुरु-देव, मैं आपको आगे, पीछे और सब ओर से नमस्कार करता हूँ। आप-का रोम-रोम सनातन तत्त्व ही होने के कारण, आपका अणु-अणु मेरे लिए पूज्य और वन्दनीय है।

"ओह, मैं कैसा बुद्धिहीन हूँ कि बचपन से मैं आपके साथ रहा, खेला, काम किया, फिर भी आपके अनन्त वीर्य को और अपार शक्ति को पहचान ही न सका! आप ही इस सर्व विश्व को धारण कर रहने-वाले होने के कारण आप ही सर्वरूप हैं, यह न जानकर मैंने आपको केवल अपने साथी के समान समझा। आह, मुझ मन्दमति ने कैसी भूल की! कितनी बार मैंने आपसे तू-तड़ाक की! कितनी बार आपकी नसीहतों की अवहेलना की, आपका मज़ाक भी उड़ाया आपको सर्व गुरुजनों से गुरुतर समझकर आदर से बर्तने के बदले आपके आसन पर चढ़ बैठा, आपको अपना पैर लगने दिया, एक थाली में भोजन किया, और मानों आप कोई सामान्य मित्र हों इस प्रकार बर्ताव किया!

" भगवन्, आपकी महिमा न जानने के कारण ही यह सब कुछ हुआ है। मेरे इस अविनय को क्षमा कीजिए।

"कृपानाथ! आज आपका बड़प्पन मेरी समझ में आया है। आप इस चराचर जगत् के पिता, त्रिलोक के पूज्य एवं श्रेष्ठ गुरु तथा सबके वन्दनीय पुरुष किस कारण से हुए हैं, यह मैं आज समझ सकता हूँ। संसार में आपकी समकक्षता में आसकने जैसा ही कोई दूसरा नहीं है, तब आपसे अधिक तो होही कहाँ से सकता है? ३६–४३

"इसलिए, देवेश! मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ और आपकी कृपादृष्टि की याचना करता हूँ। कृपालु, जिस प्रकार पिता पुत्र को तथा मित्र मित्र को, अपने प्रिय होने के कारण, उनके हितार्थ निभा लेता है, उसी प्रकार आप मुझे निभा लें और मेरी त्रुटियों की ओर न देखें, नम्रतापूर्वक यही वर मैं आपसे माँगता हूँ। ॥४४॥

"और गुरुदेव! अब आप अपना यह भयङ्कर रूप समेट लें। मुझसे इस कालस्वरूप का दर्शन सहन नहीं होता। जगन्निवास, मुझे तो आपका पहला चतुर्भुज विष्णु-स्वरूप ही आनन्दकारी प्रतीत होता है। उसी स्वरूप को पुनः दिखादें, उसीमें घड़ी भर मेरी आँखों को ठहरने दें और उसका मधुर अमृत पीने दें। ॥४५–४६॥

अर्जुन की ऐसी भय, दीनता तथा नम्रतायुक्त स्तुति सुनकर शिष्य-वत्सल श्रीकृष्ण ने उसे इस प्रकार आश्वासन के शब्द

श्लोक ४७–४६ कहे:—

"अर्जुन, तुझे भयभीत करने के लिए अथवा रोष से मैंने तुझे यह विश्वरूप नहीं दिखाया है। यह अत्यन्त तेजोमय, विश्वव्यापी, अनन्त और आदि रूप, जो इससे पहले संसार के किसी प्राणी ने नहीं देखा, मैंने आज अपने योगबल से अत्यन्त प्रेम-पूर्वक तुझे दिखाया है। प्रिय सखा, वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, कर्म

अथवा उग्र तप द्वारा भी मनुष्यलोक में तेरे सिवा किसी दूसरे को ऐसे विश्व रूप का दर्शन करना शक्य नहीं है। क्योंकि ऐसा दर्शन करना मेरे योगबल तथा अनुग्रह का और तेरी भक्ति और श्रद्धा का प्रताप है, सामान्य पुरुशार्थ का नहीं। इसलिए तू ऐसे भयङ्कर रूप से भयभीत होकर पागल न हो। ले, फिर यह मेरा मूल रूप देख और अपना भय छोड़कर स्वस्थ तथा प्रसन्न हो॥ ॥४७-४६॥

इस प्रकार बोलने के साथ ही महात्मा वासुदेव ने अपनी योगमाया को पीछे खींच लिया और अर्जुन को थपकाकर जाग्रत कर दिया। फिर अपने मानव रूप से, उसका डर मिट जाने तक, उसे अपनी छाती से लगाकर तथा धीरज बँधा कर उसकी सान्त्वना की। ॥५०॥

श्लोक ५०-५१

अर्जुन जब पूर्णतया स्वस्थ होगया और अपनी मूल दशा में आगया, तब बोला:—

"अहा, जनर्दन, अब मुझे सुख प्रतीत होता है। ओह ! विश्वरूप का दर्शन करने की मैंने इच्छा अवश्य रक्खी थी; किन्तु वह स्वरूप कितना भयानक है ! मेरे क्षत्रियपन की आज परीक्षा होगई। केशव, मुझे तो आपका यह प्रत्यक्ष मानवी श्याम स्वरूप जितना आनन्ददायक लगता है, उतना वह अद्भुत स्वरूप रुचिकर प्रतीत नहीं होता। इसलिए मेरे सामने तो आप सदैव ऐसे के ऐसे ही रहें, यही मैं याचना करता हूँ।" ॥५१॥

'अर्जुन के ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"पार्थ, तूने भी ठीक किया! अरे यह रूप कोई रास्ते में पड़ा है, जो बार-बार देखने को मिले। देवताओं को भी दुर्लभ यह रूप तूही देख सका है, यह जानकर अपना अहोभाग्य समझने के बदले उलटे तू यह कहता है कि तुझे अब उस रूप के देखने की इच्छा नहीं रही ! ऐ गुडाकेश, इस

श्लोक ५२—५५

रूप को देखने के लिए देवता तरसते फिरते हैं, ऋषि-मुनि वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, तप आदि का आचरण करते हैं, और फिर भी उसे देख नहीं पाते। ॥५२-५३॥

"अर्जुन, इस स्वरूप को तत्त्व से जानने, तत्त्व से देखने और तत्त्व से इसमें प्रवेश करने का एक ही मार्ग है। वह है अनन्य भक्ति का। कौन्तेय, शुष्क वैराग्ययुक्त योग के अभ्यास से भी इस रूप के देखने का योगबल नहीं मिलता। कारण कि, योगाभ्यासी के वैराग्य में और इस स्वरूप को देखने के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता है, उन दोनों में भेद है। परन्तप, इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक वैराग्य का नाम है अनन्य भक्ति। परमेश्वर के सिवा अन्य किसी वस्तु में राग न हो, प्रत्युत् परमात्मा के प्रति असीम अनुराग हो, इसीका नाम सच्चा वैराग्य और सच्ची भक्ति है। ऐसी भक्ति के बिना अपने योगाभ्यास से अथवा दूसरे के योगबल से ऐसी योग समाधि प्राप्त नहीं हो सकती, तब फिर विश्वदर्शन तो हो ही कहाँ से? ॥५४॥

"इसलिए अर्जुन, यह जान कि परमात्मा-प्रीत्यर्थ ही जो सब काम करता है, जो उसीके अधीन होकर रहता, इतर सर्वत्र से आसक्ति छोड़ देता है, सब प्राणियों के प्रति अहिंसावृत्ति रखता है, और जो परमात्मा का अनन्य भक्त है, वही परमात्मा को पाता है।" ॥५५॥

बारहवाँ अध्याय

भक्तितत्त्व

अर्जुन ने अभीतक जो कुछ सुना और अनुभव किया उसपर वह अब शान्तिपूर्वक विचार करने और हृषीकेश के उपदेश को पचाने का प्रयत्न करने लगा। इस प्रकार विचार करते हुए उसे एक स्पष्टीकरण कर लेने की इच्छा हुई। इससे कृष्णचन्द्र की आज्ञा लेकर वह बोलाः —

श्लोक १

"केशव, आपने अभीतक मुझे जो कुछ बोध दिया है, मैं उसका सार आपके सम्मुख निवेदन करता हूँ, वह सुनिए। इससे यदि आपको समझने में मेरी कुछ भूल हुई होगी, तो उसका मुझे पता लग जायगा और आगे मैं जो प्रश्न पूछना चाहता हूँ उसका प्रयोजन भी आपके ध्यान में आजायगा।

"माधव, आपने पहले यह कहा कि सांसारिक कर्मों के त्याग का नाम संन्यास नहीं है, वरन् सङ्कल्प का तथा कर्म-फल के त्याग का नाम संन्यास है।

"फिर, आपने कहा कि ऐसा संकल्प-संन्यास सिद्ध करना आवश्यक है और इसके लिए साधक जुदे जुदे कर्मयोग का अथवा, लाक्षणिक अर्थ में, भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञों का आचरण करते हैं।

"ऐसे कितने ही साधक सांसारिक कर्मों द्वारा ही ऐसे कर्मयोग अथवा यज्ञ का आचरण करते हैं और कितने ही श्रेयार्थी सांसारिक कर्म छोड़कर अन्य प्रकार के कर्मों द्वारा उसका आचरण करते हैं।

"वासुदेव, इस विषय में आपने यह मत भी प्रकट किया कि इन सब प्रकार के साधकों का ध्येय एक ही और शुभ होता है; और वह है मोक्ष-प्राप्ति का। जो सांसारिक कर्म छोड़कर इतर प्रकार का योगाचरण

करते हैं, वे सामान्यतया, सांख्यमार्गी, संन्यासी तथा साधु आदि नामों से जाने अवश्य जाते हैं, किन्तु इस प्रकार के जीवन में सांख्य अथवा ज्ञान मार्ग का, संन्यास का अथवा साधुपन का हार्द नहीं होता।

"फिर आपने यह कहा कि सांसारिक कर्मों के त्याग का मार्ग ग्रहण करना अथवा कर्मों द्वारा ही योग सिद्ध करना, यह प्रत्येक की प्रकृति पर अवलम्बित रहता है। इसलिए प्रत्येक को अपनी प्रकृति से निश्चित स्वधर्म का ही निष्ठापूर्वक आचरण कर उसके द्वारा ही साधना करनी चाहिये।

"हृषीकेश, यदि मैं ठीक समझा हूँ, तो आपका यह मत प्रतीत होता है कि सांसारिक कर्मों का त्याग न करके चित-शुद्धि के लिए उन्हीं का ज्ञानपूर्वक, कुशलतापूर्वक, समतापूर्वक, भक्तिपूर्वक और यज्ञ की भावना से आचरण करना चाहिए। क्योंकि सांसारिक कर्म तो सहस्रों और लाखों का जीवनक्रम ही हैं। इसलिए उनके द्वारा ही मोक्ष का मार्ग खोजने में प्रजा का कल्याण है।

"यदुनाथ, इसके बाद आपने कहा कि साधक सांसारिक कर्मों का त्याग करनेवाला हो, अथवा त्याग न करनेवाला हो, दोनों की ज्ञान में निष्ठा होनी चाहिए तथा समबुद्धि प्राप्त होनी चाहिए।

"इसके लिए आपने मुझे परमात्मा का ज्ञान तथा विज्ञान विस्तार-पूर्वक समझाया तथा समबुद्धियोग का आदर्श बतलाया।

"गोविन्द, मैं यह समझा हूँ कि परमात्मा के ज्ञान-विज्ञान के विषय में भी आपने मुझे दो दृष्टियाँ बतलाई हैं और योग की भी दो पद्धतियाँ कही हैं।

"मधुसूदन, आत्मज्ञान विषयक दो दृष्टियाँ जिस प्रकार मैं समझा हूँ, वह आपको बतलाता हूँ। एक दृष्टि तो आपने यह बताई कि आत्मा

सत्तामात्र, चैतन्यरूप, केवल साक्षी है। वह प्रकृति एवं प्रकृति की क्रियाओं से अलिप्त निरन्तर एकरूप रहनेवाला, सर्वनाशमान द्रव्यों के बीच अप्रकट अक्षर धर्मवाला है। वह न कुछ करता है न कुछ करवाता है, प्रत्युत उसकी सत्तामात्र से प्रकृति अपने स्वाभावानुसार आचरण करती है, और जब तक चित्त की आत्मा के समान ही शुद्धि नहीं हो जाती, तब तक इस प्रकति की प्रवृत्तियों का अन्त नहीं आता। श्रेयार्थी को, चित्त की शुद्धि के लिये, ऐसे अव्यक्त, अक्षर और अलिप्त आत्मा का अवलम्बन कर, उसका अनुसन्धान रखते हुए कर्माचरण करना चाहिये। ज्ञान की यह एक दृष्टि मैं समझा हूँ।"

"नरनाथ, ज्ञान की दूसरी दृष्टि में आपने यह कहा है कि परमात्मा ही विश्वरूप बना हुआ है। हमें सृष्टि में जड़-चेतन द्रव्यों का जो भेद दिखाई देता है और सांख्य आदि मतवाले तो भिन्न २ तत्त्वों की गणना करते हैं वे परमात्मा की ही अपर और पर इन दो प्रकृति—अथवा स्वभाव सिद्ध शक्ति में से उद्भव होती हैं। वस्तुत: एक ब्रह्म के सिवा अन्य छोटे छोटे तत्त्व हैं ही नहीं। इसलिये यह मानकर कि वासुदेव ही सब कुछ है, समग्रविश्व के विषय में परमात्मबुद्धि रूप समदृष्टि रख उसकी विभूतियों का चिन्तन एवं उपासना करनी चाहिये।"

"अब समबुद्धि योग की जो दो पद्धतियाँ मैं समझा हूँ, वह कहता हूँ—

"गरुड़ध्वज, उनमें एक तो है योगियों द्वारा अनुसरित ध्यान योग की। अर्थात्, अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा चित्त की एकाग्रता, समाधि तथा निरोध सिद्ध कर आत्मा का साक्षीमात्र स्वरूप पहचानने और उसके द्वारा आत्मोपम्य सिद्ध करने की रीति आपने बतलाई है।

"दूसरी, गोकुलेश, आपने भक्ति की रीति कही। आपने बतलाया है कि अनन्यभाव से अत्यन्त अनुराग से, परमात्मा के सिवा अन्य

कुछ दिखाई न दे तथा उसी के लिए सर्वजीवन और जीवन के के सब कर्म हों, और उसके सिवा अन्यत्र कहीं भी आसक्ति न रहे, ऐसी पराभक्ति भी समबुद्धि होने तथा परमपद को पहुँचने का मार्ग है ।

"योगेश्वर, अब मेरे मन में, इस विषय में कुछ स्पष्टीकरण करवा लेने की इच्छा है, वह करके मुझे अनुगृहीत कीजिये ।

"यदुनन्दन, इसमें पहिला प्रश्न यह है कि आपने ज्ञान-की जो दृष्टियाँ कही हैं, उनमें से कौन सी दृष्टि का उपासक अधिक उत्तम योगवेत्ता गिना जायगा ? जो अक्षर, अव्यक्त और अलिप्त ब्रह्म का अवलम्बन लेता है, वह अथवा जो यह समझ कर कि सर्व ब्रह्मरूप है, उसकी श्रेष्ठ विभूति का चिन्तन और उपासना करता है, वह ?"

श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन ! तूने अच्छा प्रश्न पूछा । इस विषय में मेरा निश्चित मत सुन ।

श्लोक २—४

"धनंजय, जो दृढ़तापूर्वक मन में यह गाँठ बाँधते हैं कि सर्व जगत् के रूप में एक परमात्मा ही है, तथा इस प्रकार इस ज्ञान में निरन्तर युक्त रहते हैं कि उत्तम धारणा का एक क्षण केलिए भी विस्मरण नहीं होता, तथा उस परमात्मा में ही श्रद्धा से चित्त को पिरोये रखते हैं, उन्हें मैं योगियों में श्रेष्ठ मानता हूँ । ॥२॥

"किन्तु, गाण्डीवधर, इसके साथ यह भी सच है कि जो 'नेति' (= यह नहीं) इस के सिवाय अन्य किसी दूसरी रीति से पहचाना जा सके ऐसे अक्षर, अव्यक्त, सर्व व्यापी, अचिन्त्य, एक रूप, अचल तथा सनातन ब्रह्म का निश्चय कर, सदैव उसका अनुसन्धान रखते हैं, तथा उस पद के साथ एक रूप होने के लिए सब इन्द्रियों का नियमन करते हैं, सर्वत्र

समबुद्धि रखते हैं और प्राणियों के हित के लिए प्रयत्न करते हैं,—वे भी परमपद के ही अधिकारी होते हैं"। ॥३-४॥

"इस पर अर्जुन ने पूछा—"माधव, यदि दोनों एक समान ही परम पद के अधिकारी होते हैं, तब पहली प्रकार के भक्त किस प्रकार से विशिष्ट हैं?'

श्लोक ५—८

श्रीकृष्ण बोले, "धनञ्जय, बात यह है कि देहधारी के लिए अव्यक्त ब्रह्म की उपासना लोहे के चने चबाने के समान अत्यन्त कठिन है। सामान्यतया, मनुष्य ही क्यों, प्राणि मात्र, राग, प्रीति तथा भक्ति को समझ सकता है; राग का—प्रीति जोड़ने का—मार्ग उसके लिए अपरिचित नहीं है। यह सम्भव है कि उसकी भक्ति अशुद्ध प्रकार की तथा अशुद्ध स्थान पर हो जाय। विवेक तथा विचार से और श्रद्धा के उत्कर्ष से वह शुद्ध प्रकार की और शुद्ध स्थान पर हो सकती है। अशुद्ध प्रकार के और अशुद्ध स्थान पर राग के कम होने का नाम ही वैराग्य है, और शुद्ध प्रकार का तथा शुद्ध स्थान में राग बढ़ने का ही नाम भक्ति है। इससे, राग को तोड़ तोड़ कर परम वैराग्य सिद्ध करने के प्रयत्न का तथा राग को शुद्ध कर भक्ति सिद्ध करने के प्रयत्न का अन्त में तो एक ही परिणाम होता है। किन्तु चित्त के अनुरागी स्वभाव को शुद्ध स्थान प्राप्त कराने के बदले, जहाँ राग दिखाई देता हो वहाँ से उसे हटाने का मार्ग अधिक कठोर तथा शुष्क है।

'उसी प्रकार, गुडाकेश, कुण्डल कड़े, पहुँची, अँगूठी आदि के रूप में एक सोना ही है यह कहना अथवा इन रूपों से सोना भिन्न और अलग है और उपरोक्त एक भी रूप का लेप सोने को नहीं होता यह कहना, परिणाम में तो एक ही अर्थ रखता है। किन्तु सामान्य मनुष्य के समझने के लिये प्रथम रीति अधिक सुगम होती है। यह सम्भव है

कि ऐसे एकाध रूप की कल्पना किये बिना वह सोने का विचार ही न कर सके। किन्तु कौन्तेय, विवेक और विचार बढ़ने से तथा बाह्यरूप विषयक आसक्ति कम होने से उसकी कल्पना शुद्ध होजाती है। कड़ा सोना नहीं है, पहुँची सोना नहीं है, इस प्रकार 'नेति' 'नेति' रूप के वर्णन से सामान्य व्यक्तिके घबरा उठने की सम्भावना रहती है और सोने को देखते और पहिचानते होने पर भी वह न जाने सोना क्या और कैसा होता है, इस असमञ्जस में पड़ जा सकता है!

"पार्थ, इसी उपायसे तू अचिन्त्य तथा अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना तथा सर्व विश्व ब्रह्म रूप ही है इस उपासना के भेद समझ ले और यह विचार ले कि निषेधों द्वारा ब्रह्म की प्रतीति करना कितनी दुष्कर है।

"अर्जुन, इस अचिन्त्य ब्रह्म की उपासना में ध्यान अथवा भक्ति का आकाश नहीं है। इसमें चिंता के सात्विक भावों को सहज ही पोषण नहीं मिलता। इसमें बुद्धि को केवल घिस घिस कर तीव्र करनी पड़ती है, तथा साधक को विवेक, विचार, एवं अखण्ड तत्परता तथा सतत पुरुष प्रयत्न पर अवलम्बित रहना पड़ता है। उसका यह प्रयत्न यदि धीमा पड़ जाय तो वह शुष्क, दम्भी अथवा निराश बन जाता है। उससे कहीं भी साहस देने वाला आधार मिल नहीं सकता। अपनी साधना में वह कहीं भूल कर जाय तो वहीं उसकी हिम्मत टूट जाने की पूरी सम्भवना रहती है। इसलिए पाण्डुनन्दन इस ज्ञानमार्ग के नाम परिचित अव्यक्त की उपासना को ज्ञानियों ने बाहुबल से समुद्र को तरने के समान कठिन कहा है।

"अर्जुन, इसके बदले जो यह मानते हैं, कि जो कुछ है वह एक परमात्मा ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं, उससे कोई श्रेष्ठ है ही नहीं, उसके सिवा अन्य कोई पसन्द करने योग्य नहीं है, वही सब का कर्त्ता, हर्त्ता और भर्त्ता है और वही शरण लेने योग्य है; और

इसीलिए जो अनन्य भक्ति के कारण इष्टदेव द्वारा उसी का ध्यान और उपासना करते हैं, उसी को अपना नियन्ता समझ कर सर्व कर्मों का कर्त्तापन तथा नियन्तापन उसी का है यह मानकर उसी के अधीन होकर रहते हैं, तथा अपनी सब इच्छाओं एवं वासनाओं को छोड़कर, उसी की इच्छा पर अवलम्बित रहते हैं, मानो ऐसे भक्तों की चिन्ता परमात्मा स्वयं ही करता हो इस प्रकार उनका चित्त, खबर हुए बिना ही शुद्ध हो जाता है, और वे सहज ही मृत्यु-संसार सागर से पार होकर परमपद-को पा जाते हैं। ॥६-७॥

"अर्जुन, तू श्रद्धालु तथा भक्तिमान है। तेरा हृदय शुष्क नहीं है। अतः तू भक्ति मार्ग पर होजा। परमात्मा में ही अपने मन को पिरोदे। स्वबुद्धि का अभिमान छोड़कर उसी को अपना नियामक बनादे। इससे तेरी स्थिति उस में ही हो जायगी, इस में कुछ शङ्का नहीं है" ॥८॥

यह सुनकर अर्जुन बोला—"भक्तवत्सल, आप विश्वास दिलाते हैं, इससे मैं इतना मान लेता हूँ कि जैसा आप कहते हैं, भक्त होने की पात्रता मुझमें किसी दिन आवेगी अवश्य। किन्तु आज तो मुझे ऐसी पात्रता प्रतीत नहीं होती। यह बात नहीं कि मुझमें श्रद्धा और भक्ति न हो, किन्तु वह स्वबुद्धि के अभिमान को क्षीण कर डालने जितनी शुद्धि हो, यह मुझे भासित नहीं होता। इस स्थिति में मुझे क्या करना चाहिये?

श्लोक ९

इस पर श्री कृष्ण ने उत्तर दिया—"धनञ्जय, तुझे अनन्य भक्त होने के सम्बन्ध में आत्मविश्वास न होता हो तो मैंने तुझे चित्त के निरोध का जो अभ्यास योग बताया था, उस मार्ग से परमेश्वर को पहचानने की इच्छा कर।" ॥९॥

यह उत्तर सुन कर अर्जुन किञ्चित खेदयुक्त हँसी के साथ बोला—

श्लोक १० "प्रियवर, आप यह कुछ मुझे सरल रीति थोड़े ही वतला रहे हैं ? चंचल मन का निरोध कर अभ्यास योग सिद्ध करने का अब भाव अथवा शक्ति इस कुरुक्षेत्र में कहाँ से लाऊँ ?"

"इस पर मुरारि बोले—"कपिध्वज, यदि तू अभ्यास योग सिद्ध करने में भी असमर्थ हो तो मैं तुझे श्रेयःसिद्धि का एक दूसरा मार्ग बताता हूँ। परिणाम में यह भी तुझे इष्टध्येय पर ही पहुँचायेगा, किन्तु यह तुझे अधिक सुसाध्य प्रतीत होगा।

"तुझे अपने कर्मों में विवेक करना चाहिये। अपकर्म न किये जायं, यह एक मर्यादा तो है ही; किन्तु विहित कर्मों के भी तुझे दो भाग करने चाहिये—एक, आवश्यक कर्त्तव्य रूप प्राप्त होने वाले कर्म, तथा दूसरे विहित होते हुए भी कर्त्तव्य रूप न कहे जाने वाले कर्म देख, अर्जुन, यह युद्ध तुझपर अवश्य कर्त्तव्य रूप आपड़ा कर्म है; शरीर निर्वाहार्थ योग्य आहार वस्त्र तथा निद्रा लेना अवश्य कर्त्तव्य कहे जा सकते हैं। किन्तु मिष्ठान्न खाना, सुन्दर वस्त्र पहरना, विलास भोगना, इनमें अधर्म न होते हुए भी ये कर्त्तव्य प्राप्त नहीं कहे जा सकते हैं।

"परन्तप तुझे अवश्य कर्त्तव्य रूप माने जा सकें ऐसे कर्म ही करना और दूसरे कर्मों का त्याग करना चाहिये। साथ ही, आवश्यक कर्त्तव्य रूप कर्म भी ईश्वरार्पण बुद्धि से करने चाहिये। अर्थात्, तुझे इन कर्त्तव्यों के करने का अभिमान न करना चाहिये. इन कर्त्तव्यों के पालन करने का यश इनके करने की शक्ति देने वाले परमात्मा को देना तथा इसके द्वारा ईश्वर के अनुग्रह का पात्र हो और तेरी चित्त शुद्धि हो, इसके सिवा दूसरी कोई इच्छा न करनी चाहिये। इस प्रकार किये हुए कर्म

ईश्वर प्रीत्यार्थ हुए कहे जाते हैं और इस प्रकार कर्म करनेवाले को भी निःश्रेय सिद्धि प्राप्त होती है।" ॥१०॥

यह उत्तर सुनकर भी अर्जुन का उत्साह कुछ बढ़ा नहीं। वह बोला—

श्लोक ११

"यदुनाथ, आपने कहा उस प्रकार यदि यथावत हो सकता हो तब तो कहना ही क्या ? किन्तु वह हो नहीं सकता, इसका उपाय क्या है ? चित्त के राग-द्वेष, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करने में भूल डाले बिना रहते नहीं। जो आचरण करना अच्छा लगता हो वह कर्त्तव्य रूप ही है इस प्रकार मन अपने को मनवा देता है, और जिसमें राग न हो, उसके कर्त्तव्य रूप होते हुए भी वह ऐसा नहीं है, यह मनवा देता है। फिर जनार्दन ऐसा होता नहीं कि कर्त्तव्यरूप किये हुए कर्मों का भी अभिमान उत्पन्न न हो। बाहर से भले ही उसका गर्व प्रकट न करे अथवा आत्मप्रशंसा न करे, फिर भी मन में उसका अभिमान प्रकट हुए बिना रहता नहीं, और स्वयं उसका कर्त्ता है, इस बात का विस्मरण नहीं होता। इस स्थिति में ये कर्म ईश्वरार्पण हुए हैं, यह किस प्रकार कहा जासकता है ? इसलिए, इस मार्ग पर भी पैर रखने की शक्ति मैं नहीं देखता।"

इसका उत्तर देते हुए श्री कृष्ण जी बोले—'अर्जुन तेरा आत्म निरीक्षण ठीक है और स्वबुद्धि को धोका न देने की तेरी वृत्ति प्रशंसनीय है। फिर भी तू निरुत्साह हो, यह उचित नहीं है। तूने कहा ऐसा होता अवश्य है। किन्तु अपना श्रेय साधन की जिसे दृढ़ आकांक्षा हो जाती है वह, इस प्रकार भूलें करता हुआ भी, धीरे धीरे भूलों से निकल जाता है और ईश्वरार्पण बुद्धि को दृढ़ कर लेता है।

"फिर भी, मित्रवर, मैं तुझे श्रेयः प्राप्ति का एक दूसरा उपाय भी बतलाता हूँ। अपने कर्म तू स्वार्थ के लिये करता है अथवा ईश्वरार्थ करता है इसका निश्चय न कर सके तो कुछ हर्ज नहीं। तू

एक ही व्रत ग्रहण करले। किसी भी कर्म से तू चित शुद्धि के सिवा दूसरे फल की इच्छा न कर और कर्म के फल रूप जो कुछ लाभ प्राप्त हो उसका तू त्याग कर दे। तुझे इस प्रकार आचरण करना चाहिये मानो तू ने अपना शरीर, मन तथा वाणी ईश्वर को वेच दी हो। और जिस प्रकार दास की कमाई का उपयोग मालिक करता है, इस प्रकार अपने कर्मों के फलों का उपयोग खुद न कर वरन् परमात्मा को वेच दे। दूसरे शब्दों में, तुझे निःस्वार्थ बुद्धि से कर्म करने चाहिये। ये कर्म चाहे इसलिए किये हों कि इनमें तेरी निज की रुचि हैं अथवा कर्त्तव्य रूप होने के कारण किये हों, प्रयत्न पूर्वक इनके फल का त्याग करने से भी तुझें शान्ति प्राप्त होगी। अर्जुन, देख, इतना सिद्ध करने की तो तू आशा अवश्य ही रख। तेरे जैसे पराक्रमी के लिए कुछ भी अशक्य नहीं है।" ॥ ११॥

श्रीकृष्ण के पिछले स्पष्टीकरण से अर्जुन सन्तुष्ट हुआ प्रतीत हुआ। उसे ऐसा मालूम हुआ कि मधुसूदन ने ऐसा सरल मार्ग बताया है जो उससे किया जा सकता है। किन्तु श्रेयः साधन के लिये वासुदेव ने जो भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं, उनमें कौनसा घटिया और कौनसा बढ़िया है, यह जानने की उसे इच्छा हुई। इससे उसने श्रीकृष्ण से इस मार्ग का ऊंच-नीच का भ्रम वतलाने की प्रार्थना की।

श्लोक १२

किञ्चित हास्य प्रदर्शित करते हुए श्रीकृष्ण बोले—

"अर्जुन तू चतुर और बुद्धिमान प्रतीत अवश्य होता है, फिर भी भोलेपन से रहित नहीं है। कर्मफल त्याग का जो अंतिम उपाय मैंने तुझे वतलाया, उसका साधन तुझे सुगम प्रतीत हुआ और अन्य उपाय अधिकाधिक कठोर दिखाई दिये। किन्तु मैंने जो सब मार्ग वतलाये उन सब का अन्तिम साध्य तो कर्मफल त्याग करना ही है, यह बात तेरे

ध्यान में न आयी; और कर्मफल त्याग मानो साधन हो यह तू समझा है। अस्तु, किसी भी प्रकार तू वह सिद्ध करसके तो मुझे कुछ कहना नहीं है। कारण कि, शान्ति रूपी सम्पत्ति कर्मफल त्याग से ही प्राप्त होती है, और यदि वह तुझे सहज प्रतीत होता हो तो तू किस मार्ग से उसे सिद्ध करता है, यह बात कुछ महत्त्व नहीं है।

'किन्तु कर्मफल त्यागना कुछ सरल उपाय नहीं है। कर्मफल त्याग के विषय में मैंने तुझे उपमा द्वारा समझते हुए कहा है कि तुझे इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि मानो अपना शरीर, मन और वाणी तूने परमेश्वर को बेच दी हो, और जिस प्रकार दास की कमाई को मालिक भोगता है उस प्रकार तुझे अपने कर्म फलों का उपयोग न कर ईश्वर को बेच देना चाहिए।

"धनंजय, ऐसा नहीं होता कि दास की सारी कमाई को मालिक ही भोगता हो. केवल शरीर को ही बेच देने पर भी वह अपने शरीर की ही कितनी ही कमाई स्वयं खाता है, तब फिर मन और वाणी को भी बेच देना तो और भी अधिक कठिन है। जो यह सब कुछ कर सका है, उसने परमात्मा की अनन्य भक्ति युक्त ध्यान योग किया है यह कहने में मुझे सङ्कोच नहीं होता। कारण कि, अनन्य भक्ति की पराकाष्ठा किये बिना कर्मफल त्यागरूपी परिणाम नहीं पैदा होता।

"इससे गुडाकेश, मेरे वर्णित सर्व साधनों में अनन्य भक्ति वाला ध्यानयोग ही श्रेष्ठ है। जिनमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न न हो सके, जिनका चित्त विशेष बुद्धि प्रधान हो, उन्हें अक्षर ब्रह्म के अवलम्बन रूपी ज्ञान मार्ग से जाना चाहिए। इसे मैंने ध्यानयोग से उतरता हुआ कहा ही है, किन्तु अभ्यास-योग की अपेक्षा उच्च है। जो विचार से ही इस अवलम्बन पर न टिक सकता हो, उसे अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा चित्त के निरोध करने का योगमार्ग ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार ज्ञानयोग अभ्यास योग की अपेक्षा श्रेष्ठ है और ध्यान-योग ज्ञानयोग की अपेक्षा उच्च है, ध्यानयोग से कर्मफल त्याग तत्काल सिद्ध होता है, और कर्मफल के त्याग से शांति प्राप्त होती है। ॥१२॥

"किन्तु, अर्जुन, मैं जो यह कहता हूँ कि ध्यानयोग से ही कर्मफल त्याग तत्काल सिद्ध होता है, उससे तुझे घबराने अथवा अपनी पात्रता के विषय में शङ्काशील होने की आवश्यकता नहीं। प्रियवर, तूने अपनी भक्ति से किसे प्रसन्न नहीं किया है? अपनी भक्ति तथा सौजन्य से द्रोण के लिए तू पुत्र के समान हो गया है। भीष्म तुझ पर मुग्ध हैं, द्रौपदी का तू प्रियतम है, अग्नि और शङ्कर भी तुझ पर प्रसन्न हुए हैं, और यह भी तू जानता है कि तेरे प्रेम के वश होकर मैं तेरा सारथि बनकर आया हूँ। तुझमें भक्ति के बीज सहज और बलवान हैं। इतनी ही आवश्यकता है कि तुझमें अपनी युद्ध निपुणता का कुछ अभिमान है वह शुद्ध हो जाय और तेरी भक्ति शत्रु, मित्र, मनुष्य, तथा जीव जन्तु युक्त समग्र सृष्टि में व्याप्त हो जाय। यह तू कर सकेगा, इस विषय में तू संशय न रख।"

श्लोक १३–२० श्रीकृष्ण के आश्वासन से अर्जुन को परमेश्वर के अनन्य भक्त होने का साहस हुआ, और वैसा बनने की उत्कण्ठा भी पैदा हुई। अतः वह अनन्य भक्त होने के सब लक्षण जान लेने के लिये उत्सुक हुआ और उनका निरूपण करने के लिए श्रीकृष्ण से प्रार्थना की।

अपने प्रिय मित्र का अत्यन्त हित करने तथा उसकी सब शुभ अभिलाषाओं की पूर्ति करने के लिए सदैव तत्पर रहने वाले भक्तवत्सल श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना को तुरन्त स्वीकार कर लिया। वे बोले—

"पार्थ, स्थितप्रज्ञ के तथा जीवन्मुक्त के लक्षण एक बार मैं तुझ से कह चुका हूँ उनकी अपेक्षा भक्त के लक्षण कुछ भिन्न प्रकार के नहीं है। स्थित प्रज्ञ कहो, जीवनमुक्त कहो अथवा अनन्य भक्त कहो, सब का जीवन व्यवहार परमात्मा विषयक एक ही निश्चय और चित्त शुद्धि का परिणाम है। इसलिए भिन्न-भिन्न रीति मुझे से वही लक्षण बार बार कहने पड़ते हैं। फिर भी कहनेवाले और सुनने वाले दोनों का हित करने वाली भगवत्कथा के निरूपण में पुनरुक्ति दोषरूप नहीं होती। इसलिए मैं तुझे अनन्य भक्त के लक्षण कह कर तेरी जिज्ञासा तृप्त करता हूँ।

"धनंजय, यदि बुद्धि की स्थिरता और दृढ़ता को स्थितप्रज्ञ की विशेषता कहा जाय, परमात्मस्वरूप की प्रतीति को जीवन्मुक्त की विशेषता कहा जाय, तो भक्तिमान और श्रद्धावान स्वभाव को अनन्य भक्त की विशेषता कहने से काम चल जायगा।

"मेरा प्रिय स्वामी, मेरे जीवन का जीव, मेरा हितैषी, मेरा, प्रियदेव ही सर्वत्र बसा हुआ है, उसे मैं जरा भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता, ऐसे दृढ़ निश्चय से और प्रेम के बल से ईश्वर का परमभक्त किसी भूत प्राणी के प्रति भाव नहीं रख सकता। यदि यह कहा जाय तो ठीक होगा कि जिस प्रकार सूर्य को रात्रि का अनुभव करना शक्य नहीं होता, इसी प्रकार द्वेष बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न होती होगी, यह बात भक्त की समझ में आही नहीं सकती। अपना गला काटने आने वाले के प्रति भी उसके मन में द्वेष नहीं रहता, करुणा रहती है। तब, वह जहां जरा भी अच्छी बात देखे वहाँ मित्र भाव से पूर्ण हो जाय और रज जितनी भी पीड़ा देखे वहाँ कृपा से ओतपोत होजाय, तो यह स्वभाविक ही है।

"गाण्डीवधर, जिस प्रकार बालक मां को आता देखकर अपने हर्ष कोरोक नहीं सकतो और उसके सामने दौड़ गये बिना उससे रहा ही

नहीं जाता, और अपने ऐसे स्वभाव के लिये वह गव करने जितना विचार तक करने नहीं बैठता. उसी तरह यह कहा जा सकता है कि भक्त अपने प्रेम वल से प्रेरित होकर जो कुछ सत्क्रियाएं करता है, उनके प्रति ममता अथवा अहङ्कार अनुभव करते जितना विचार करने के लिये ठहरना नहीं है। उसके सत्कर्मों के लिये कोई उसकी प्रशंसा करता है, तो उससे उसे आश्चर्य होता है, क्योंकि उसकी तो यही मान्यता होती है कि उसके द्वारा प्रकट हुआ सद्भाव सामान्य मानव धर्म ही है, इसलिये कौन ऐसा दो पैरवाला मनुष्य होगा, जो इसके विपरीत आचरण करेगा ? परंतप, दूसरे की अपेक्षा कुछ विशेष आचरण करने को मान हुए विना अभिमान उत्पन्न नहीं होता। किन्तु उसमें ऐसा मान उत्पन्न ही नहीं होता, इसलिये वह निरहंकार रहता है।

"अपने स्वामी की इच्छा को ही अपनी इच्छा मानकर तथा उसको ही अपना मन बुद्धि अर्पण कर रहने वाला तथा ईश्वर की इच्छा के अधीन ही सर्व तन्त्र चलता है, उसके हिलाये विना सूखा पत्ता तक नहीं हिलता, तथा वह प्रभु अपने भक्त का सर्वथा हित करने वाला ही है ऐसी दृढ़ श्रद्धा वाला, साथ ही वह नियन्ता जिस प्रकार रखना चाहे उसी प्रकार रहने में दृढ़ निश्चय वाला भक्त सुख-दुःख में समान, क्षमाशील और सदा-सन्तोषी हो, तो इसमें कहना ही क्या है।

"परन्तप, सब में समान भाव से स्थित एवं निष्पक्ष परमात्मा को ऐसा भक्त मानो अधिक निकटतम हो इस प्रकार, प्रिय हुए विना नहीं रहता। विश्ववासी देव सर्व भूत प्राणियों में रहते हुए जिस दिशा में वह जाता अथवा देखता है उसी से उस पर प्रेम की ही किरणें डालता है। अखिल विश्व उसका मित्र वनकर रहता है। ॥१३-१४॥

"सव्यसाची, इस से किसी को उद्वेग होता नहीं, कोई इसे उद्वेग पहुँचाता नहीं। वह प्रसन्न होता है, किन्तु हर्षोन्मत्त नहीं होता। कहीं

कहीं दुष्टता देखकर खिन्न होता है, किन्तु क्रोधोन्मत्त नहीं होता। अमुक बात का क्या परिणाम होगा। इस विषय में शङ्काशील होती है, किन्तु भयान्वित नहीं होता। कार्य में विघ्न अथवा निष्फलता उत्पन्न होने पर विचार में पड़ जाता है, किन्तु उद्वेग नहीं करता। ॥१५॥

"पाण्डव, वह अपने प्रभु से भी उसके प्रेम के सिवा अन्य किसी कामना की सिद्धि की इच्छा नहीं करता, तब दूसरे से किसी प्रकार की अपेक्षा न करे इस में क्या आश्चर्य है। पवित्र आचार और पवित्र वृत्ति, बाधा अपने प्रभु को रुचिकर न होने वाली कोई बात न होने पावे इस विषय में सदैव सावधानता रखने वाला, ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों एवं सिद्धियों के सम्बन्ध में तृष्णारहित सब व्यथाओं को तुच्छ समझने वाला, सर्व सङ्कल्पों का सम्पूर्ण संन्यास कर चुकने वाला भक्त पुरुष प्रभु का भी अत्यन्त प्यारा होता है। ॥१६॥

"कौन्तेय, भक्त को न तो राग होता है, न द्वेष होता है, न आशा होती है, न शोक होता है। कर्म के शुभ और अशुभ सब फलों के प्रति उसे आसक्ति होती ही नहीं। उसकी दृढ़ता है केवल अपनी राम भक्ति में और उसके द्वारा परमात्मा की प्रीति सम्पादन करने में। ॥१७॥

"इसलिए, वह शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीत और धूप, सुख और दुःख सब परिस्थितियों में आसक्ति छोड़ कर तथा चित्त की समता स्थिर रखकर आचरण करता है। वह निन्दा अथवा स्तुति का विचार नहीं करता, प्रत्युत सत्य अथवा असत्य का ही विचार करने वाला मुनि बन कर जो स्थिति आपड़ती है उसी में सन्तोष मान कर रहता है। वह किसी स्थान अथवा प्रतिष्ठा में बद्ध होकर नहीं रहता वरन् अपने विचार और भक्ति में ही स्थिर रहता है। परन्तप, ऐसा भक्त परमात्मा का अतिशय प्रिय है, इस विषय में कुछ शङ्का नहीं। ॥१८-१९॥

"पार्थ, यह मैंने धर्मयुक्त तथा अमृत समान भक्ति का आदर्श बतलाया है। जो पुरुष श्रद्धा रख कर परमेश्वर को ही परम इष्ट समझकर इस आदर्श को पहुंचते हैं, वे परमात्मा के अनन्य भक्त हैं, वे परमात्मा के ऐसे प्रीति पात्र बनते हैं कि प्रभु इन्हें अपने से अलग रख नहीं सकते, वरन अपने में समा लेते हैं।" ॥२॥

तेरहवाँ अध्याय

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार

—::०::—

अनन्य भक्त के लक्षण बताकर श्रीकृष्ण ने मौन धारण कर लिया। किन्तु अर्जुन को ऐसा प्रतीत हुआ कि यह आध्यात्मिक चर्चा जिस प्रकार आरम्भ हुई थी, उसे देखते हुये, उसका यथावत् उपसंहार होकर उचित अन्त हुए बिना ही वह अकस्मात् रुक गई है। इससे उसे तृप्त नहीं हुई और फिर से चर्चा आरम्भ की। अध्यात्मज्ञान के विषय में श्रीकृष्ण से सांगोपांग की जानकारी प्राप्त कर लेने की उसे इच्छा हुई। इसलिये वह श्रीकृष्ण के चर्चित विषय को बारबार अपने मन में मथने लगा और क्या कहना शेष रह जाता है यह शोधने लगा। अन्त में उसे कई पूछने योग्य तत्व हाथ लगे, और उनके विषय में वह श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर प्रश्न करने लगा। वह बोला—

"वासुदेव, आपने मुझे ज्ञान और विज्ञान के अङ्ग समझाये थे और उनमें अपर और पर प्रकृति धारण करने वाले परमात्मा का निरूपण किया था। फिर आपने मुझे ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, और कर्म सहित परमात्मा को किस प्रकार पहचाना जाय, यह समझाया

था। किन्तु, हृषिकेश, कितने ही विद्वान् आध्यात्मिक विषय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की चर्चा करते हैं और कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होती है और अज्ञान से बन्धन होता है, इसलिए ज्ञान से ज्ञेय को जानकर मोक्ष प्राप्त करनी चाहिये। साथ ही, सांख्यदर्शन के आचार्य पुरुष और प्रकृति को पहचानने की ही चर्चा करते रहते हैं। किन्तु इन दोनों विषयों में आपने मुझसे कुछ नहीं कहा! इहलिए कृपाकर मुझे समझाओ कि यह चर्चा किस बात की है। क्यों कि इस विषय में मुझे बहुत अनुराग रहने लगा है, इसलिए यह सब जानना चाहता हूँ।"

यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—

"पार्थ, तेरी जिज्ञासा तो मैं पूरी करूँगा, किन्तु इन सारी चर्चाओं में तो मैं जितना समझा चुका हूँ, उससे तत्वतः कुछ नवीन जानने जैसी बात मिलने की नहीं। भिन्न-भिन्न परिभाषाओं का प्रयोग कर थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ सब मत एक ही विषय का निरूपण करते हैं और सब के अन्तिम निर्णयों में भी नाम मात्र का ही भेद है। किन्तु तेरी इच्छा है तो भले ही समझ ले।

"इनमें, पहिले वेदान्तदर्शन का मत समझाता हूँ।"

"इन्द्रिय, वेदान्तदर्शन में शरीर तथा शरीरी का विचार प्रमुख है। ब्रह्मवेत्ताओं से यह सुनकर कि इस शरीर से आत्मा भिन्न है, साधक इस शरीर का मानसिक पृथक्करण करना आरम्भ करता है और जो-जो तत्व शरीर सम्बन्धी प्रतीत होते हैं वे आत्मा नहीं है यह जानकर उन्हें अलग रख देता है और इस प्रकार करता हुआ आत्मा के ज्ञान पर आकर ठहरता है।

"परन्तप, शरीर के लिए ही क्षेत्र, यह दूसरा नाम है। इस शरीर के तत्वों को जो यथावत् जानता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है; अथवा इस शरीर में रहा आत्मा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान आत्मज्ञान के नामसे प्रख्यात है।

"धनञ्जय, ऐसे आत्मज्ञान के विना श्रेय प्राप्ति नहीं होती और इस आत्मज्ञान से रहित शेष समस्त ज्ञान का भण्डार बन्धन करने वाला होने के कारण अज्ञान ही है, यह वेदान्त का मत है ।

"गुड़ाकेश, ज्ञानद्वार जिसकी प्रतीति कर लेना है वह आत्मा ही इस साधक का ज्ञेय है और उसका निरूपण ही वेदान्त का विषय है।" १–३॥

"पृथानन्दन, अब पहिले तुझे इस शरीर अथवा क्षेत्र विषयक वेदान्त का निर्णय समझाता हूं वेद कालीन ऋषियों ने इसका भिन्न भिन्न रीति से, अनेक मन्त्रों में, विविध रूप से विचार किया है और युक्तिओं से पूर्ण ब्रह्मसूत्र रचकर इन सब विचारों को सार रूप में ग्रथित किया है । ॥४॥

"अर्जुन, वेदान्त का मत है कि यह शरीर इकत्तीस धर्मों अथवा तत्त्वों वाला है । ये इकत्तीसों धर्म आत्मा के नहीं हैं, प्रत्युत आत्मा से भिन्न रूपमें जाने जा सकते हैं, वे बढ़ने-घटने वाले हैं तथा नाशमान् हैं। इकत्तीस धर्म ये हैं–महाभूत आकाश, वायु, तेज, जल, तथा पृथ्वी–५– अहङ्कार, बुद्धि तथा अव्यक्त प्रकृति–३, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन सब मिल कर ग्यारह–११, पंच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—५) । इस प्रकार प्रसिद्ध तत्व चौबीस हुए। इनके सिवा शरीर में दूसरे भी सात विकारी धर्म हैं, इन्हें भी अनात्मा ही समझना चाहिए। वे सात ये हैं—(१) इच्छा अथवा प्रीति अथवा राग और (२) द्वेष की भावनाएं, (३) सुख और (४) दुःख की वेदनाएं, (५) संघात अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्वों की एक दूसरे के साथ मेलयुक्त रचना तथा व्यवहार, (६) चेतना अर्थात् भान अथवा जानपन, और (७) धृति, अर्थात् सब प्रकार की विघटनाओं को सहन कर परिस्थिति के अनुकूल बन जाने तथा उसके विरुद्ध सामना करने एवं निश्चित विचार अथवा वस्तु पर चिपटे रहने की शक्ति ।

—

"महाबाहो, शरीर में इन इकतीसों कर्मों को पहचान कर ये शरीर के धर्म हैं, किन्तु आत्मा के नहीं यह जानना शरीर का ज्ञान कहाता है। ॥५-६॥

श्रीकृष्ण के अन्तिम वाक्य पर अर्जुन को एक शङ्का हुई। वह बोले-

"कमलाक्ष, यदि इन इकतीस धर्मों को पहचानना, और वह आत्मा के धर्म नहीं वरन शरीर के धर्म हैं यह जानने से ही

श्लोक ७--११ यदि क्षेत्रज्ञ होता हो, तब तो यह अत्यंत सरल कार्य प्रतीत होता है। इतना तो प्रत्येक व्यक्ति जान कर आत्मज्ञानी बन सकता है"

यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले---

"कौन्तेय, मुनिजन ज्ञान अथवा जानने का अर्थ केवल जानकारी होना ही कदापि नहीं करते। जानने से फलस्वरूप यदि आचरण में किसी प्रकार का अन्तर न हो तो वह ज्ञान नहीं, प्रत्युत केवल जानकारी ही है। अर्थात् यदि क्षेत्र के नाशमान धर्मों को जानकर तदनुसार आचरण में अन्तर न हो, तो यह कहा ही नहीं जासकता कि वह ज्ञान है।

इस पर अर्जुन ने पूछा—"तब किस प्रकार के आचरण से यह कहा जासकता है कि अमुक केवल जानकारी नहीं प्रत्युत ज्ञान है ?"

तब श्रीकृष्ण बोले—"शरीर के नाशवान धर्मों को पहचान कर उस से भिन्न आत्मा को जानने के लिये प्रयत्न-रत पुरुष शरीर तथा शरीर के धर्मों एवं सम्बन्धों के विषय में असक्ति रहित हो और वह उसके आचरण में इस प्रकार प्रकट हो।

"निर्मानिता ऐसे पुरुष का पहिला लक्षण हो, कारण कि, मानी स्वभाव तो उपरोक्त इकतीस धर्मों में से किसी के लिये अत्यन्त ममता का ही परिणाम है।

"फिर अर्जुन, वह पुरुष निर्दम्भी हो; कारण कि ऐसा पुरुष शरीर

के धर्मों को, उनकी जितनी मात्रा हो उससे अधिक दिखाने का प्रयत्न किस लिये करे ?

"उसका तीसरा लक्षण है अहिंसा; कारण कि जिस ने शरीर के धर्मों को आत्मा से भिन्न जान लिया है, वह दूसरों को दुःख देकर इन्हें पोषित करने की इच्छा करेगा ही नहीं।

"यह कहने में कुछ आपत्ति नहीं कि क्षमा तो अहिंसा की ही दूसरी बाजू है; अतः अहिंसा के साथ वह रहे ही।

"और इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि सरलता निर्दम्भित्व का उपनाम है।

"इसके सिवा, धनञ्जय, शरीर के धर्मों को पहचान कर उस से उदासीन हुआ पुरुष अपने स्वरूप को पहिचाने बिना कभी शान्ती पा नहीं सकता। इस से बुद्धि द्वारा अनात्मा को दूर करने के बाद आत्मा को जानने की इच्छा से वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष की खोज करेगा ही और ऐसे आचार्य की अनन्य भाव से सेवा कर, उसके उपदेश का श्रवण, मनन और निदिध्यासन न करेगा और उसका निकट सहवास कर उसकी स्थिति को पहुँचने का पुरुषार्थ करेगा।

"साथ ही वह जिज्ञासु सत्पुरुष की प्रसन्नता प्राप्त करने और चित्त की शुद्धि के लिये अत्यन्त पवित्र आचरण रक्खेगा, स्वभाव और विचार में स्थिरता बतावेगा और मन पर अधिकार रक्खेगा। ॥७॥

"यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि वह इन्द्रियों के विषयों को तुच्छ समझने और अहमपन के अभिनिवेश से रहित होगा, कारण कि मुमुक्षता की तो यह पहली सीढ़ी मानी जाती है।

"फिर पार्थ, यह बात अलग बताने की ज़रूरत नहीं कि जिसे शरीर के विकारी धर्मों का अच्छी तरह ज्ञान होगया है, उसे इस शरीर के पीछे लगे हुए जन्म, मरण, जरा, व्याधि एवं दुःख आदि सब दोषों का

मान सदैव रहता है। ॥८॥

"संसार के जिन मोहों में ऐसे पुरुष का चित्त रम सकता है? स्त्री, पुत्र, गृह आदि के बीच में रहता हो और उनसे सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी वह कहीं भी आसक्त नहीं होता। इष्ट अथवा अनिष्ट जो कुछ भी परिस्थिति उत्पन्न हो, उसका धैर्यपूर्वक मन का सन्तुलन रख कर उसे सहन करता है। ॥९॥

"फिर, आत्मा को शोधनेवाले साधक को अनन्यभाव से तथा अन्यत्र कहीं भी न भटकने वाली एकाग्रवृत्ति से आत्मा की ही लगन लगे, तभी यह कहा जा सकता है कि उसे शरीर के धर्मों में अनासक्तपन की दृढ़ निष्ठा हुई है।

"ऐसा पुरुष समाज के कोलाहल से दूर, एकान्त में बैठकर गुरु के बतलाये हुए मार्ग से योग का अभ्यास करता है, आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान का ही विचार करता है और तत्वज्ञान से जो वस्तु प्राप्त करनी है, उसी की खोज करता है।

"महाबाहो, वेदांत वेत्ता जो यह कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होती है और अज्ञान से बन्धन होता ह, इस का अर्थ यही है कि ऊपर बताये लक्षण ही आत्मज्ञान प्राप्त कराने वाले होने के कारण मोक्षदायक हैं, और इनके सिवा अन्य जो कुछ बुद्धि चातुर्यकला, जानकारी अथवा अनुभव हैं वे सब बन्धन मार्गक ही होते हैं। कारण कि तत्वदृष्टि से ये सब शरीर के प्रति आसक्ति, और इसलिये, उस विषय का अज्ञान ही प्रकट करते हैं। ॥१०–११॥

"द्रोणप्रिय, अब वेदान्त विचारकों ने अचिन्त्य, अवर्णनीय तथा श्लोक १२—१८ दृष्य न होने के कारण अज्ञेय सम आत्मा के स्वरूप विषय में जो निर्णय किया है, वह सुन—

'परन्तप, उनका यह निर्णय है कि भिन्न-भिन्न शरीरों मिमें न्न-भिन्न

आत्मा नहीं है, वरन समग्र विश्व में व्याप्त एक ही आत्मा है। और इसीलिए, महत्वपूर्ण अर्थ वाले 'ब्रह्म' शब्द से वे आत्मा का परिचय देते हैं। यह आत्मा अनादि काल से है ही।

"गाण्डीवधर, यह नहीं कहा जा सकता कि इस आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इसलिये, वह असत् तो नहीं ही है। किन्तु यह सम्भव है कि उसका होना भी मानो अस्तित्व के भान से रहित हो। जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में पड़े हुए मनुष्य को अपने अस्तित्व का स्पष्ट भान नहीं होता, किन्तु जाग उठने के बाद कैसी नींद आई इस विषय की स्मृति होने के कारण उसे, उसका अस्तित्व था ही, यह निर्णय करना पड़ता है; उसी तरह आत्मा की सत्ता (आस्तित्व) सत्ता (होना) पन के भान-रहित सत्ता के समान है इसलिए असत् नहीं और सत्पन का अभिमान नहीं ऐसा आत्मा का सत्तामात्र स्वरूप है। किन्तु सामान्य भाषा में, दृश्यरूप में जाना जा सके वही सत् और न जाना जासके वह असत् है इस प्रकार लोगों को बोलने और समझने की आदत होने के कारण ब्रह्मवादी यह प्रतिपादन करते हैं कि आत्मा ऐसे सत् और असत् दो से परे हैं ॥१२॥

"फिर, रिपुदमन, ज्ञानियों ने आत्मा का स्वरूप चैतन्य मात्र निश्चित किया हैं। उनका मत यह है कि सङ्कल्प बल से ही इसमें से सृष्टि उत्पन्न हुई है और संङ्कल्प बल से ही टिकी हुई है। इसलिये ब्रह्म में स्थूलरूप में कोई भी आकार अथवा इन्द्रियों की कल्पना न हो सकने पर भी इसके सङ्कल्प से उसकी जहां आवश्यकता हो वहां हाथ, पांव, नाक, कान, मुंह, आंख, सिर आदि हैं। वह इन्द्रियों पर अवलम्बित नहीं, किन्तु इन्द्रियों को अवलम्बन देने वाला है और इन्द्रियों को उत्पन्न करने और समेट कर सकने वाला है।

इसी प्रकार कौन्तेय, यह त्रिगुणों को आधार देता है स्वयं गुणों का आधार नहीं है। इसलिए, सब सगुण और साकार स्वरूपों से वह

परे होने के कारण निराकार कहाता है। फिर भी आकारों एवं गुणों में इसके बिना अस्तित्व अथवा टिकेरहने का बल नहीं है। यह आकारों और गुणोंको उत्पन्न करता है, रखता है और समेटता है, इसलिये यह भी कहा जासकता है कि सब आकार और सब गुण उसी में रहे हैं। इस प्रकार सब से परे होते हुए भी आत्मा ही सब गुणों का पोषक एवं भोक्ता (खा जाने वाला, भोग कर डालने वाला) है। ॥१३-१४॥

"परन्तप, इस आत्मा को न तो शरीर के बाहर ही कहा जा सकता है, न अन्दर ही कहा जा सकता है। जो यह कहा जाता है कि हृदय में आत्मा रहता है सो यह तो उसके हृदय में रहने के कारण योगाभ्यास की अनुकूलता के लिए ही कहा गया है। वस्तुतः इसका कोई एक ही स्थान नहीं है। यह बात भी कहते कि यह जंगम में तो है और स्थावर में नहीं। जड़-चेतन, जीवित-मृत सब में यह आत्मा सनातन स्वरूप में स्थित हुई है।

"आकाश की अपेक्षा भी विशेष रूप से सूक्ष्म होने के कारण यह ज्ञान का विषय बन नहीं सकता। मन को चाहे जितना दूर दौड़ावें वहां भी यह रहता ही है और यदि अत्यन्त निकट का स्थान लिया जाय तो वह भी इससे व्याप्त है। ॥ १५ ॥

"इस प्रकार का ब्रह्म किसी भी प्रकार की भेद दर्शक सीमाओं से रहित, आकाश के समान सब प्राणियों में व्याप्त होकर रह रहा है। फिर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों के चित्त में भिन्न-भिन्न आत्मा हो यह खयाल पैदा होता है। सब प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण ब्रह्म अनन्त सूर्यों का भी प्रकाशदाता है और गाढ़ अन्धकार को भी कालिमा देने वाला है, कारण कि, इसके स्वरूप में वस्तुतः न तो प्रकाश है, न कालिमा है, किन्तु इसके सङ्कल्प के अनुसार दोनों हैं।

"अर्जुन, यह कहने की प्रथा अवश्य है कि यह आत्मा जानने योग्य है, ज्ञान से जाना जा सकता है तथा सब के हृदय में रहता है। किन्तु इसका आशय तू समझले। ज्ञानमात्र, ज्ञप्ति, केवल अनुभव एवं चिन्मात्रता यही आत्मा का स्वरूप होने के कारण इसका कोई ज्ञाता नहीं है; इसलिये यह किसका ज्ञेय बने ? फिर यदि यह कहा जाय कि यह-ज्ञाता है, तो इसके सिवा दूसरा कुछ तत्त्व न होने के कारण यह किसका ज्ञाता है और किसे ज्ञेय करे ? अर्जुन, शून्य स्थान में जलते हुए दीपक को प्रकाशक कहा जाय अथवा नहीं, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। वह प्रकाशित अवश्य होता है, किंतु किसी पदार्थ को प्रकाशित नहीं करता, इसलिये यह प्रकाशमात्र है यही उसके प्रकाशपन का अर्थ होगा। इसी प्रकार, धनञ्जय, आत्मा ज्ञाता है, किंतु इसे अपने सिवा अन्य कुछ ज्ञेय ही न होने के कारण इसका ज्ञातापन केवल ज्ञानमात्र स्थिति है।

"फिर अर्जुन, विद्वान् यह उपमा देते हैं कि आँखों के द्वारा हम संसार को देखते हैं, जीभ, के द्वारा पदार्थों को चखते हैं; किंतु क्या यह आँख स्वयं अपने को प्रत्यक्षरूप से देख सकती है ? अथवा जीभ अपना स्वाद जानती है ? भला, घोर अंधकार में जहाँ कुछ न दिखाई देता हो, वहाँ इस आँख को पदार्थ भासित न होने पर भी क्या यह कहा जाता है यह देखती नहीं ? क्या जो जीभ कुछ नहीं खाती, वह चाख नहीं सकती यह कहा जा सकता है ? ऐसा होने से आँख द्रष्टा नहीं कही जाती, वरन जीभ ही स्वाद है यह कहा जाता है। इसी तरह कौन्तेय, आत्मा के लिये कोई इतर वस्तु ज्ञेय रूप न होने के कारण इस का ज्ञातापन और साक्षीपन ज्ञानमात्र सत्ता है। ।१६-१७।।

"महाबाहो, इस प्रकार मैंने तुझे संक्षेप में वेदान्तमत अथवा शरीर और आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान का विषय समझाया। श्रेयार्थी भक्त इस तरह भी ज्ञान-विज्ञान का विचार कर परमपद को पा सकता है ॥१८॥

"अर्जुन, सांख्यमत का कितना ही विवेचन मैं कर चुका हूँ, फिर
श्लोक १६—२३ भी, तुमसे संक्षेप में इसके मुख्य मन्तव्य फिर कहता
हूं, वह सुन—

"अर्जुन, सांख्यवादी यह मानते हैं कि प्रकृति और पुरुष ऐसे दो सनातन आदि तत्व हैं।

"संसार में जो कुछ विकार या परिवर्तन तथा गुणों के भेद मालूम पड़ते हैं, तथा कार्य कारण का निश्चित सम्बन्ध दिखाई देता है, उसका कारण प्रकृति की क्रिया है निश्चित नियमानुसार ही प्रकृति सदैव रूपान्तर पाया करती है और इससे जगत का व्यवहार यथावत् रीति से होता दिखाई देता है।

बुद्धिमान्, अब पुरुष का लक्षण सुन। पुरुष चैतन्यमात्र है, किन्तु प्रकृति के साथ जुड़कर रहता है। पुरुष और प्रकृति के इस संयोग के कारण प्राणियों में भोक्तापन का ज्ञान उत्पन्न होता है और वह प्रकृति के हेर फेर को सदैव अनुभव करता है। साथ ही, इन अनुभवों के कारण उठती, सुख दुःख की वेदनाओं का वह कारण बनता है। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति के सम्मिलन में गुणों का भोक्तापन होने के कारण, इन गुणों के प्रति उसमें आसक्ति (राग-द्वेष) पैदा होती है, और इसके कारण उसे अच्छी अथवा बुरी योनि में जन्म लेना पड़ता है। ॥१६—२१॥

किंतु, परंतप, जिस प्रकार मैल चढ़े हुए हीरे के नीचे हीरे का स्वरूप शुद्ध ही रहता है, मैल उसके भीतर घुस कर नहीं रहता, उसी तरह संयोग और आसक्ति के कारण पुरुष किसी भी अवस्था में पड़ा हो, फिर भी उसका स्वरूप बाहर से ही मैला दिखाई देता है, वस्तुतः मैला नहीं होता। स्वतंत्र रूप से तो वह सुख-दुःख अथवा आसक्ति से लिप्त नहीं होता, वरन् केवल सुख-दुःख का प्रेक्षक ही रहता है। इसकी समी-

पता के कारण जड़ प्रकृति क्रियावान बनती है, इससे यह उन क्रियाओं का अनुमोदन देने वाला तथा प्रकृति को पोषण देने वाला, भोगनेवाला और प्रकृति के महानधर्म चित्त का स्वामी अवश्य माना जाता है। किंतु वस्तुतः इसका स्वरूप इन सम्बंधों से अलिप्त होने के कारण यह पुरुष सब से परे तथा स्वतंत्र आत्मा ही है। ॥२२॥

"गुड़ाकेश, सांख्यवेत्ता भी वेदान्त दृष्टाओं की तरह ही कहते हैं कि जो ज्ञानी गुणवाली प्रकृति और पुरुष के भेद को समझ गया है और प्रकृति के कार्यों का पुरुष में आरोपण नहीं करता, वरन पुरुष को केवल साक्षी रूप में ही जानता है, वह विवेक से प्रकृति के साथ का सम्बन्ध ही क्षीण कर डालता है, और शरीर के बीच सब कार्यों में प्रवृत्त दिखाई देता हुआ भी मर कर पुनर्जन्म नहीं लेता। ॥२३॥

यह सुन कर अर्जुन ने पूछा — 'मधुसूदन, इस प्रकार प्रत्येक दर्शनकार अपनी अपनी दृष्टि की महिमा गाता है और कहता है यह दृष्टि जिसने समझली है, उसी की मोक्ष होती है। तब आप को इनमें से कौन सा दर्शन श्रेष्ठ लगता है?"

श्लोक २४-२५

इस पर श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन मैंने तुझे ज्ञान और विज्ञान ये दो वस्तुएँ बतलाई थीं। आत्मा की पहिचान ज्ञान है और सृष्टि के तत्व तथा उत्पत्ति क्रम सम्बन्धी मत विज्ञान है। इन दोनों में से आत्मा की पहचान कर लेना दूध में से मक्खन निकाल लेने के समान, विवेक बुद्धि से, नाशवान सृष्टि से अलग रहने वाली उसकी अक्षर सत्ता को देखना, यह अधिक महत्व की बात है। सृष्टिक्रम विषयक मत अपेक्षाकृत गौंड़ है आत्मा की पहचान ही सब दर्शनकारों का ध्येय है। कितने ही इस आत्मा को अनन्य भक्ति युक्त ध्यान द्वारा पहचानते हैं कितने ही सांख्य विचार से जानते हैं तो कितने ही कर्मयोग से मानते हैं। साथ ही, अनेकों

को आत्मा अनात्माका स्वयं विवेक करना रुचिकर नहीं होता। वे सज्जनों के मुँह से यह सुनते हैं कि जिस प्रकार तिल में तैल रहता है, दूध में मक्खन रहता है, उसी तरह शरीर में आत्मा रहता है, किन्तु यह किस तरह होता होगा, यह समझ अपनी बुद्धि-शक्ति के बाहर समझते हैं। किन्तु अर्जुन, जिस प्रकार रोगी वैद्य पर श्रद्धा रखकर उसके द्वारा सूचित उपचार कर और पथ्यों का यथावत् पालन कर मृत्यु के मुँह से निकल आते हैं। इसी तरह वे आत्माज्ञानी वैद्यों के उपदेश पर श्रद्धा रखकर उनके द्वारा सूचित मार्ग पर भक्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं और इस प्रकार बन्धन रूपी महामृत्यु से तिर जाते हैं। ॥२४–२५॥

"अर्जुन, यह शरीर अथवा जगत अनुभव में आता है, इस विषय में कुछ शंका नहीं है। यह नाशमान और विकारपूर्ण

श्लोक २६–२८

है इसमें भी शंका नहीं। और इस नाशमान के पार अविनाशी आत्मा रहता है इस विषय में भी तत्त्वदर्शियों ने निश्चित प्रतीति की है।

"मैंने समझाया था उस तरह ये नाशमान पदार्थ आत्मा की ही अपर और गौण प्रकृति से निर्मित होते हैं, अथवा वेदान्तानुसार आत्मा के संकल्प मात्र से निर्मित होते हैं, अथवा सांख्यमत के अनुसार प्रकृति नाम के जुदे ही तत्त्व में से होते हैं, इस विषय में भले ही मत-भेद हो, किन्तु इस विषय में शङ्का नहीं कि नाशमान सृष्टि इस आत्मा का क्षेत्र और उसके ज्ञान का विषय है और इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही स्थावर अथवा जंगम भूतों का निर्माण होता है।

"धनुर्धर, चाहे जिस दृष्टि से हो, किन्तु जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग का हेतु जानता है और नाशमान क्षेत्र में समान रूप से रहे अविनाशी क्षेत्रज्ञ को ही शोधता है और इस प्रकार शोधकर ही सर्वत्र समबुद्धि को स्थिर करता है, वह अपने को, जिस प्रकार छाछ से मक्खन जुदा हो

जाता है इस तरह, क्षेत्र से जुदा करके परम गति को पाता है। २६-२८

"कुंतीनन्दन, सांख्य द्रष्टाओं का कहना है कि जो यह जानते हैं कि जो कुछ कर्म होते हैं, वे प्रकृति द्वारा ही होते हैं, वही ज्ञानी है। किन्तु सांख्य वेत्ता यह प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न आत्माएं वसती हैं और प्रकृति का आत्मा से स्वतंत्र अस्तित्व है। परन्तु उन्हें यह नहीं दिखाई देता कि सर्व भिन्न-भिन्न दिखाई देते भूतों में एक ही आत्मा समायी हुई है और अखिल सृष्टि का विस्तार उसी में से हुआ है।

"पार्थ, जो आत्मा की यह एकता भी शोधते हैं और यह देखते हैं कि यही सृष्टि का कारण है, वे ब्रह्म को पाते हैं।" ॥२६-३०॥

श्लोक ३१—३४

"किन्तु, महाबाहो, आत्मा के अकर्त्तापन तथा अलिप्तपने के विषय में सांख्य तथा वेदान्त का निश्चय एकसा ही है। अविकारी आत्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहते हुए भी वह न तो कुछ करता है और न किसी कर्म से ही लिप्त होता है। ॥३१॥

'जिस प्रकार आकाश के सर्वत्र व्याप्त होने पर भी उसे किसी प्रकार का विकार स्पर्श नहीं करता, उसी तरह सर्वत्र देह में व्याप्त आत्मा को भी किसी प्रकार का विकार स्पर्श नहीं करता। ॥३२॥

"भारत, जिस प्रकार एक ही सूर्य अखिल सृष्टि को प्रकाशित करता है उसी तरह एक ही आत्मा क्षेत्र मात्र को प्रकाशित करती है। ॥३३॥

"पार्थ, जो ज्ञान-दृष्टि से इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद देखते हैं और प्राणियों का प्रकृति से किस प्रकार का मोक्ष होता है यह समझते हैं, वे परम पद को पाते हैं।" ॥३४॥

चौदहवाँ अध्याय

त्रिगुण निरूपण

श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन, मैंने तुझे सांख्य तथा वेदान्त का दिग्दर्शन करवाया सो तो ठीक, किन्तु सांख्यवेत्ताओं

श्लोक १—२ ने त्रिगुणों के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म विचार किया है वह श्रेयार्थी के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं विचार ने योग्य है। आत्मरूप को पहचानने के लिए इन तीन गुणों की किस प्रकार क्रिया तथा क्रांति होती है, और इन गुणों को पहचान कर श्रेयार्थी किस प्रकार गुणों की क्रिया से भिन्न होकर गुणातीत स्थिति को पहुँच सकता है, यह जानना महत्त्व की बात है। त्रिगुण को यथा-वत् जानकर अनेक मुनिजन अपने चित्त को अत्यन्त शुद्ध कर आत्म भाव को प्राप्त कर चुके हैं और जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं। इसलिए यह उचित है कि तू इस विषय को समझ ले।" ॥ १—२ ॥

"इस प्रकार बिन माँगी श्रीकृष्ण की कृपा दृष्टि से अर्जुन अत्यन्त हर्षित हो गया और अत्यन्त सावधान होकर सुनने के लिए तैयार हुआ।

श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन, विचार करने में सरलता हो, इसके लिए सांख्य दर्शन में यह कल्पना की जाती है, कि मानो

श्लोक ३—४ आरम्भ में प्रकृति निष्क्रिय एवं अव्यक्त दशा में थी। तत्पश्चात्, मानो, पुरुष के संयोग के कारण उसमें क्रिया उत्पन्न हुई और परिवर्तन होने लगे।

"परन्तप, प्रकृति में प्रथम हुई विक्रिया को महद्ब्रह्म कहते हैं और चित्त अथवा बुद्धि इस महद् ब्रह्म का ही दूसरा नाम है।"

"अर्जुन, अनादिकाल से सृष्टि चली आती है, इससे प्रकृति की सर्वथा निष्क्रिय और अव्यक्त दशा तो कल्पनामय ही समझनी चाहिये। व्यावहारिक रूप में तो यह कहना असंगत न होगा कि महद् ब्रह्म अथवा चित्त रूप में विकार पाने से रहित प्रकृति है ही नहीं।"

अर्थात् इसका तात्पर्य यही हुआ कि आत्मा और चित्त का संयोग ही सर्व सृष्टि का कारण है।

"सव्यसाची, चैतन्यरूपी आत्मा सङ्कल्परूपी गर्भ को चित्त में डालता है और उसमें से सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है। अर्जुन, संसार में प्राणियों की अनेक योनियाँ देखने में आती अवश्य हैं। किन्तु ये सर्व योनियाँ एक ही महा योनि से निर्माण हुई हैं और वह महायोनि है चित्त। आत्मा का संकल्पात्मक बीज चित्त रूपी योनि में पड़ने के कारण सृष्टि सम्भवित हुई है।" ॥ ३-४ ॥

"किन्तु, गाण्डीवधर, यह प्रकृति प्रकृति नाम से जो कही जाती है, वह क्या है, यह समझ लेने की आवश्यकता है।

श्लोक ५ अर्जुन, सांख्यों ने यह निर्णय किया है कि सत्व, रज और तम ऐसे त्रिगुण, धर्म अथवा शक्तियों के सम्मिलित होकर रहने का नाम ही प्रकृति है। इन तीनों गुणों के बल घटती-बढ़ती होनेपर भी एक दूसरे का कभी सर्वथा संसर्ग नहीं छोड़ते और जिस प्रकार वृक्ष के मूल में सींचा हुआ पानी उसके फल, तने, डाली, पत्ते, फूल और फल सब में अणु-अणु पर्यन्त पहुंच जाता है, उसी तरह ये तीनों गुण प्रकृति की जो कुछ विक्रियाएँ होती हैं और उस में से जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन सब में दर्शन देते हैं।

"इस प्रकार, अर्जुन, चित्त अथवा बुद्धि त्रिगुणात्मक है। प्राणियों का स्वभाव तथा एक-एक गुण त्रिगुणात्मक है, उसी तरह उसके आहार विहार और कर्म भी तीनों गुणों से रंगे रहते हैं।

"यह कहा जाना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार मिट्टी का चूरा, अथवा अनाज का आटा पानी से बँध जाता है उसी तरह यह सृष्टि त्रिगुणों से बँधी हुई है।

"परन्तप, इन त्रिगुणों के प्रति आसक्ति होने, उनकी घट-बढ़ से होने वाले परिवर्तनों में रुचि मालूम होने और कुछ परिवर्तनों के प्रति राग और कुछ के प्रति अरुचि होने का नाम ही बन्धन है। आत्मा को त्रिगुणात्मक चित्त के साथ एक जीव होकर रहने और त्रिगुणों को भोगने का जो आग्रह रहता है, वही उसके बन्धन और संसृति का कारण है।" ॥५॥

"अब, भारत कुल भूषण, मैं तुझ से इन त्रिगुणों के सामान्य लक्षण पृथक पृथक करके कहता हूं, वह सुन "परन्तप

श्लोक ६–६ अपने में दूसरों में अथवा पदार्थों में निर्मलता का, प्रकाश का, स्फूर्ति का, निर्दोषिता का तथा ज्ञान की जो कुछ अनुभूति होती है, उसी को सांख्यवेत्ता सत्वगुण कहते हैं। अर्जुन, इस गुण के कारण जीव को सुख का, शान्त प्रसन्नता का, पवित्रता का और ज्ञान का (बुद्धि में तेजस्विता का) अनुभव होता है। यह अनुभव रुचिकर लगता है और इसलिए जीव इस की वृद्धि के लिए प्रयत्न करता है। अर्जुन, सत्वगुण सम्बन्धी ऐसा राग, अन्य रागों की अपेक्षा शुद्ध होते हुए भी, निर्वाण की दृष्टि से बन्धन कारक ही गिना जाता है। ॥ ६–६ ॥

"धनंजय, रजोगुण का दर्शन जीवों की कर्म प्रवृत्ति में होता है। उस समय जीव, यह प्राप्त करना, 'वह प्राप्त करना, 'वह भोगना, 'यह देख आऊँ 'उस पर जोर निकालूं, आदि प्रेरणाओं की स्फुरणा से जीव बन्दर के समान स्थिर होकर बैठ ही नहीं सकता। उसे कर्मों में ही चैन पड़ता है और नयी-नयी तृष्णाओं से प्रेरित हो, नवीन नवीन प्रवृत्तियाँ ढूंढता ही रहता है। कर्म के विषय में आसक्ति उत्पन्न कराकर, उसी में सुख

मनवाने वाले और इस प्रकार जीव को प्रकृति के साथ बाँध रखने वाला गुण रजोगुण कहाता है। ॥ ७—६ ॥

"कौन्तेय, तमोगुण जड़ है। यह रजोगुण और सत्वगुण दोनों से उल्टा ही है। यह चंचलता का और प्रवृत्ति का शत्रु है। यह प्रमाद में, आलस्य में और नींद में ही सुख मानता है। कहीं बुद्धि चलानी पड़ती हो अथवा शरीर को किसी काम में आगे बढ़ाना पड़ता हो तो, उसे ऐसा लगता है मानों कोई बड़ा भारी संकट आ पड़ा हो। इसे अज्ञानी रहने में ही अच्छा लगता है। बुद्धि अथवा शरीर को किसी प्रकार का श्रम न करना पड़े इसी में इसे शान्ति प्रतीत होती है और इसी दशा की वृद्धि की इच्छा करता है। इस प्रकार यह भी जीव को बन्धन में रखने वाला है।" ॥८-६॥

"अर्जुन, यदि ये तीनों गुण समप्रमाण से पदार्थों में अथवा प्राणियों में बसते हों तो वे एक-दूसरे के बल को सर्वथा हटा दे सकते हैं और इस कारण कुछ क्रिया ही उत्पन्न नहीं हो सकी। किन्तु ऐसा होता नहीं। गूढ़ कारणों से इन तीनों गुणों का बल घटता-बढ़ता रहता ही है। किसी समय रज और तम को हटाकर सत्वगुण बलवान हो जाता है, किसी समय रजोगुण दूसरे को हटा देता है, तो किसी समय तमोगुण दूसरे की अपेक्षा बलवान बन जाता है।

श्लोक १०

"महाबाहो, जिस समय, जिस गुण का वेग बलवान होता है, उस समय, उस प्राणी में, उस गुण के चिह्न उत्पन्न हो आते हैं, और ऐसा एकाध गुण जिसमें विशेष रूप से दिखाई दिया करता हो, उसे वैसे गुण की प्रकृति वाला समझा जाता है। इस प्रकार मनुष्य किसी समय सात्विक प्रकृति का होता है, किसी समय राजस का तो किसी समय तामस प्रकृति का बनता है। फिर, कितने ही मनुष्यों, प्राणियों तथा

पदार्थों में सत्वगुण की बाराम्बार विशेषता दिखाई देती है, कितनों ही में रजोगुण की और कितनों ही में तमोगुण की। उसके अनुसार उसे सात्विक, राजस अथवा तामस कहने का रिवाज है। इसी तरह जिन-जिन विषयों का उपयोग अथवा कर्माचरण अपने में सत्वगुण का वेग बढ़ाता है उसे सात्विक विषय अथवा सात्विक कर्म, जो रजोगुण को बढ़ाता है उसे राजस विषय अथवा कर्म और जो तमोगुण को बढ़ाता है, उसे तामस विषय अथवा कर्म कहा जाता है। तात्पर्य यह कि ये तीनों गुण स्वयं इन्द्रिय गोचरनही हैं, किन्तु उनसे उत्पन्न परिणामों पर से उनके भेद निश्चत किए गए हैं।" ॥ १० ॥

"अब; सव्याची, जिस गुण कावेग बढ़ने से मनुष्य के शरीर में जो हेर फेर होते हैं वह सुन—

श्लोक ११ से १३ "पाण्डव, जिस समय सत्वगुण बल पूर्वक बढ़ता है, उस समय मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में और समस्त इन्द्रियों में जागृति तथा स्फूर्ति प्रतीत होती है। उसकी बुद्धि तीव्र हो जाती है। और वह जो कुछ देखता अथवा सुनता है उसे तुरन्त समझ सकता है तथा स्पष्ट रूप से विचार कर सकता है। ॥ ११ ॥

"किन्तु, अर्जुन जिस समय मनुष्य रजोगुण के वेग के प्रभाव में आता है, उस समय उसका आचरण भिन्न प्रकार का हो जाता है। उसमें उस समय महत्वाकाँक्षाएं उत्पन्न होती हैं और उनके सिद्ध करने का लोभ हो जाता है। इसके लिए वह विविध प्रकार की प्रवृत्तियां करने के लिए उत्साहित होता है। शान्ति रखना अथवा आलस्य करना उसे अच्छा नहीं लगता, वरन दौड़ धूप करने में ही उसे चैन पड़ता है। सन्तोष की बात के प्रति उसके हृदय में तिरस्कार का भाव उत्पन्न होता है और उसे वह कायरता समझता है। बहुत होना, बहुत प्राप्त करना, खूब भोगना और खूब करना, यह उसका आदर्श बन जाता है। ॥ १२ ॥

"रिपुदमन, अब तमोगुण के वेग का प्रभाव सुन। अर्जुन, इसके बढ़ने से शरीर तथा इन्द्रियों में जड़ता आ जाती है। कुछ विचार करना अच्छा नहीं लगता, कुछ काम करना अच्छा नहीं लगता, बैठा हो तो उठना अच्छा नहीं लगता, पड़ा हो तो बैठना अच्छा नहीं लगता। कुछ करना पड़ता है, तो उसमें चित्त नहीं लगता, भूलें करता है, ऊपरीमन से काम करता है, ध्यान पूर्वक काम करना अच्छा नहीं लगता। यदि कोई उससे उचित प्रकार से काम करने का आग्रह करता है, तो वह आग्रह उसे निरर्थक झंझट प्रतीत होती है। उसे कुछ समझाइये तो 'यह समझ कर क्या करना है' यह कह कर खामोश रहता है। सुस्त होना, अज्ञानमय आराम भोगना और नशे की हालत में मोहवश रहना यही उसे प्रिय होता है।" ॥१३॥

श्लोक १४–१५

"अर्जुन, इन तीनों गुणों में से मनुष्य जिस गुण का बारम्बार सेवन करता और बढ़ाता रहता है, धीरे धीरे उसमें उस गुण का प्राबल्य हो जाता है, और वही गुण उसका स्वभाव ही बनता जाता है। दूसरे दो गुणों का अत्यन्त नाश तो कभी होता नहीं, किन्तु वे अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं और अल्प वेग से ही दर्शन देते हैं।

"इस प्रकार यदि कोई मनुष्य सत्वगुण की अत्यन्त वृद्धि कर देह छोड़ता है तो वह उत्तम, ज्ञानवान तथा निर्मल लोकों में जन्म लेता है, यदि रजोगुण की उपासना करते-करते मरता है, तो कर्म में आसक्त रहने वाले लोक में पहुँचता है और तमोगुण की वृद्धि कर अवसान पावे तो मूढ़ योनि में जन्मता है। ॥१४–१५॥

श्लोक १६ १८

"पार्थ, सात्विक कर्मों का फल प्रसन्न करने वाला, निर्मल होता है और उससे ज्ञान की वृद्धि होती है। राजसकर्मों का फल दुःख देने वाला होता है, और उससे लोभ की वृद्धि होती है। तामस कर्मों का फल अज्ञान है और इससे प्रमाद, मोह और अज्ञान की ही वृद्धि होती है। ॥१६–१७॥

"सत्वगुण में बढ़ने वालों की उत्क्रान्ति—उत्तरोत्तर उन्नति होती है। रजोगुण में रहने वालों की बहुत बड़ा घटी न होकर मध्यम स्थिति रहती है, और तमोगुण में पड़े हुओं की अधोगति होती रहती है। ॥१८॥

'परन्तप, इस प्रकार मैंने तुम्हे तीनों गुणों के लक्षण, तथा उनकी क्रिया एवं परिणाम के भेद समझाये। इन सब में

श्लोक १९–२० सत्विगुण दूसरे दो गुणों की अपेक्षा उत्कृष्ट और उन्नतिकर अवश्य है। फिर भी, यह याद रखना चाहिये कि सात्विक अवस्था अन्तिम साध्य नहीं, वरन साधन ही है। धनञ्जय, अभिमान और आसक्ति चाहे जैसे अच्छे विषय के हों, फिर भी वे बन्धन कारक ही होते हैं, मोक्षदायक हो नहीं सकते। इसलिये सत्वगुण का भी समुचित रूप से उत्कर्ष करने के बाद, तद्विषयक अभिमान और आसक्ति छूटनी चाहिये और उस गुण से भी परे होना चाहिये।

'फिर धनुर्धर, प्रकृति का नियम ही ऐसा है कि दूसरे दो गुणों का पूर्णतया त्याग कर एक ही गुण का अंगीकार करना शक्य नहीं हैं। इसलिये दूसरे दो गुणों का किञ्चित् स्वरूप तो रहेगा ही। एक ही गुण में आसक्त मनुष्य दूसरे नियमों को दुःखरूप समझता है और इस प्रकार आसक्ति से एक गुण में बँध जाता है।

"प्रियवर, यह स्थिति इष्ट नहीं है। वस्तुतः पुरुष (आत्मा) स्वयं सर्वगुणों से परे और अकर्त्ता है। वह केवल गुणों की क्रियाओं का साक्षी है। कर्त्तापन आत्मा का नहीं वरन गुणों का ही है। इसलिये, जिस समय पुरुष तीन गुणों से परे रह कर अपना गुणातीत स्वरूप पहचानता है और तत्वतः यह जानता है कि देह में बसने वाले तीनों गुणों के साथ अपना कुछ सम्बन्ध नहीं है, उस समय वह जन्म, मृत्यु जरा आदि दुःखों से छूटकर ब्रह्म निर्माण को पाता है। ॥१९–२०॥

यह सुन कर अर्जुन को गुणातीत दशा के लक्षण जानने की उत्कण्ठा हुई। उसने पूछा—

"वासुदेव, किन लक्षणों से मनुष्य तीन गुणों से परे हुआ समझा जा सकता है। उसका जीवन व्यवहार किस प्रकार का होता है और गुणातीत दशा को किस प्रकार प्राप्त होता है? कृपाकर यह सब मुझे समझाइये।" ॥२१॥

श्लोक २१–२७

'तथास्तु' कह कर श्रीकृष्ण बोले—

"पाण्डव, कभी ज्ञान प्रधान कभी कर्मप्रधान और कभी मोह (सुस्ती) प्रधान होना चित्त का स्वभाव ही है। बुद्धि को जागृति, प्रवृत्ति तथा निद्रा तीनों की ही आवश्यकता है। विवेकी मनुष्य के लिये इन तीनों को उचित मर्यादा में रखने का प्रयत्न करना उचित है, किन्तु एक का भी अत्यन्त द्वेष करना उचित नहीं। फिर, समझना न समझना यह बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो बुद्धि में रहने वाले ज्ञान तथा अज्ञान दोनो को जानता है और इससे सदा ज्ञानी ही है। इसी प्रकार कर्म में प्रवृत्ति का होना न होना यह भी देह के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों को पहचानने वाला साक्षी है और दोनों का आधार है।

"कौन्तेय, इस प्रकार जो विवेकशील मुनि शरीर और आत्मा का भेद समझे हुए हैं और तीन गुणों को शरीर के साथ संलग्न हुआ देखता है तथा आत्मा को उससे परे देखता है, वह प्रकृति के क्रम से शरीर में कभी सत्वगुण के कभी रजोगुण के और कभी तमो गुण के प्रादुर्भाव अथवा लोप होने पर परेशान नहीं होता। जिस गुण का वेग नहीं होता उसकी उस समय इच्छा करने नहीं बैठता, और जिसका वेग हुआ है उसका द्वेष करने नहीं बैठता। मानों गुणों के उद्भव अथवा लोप के साथ अपना कुछ लेना-देना है ही नहीं, इस प्रकार इन दोनों से परे

उदास (उद्+आस=ऊंचा बैठा हुआ) रहकर बुद्धि की समता स्थिर रखता है, व्यग्र नहीं होने देता। ॥२२-२३॥

"पार्थ, प्राणी सुख-दुःख में समता नहीं रख पाता, इसका कारण गुणों के विषय की आसक्ति और अभिमान ही है। 'मुझमें अमुक गुण तो होने ही नहीं चाहिएं, अथवा अमुक गुण मेरी विशेषता है'— ये दोनों प्रकार के भान आसक्ति और अभिमान दर्शाने वाले हैं। यही मनुष्य को अस्वस्थ कर डालते हैं, जड़ पदार्थों की प्राप्ति तथा हानि से विह्वल करते हैं, प्रिय और अप्रिय के बीच पक्षबुद्धि कराते हैं, निन्दा और स्तुति को धैर्य पूर्वक पचा डालने में असमर्थ बनाते हैं, मान से हर्षित करते हैं, अपमान से शोक-ग्रस्त करते हैं, मित्र का पक्ष करवाते हैं, शत्रु से द्वेष करवाते हैं तथा जुदी-जुदी प्रवृत्तियों में प्रेरित करते हैं और उसे निरर्थक जंजालों में फंसा देते हैं।

"धनंजय, जो विचार शील व्यक्ति इन सब अनुभवों को पार कर चुका है तथा जिसने इनकी सारासारता जानली है, वह इन सब के मूल में रहे तीन गुणों के प्रति आसक्ति और अभिमान का ही त्याग कर, गुणों से परे होता है और इन सब द्वन्द्वों में समबुद्धि स्थापित करता है। ऐसा पुरुष गुणातीत हुआ कहा जाता है। ॥ २४-२५ ॥

"अर्जुन, ऐसी गुणातीत दशा किस प्रकार प्राप्त होती है, अब वह सुन—

"मित्र, केवल बुद्धि से इतना समझ लेने की शक्ति आ जाने से ही गुणों का अभिमान और आसक्ति छूट नहीं सकती। चित्त में गुणों की जड़ दूब के समान इतनी गहरी जमी होती है कि विचार की खुरपी ऊपर-ऊपर चलाने से ही वह निर्मूल नहीं होती। आठ दिन चित्त गुणातीत हुआ मालूम होता है, किन्तु फिर गुणाभिमान का जंगल खड़ा दिखाई देने लगता है।

"इसलिए, गुड़ाकेश, जिस प्रकार खेत को दूब इससे मुक्त करने के लिए कुदाली लेकर जमीन को अच्छी तरह खोदनी पड़ती हैं, जलानी पड़ती है और उसके बाद भी पुष्कल श्रम करना पड़ता है उसी तरह गुणासक्ति को दूर करने के लिए अच्छी तरह परिश्रम करना पड़ता है।

'प्रथम तो, अर्जुन, इतना समझने के लिए भी बुद्धि सूक्ष्म होनी चाहिये। फिर, यह स्थिति प्राप्त करने योग्य है, ऐसी प्रतीति होने के लिए गुणों का कुछेक मोह तो उतरना चाहिये। इन दोनों के लिए विचार और ज्ञान की आवश्यकता है। अर्थात् सत्वगुण की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि गुणातीत होने के पहिले सात्विक गुण का समुचित रूप से अनुशीलन होना ही चाहिए। जिस श्रेयार्थी की राजस और तामस आसक्ति दूर होगई वह, और केवल सात्विक आसक्ति रही हो तथा रजोगुण-तमोगुण के अनिवार्य अवशेष ही शेष रहते हों, उससे सत्व गुण की आसक्ति छोड़ने तथा अनिवार्य रूप से रहे हुए रजोगुण-तमोगुण का द्वेष न करने की बात कही जा सकती है। किन्तु जो रजोगुण-तमोगुण से घिरा पड़ा है, उसे गुणातीत स्थिति की झांकी तक हो सकना शक्य नहीं है।

"धर्म प्रिय, ऐसे सात्विक गुण का उत्कर्षक परमेश्वर की अनन्य भक्ति बिना शक्य नहीं है। इसलिए अनन्य भक्ति द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली गुणातीत स्थिति सिद्ध होती है। ॥ २६ ॥

"इसलिए, महानुभाव, सब बातों का सार एक ही निकलता है, वह यह कि अविनाशी तथा अविकारी ब्रह्म के भी आधाररूप, सृष्टि के बीच सब सनातन धर्मों का आधाररूप एवं एकान्तिक सुख का मूल रूप परमात्मा ही है, और उसमें अनन्यनिष्ठा यही साधन है, साथ ही वही साध्य भी है।"

पन्द्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तम-स्वरूप

अर्जुन की शंकाएँ

श्री कृष्ण द्वारा किया हुआ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का, प्रकृति पुरुष का, तीन गुणों का और गुणातीत स्थिति का निरूपण अर्जुन ने ध्यानपूर्वक सुना और भिन्न-भिन्न दर्शनकारों के भिन्न-भिन्न मत जाने । किन्तु ज्यों-ज्यों इस विषय का वह विचार करता गया, त्यों-त्यों उसे अनेक बातों की उलझन बढ़ती गई। इस से, उसने इस विषय में श्रीकृष्ण का अपना निज का क्या मत है, यह जानने की इच्छा से उनसे पूछा—

"माधव, आपने वेदान्त की दृष्टि से ब्रह्म का निरूपण किया और यह कहा कि ब्रह्म ही सब का आधार और मूल है तथा उसी में से सृष्टि का विस्तार हुआ है। फिर, सांख्य दृष्टि से समझाते हुए आपने यह कहा कि उनके मतानुसार प्रकृति और पुरुष इन दो अनादि तत्वों से सृष्टि का विस्तार हुआ है। इन दोनों में से कौन सा मत ठीक है, इस विषय में मैं निर्णय नहीं कर पाता। आप स्वयं वेदान्त के पक्ष में मत देते प्रतीत होते हैं, किन्तु आप किस कारण से इस निर्णय पर पहुँचते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आया । प्रथम दृष्टि में मुझे तो प्रकृति और पुरुष जैसे कम-से-कम दो तत्वों को स्वीकार किये बिना काम चलता दिखाई नहीं देता। एक ही ब्रह्म में ऐसे परस्पर विरोधी भेद किस प्रकार हो सकते हैं ? वह जड़ और चेतन दोनों किस प्रकार हो सकता है ? इस ज्ञान स्वरूप चैतन्य में से परिपूर्ण और एक-दूसरे से शत्रुत्व रखने वाले जीवों का निर्माण कैसे होता है। यह अज्ञान कहाँ से आया

यह सृष्टि इस में से किस प्रकार उद्भव हुई ? इस निर्विकार में विकार किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

"वासुदेव, जब में इन प्रश्नों का विचार करता हूँ तो मुझे सांख्य दर्शन का विचार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कारण कि इसमें मूलतः ही अनेक पुरुषों का अस्तित्त्व स्वीकार किया गया है और प्रकृति की भी अनन्तता स्वीकार की गई है। किन्तु इस विचार को स्वीकार करने जाते हुए फिर एक दूसरी ही कठिनाई उत्पन्न होती है। असंख्य और एक-दूसरे से स्वतन्त्र के समान पुरुषों से भरा हुआ यह विश्व मानों किसी एक ही नियन्ता के अधीन हो, इस प्रकार एक ही प्रकार के नियमों के वशवर्ती रहता हुआ किस प्रकार प्रतीत होता है ? ये सब पुरुष इस प्रकार आचरण करते दिखाई देते हैं मानों वे किसी दूसरी सत्ता के अधीन हों। फिर, एक जीव दूसरे में से उत्पन्न होता है और दूसरे में समा भी जाता है, तब इन दो पुरुषों का सम्बन्ध किस प्रकार रहता है ? इस प्रकार इस दृष्टि से भी कुछ अधिक स्पष्टता नहीं होती।

"ज्ञान-सूर्य, इसलिए इस प्रकार मेरी बुद्धि में प्रकाश डालने का अनुग्रह कीजिए, जिससे इन सब प्रश्नों का स्पष्टीकरण हो जाय।"

श्लोक १–३ अर्जुन की शङ्काएं सुन कर श्रीकृष्ण ने कुछ क्षण यह विचार किया कि किस प्रकार उसका समाधान हो सकेगा। फिर बोले—

"अर्जुन, तेरी सब शङ्काओं के मूल में मुख्य प्रश्न तो एक ही है। वह यह कि जगत् क्या है ? उस का काम क्या है ? वह कहां से आया है ? इस का आरम्भ कहां है और अन्त कहां है और इस में मनुष्य का क्या स्थान है ? संक्षेप में, तेरा प्रश्न जगत् के विषय में है, आत्मा के विषय में नहीं। तुझे जगत् को समझना है और उसके आदि मध्य तथा

अन्त की जानकारी प्राप्त करना है। यही तेरी शङ्का है न? मेरा ख़याल ठीक है न?"

अर्जुन ने उत्तर दिया—"गुरुदेव, आप ने ठीक कहा है। मेरी शङ्काओं को आपने एक ही वाक्य में स्पष्ट कर दिया है। अब मुझे इनका उत्तर दीजिए।"

इस पर किञ्चित मुस्कराते हुए श्री कृष्ण बोले—

"प्राणप्रिय, विश्वरूप का दर्शन कर के भी तेरी दृष्टि बहुत विकसित हुई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु इसमें तेरा दोष नहीं है। जगत् का स्वरूप ही ऐसा है। जगत् की समस्या ने बड़े-बड़े मुनियों तक को चक्कर में डाल दिया है। अनेक पण्डित और कवि जुदी-जुदी रीति से प्रकृति का आदि और अन्त खोज निकालने के लिए पच चुके हैं, किन्तु कोई भी उसे पूर्णतया जान नहीं सका। केवल उसके विषय में कल्पनाएं कर कर के ही वे थक गये हैं और सब को अन्त में यह प्रयास छोड़ ही देना पड़ा है।

'इसलिए, गुडाकेश, मैं भी जगत् के विषय में तुझे अधिक उपयुक्त स्पष्टीकरण दे नहीं सकूंगा। युक्तिपूर्वक चाहे जैसी दलीलें करके तेरा अनुचित समाधान करना उचित नहीं। इसलिए जिन बातों का निश्चय किया जा सकता है और जिस का निश्चय न हो सके, उन्हें यथार्थ रूप में बताना ही सत्यनिष्ठ पुरुष का धर्म है।

'इसलिए इस जगत् के विषय में जितना निश्चय पूर्वक कहा जा सकने योग्य है, उतना ही तुम से कहूंगा।

"भारत, कवियों ने जगत की एक बड़े पीपल के वृक्ष के साथ उपमा दी है। किन्तु वह उलटाया हुआ वृक्ष है, ऐसा उस का वर्णन किया है। उसका मुख्य मूल सब से श्रेष्ठ और परे रहने वाले चैतन्य में है, किन्तु इसकी शाखाओं का विस्तार नीचे संसार रूप में है। यह

वृक्ष दिन से अधिक रात में और रात से अधिक दिन में फैलता ही रहता है, और इससे, एक दिन तो क्या वरन् वास्तव में एक क्षण भी एक ही स्थिति में नहीं रहता। इस प्रकार सतत रूपान्तरित होते रहने पर भी इस संसार रूपी वृक्ष का कभी अन्त नहीं आता, इससे इसे अव्यय कहने में भी कुछ हानि नहीं है।

"धनञ्जय समर्थ कवियों ने विविध मन्त्रों में, विविध प्रकार की दृष्टियों द्वारा इस संसार का वर्णन किया है और अपने निजी अनुभव तथा शोध प्रस्तुत किये हैं। ये मन्त्र वेदों के नाम से विख्यात हैं, और वे मानो इस ससार रूपी वृक्ष के पत्ते हैं। संसार का इस प्रकार शोध करने वाले ऋषि वेदवेत्ता कहे जाते हैं।"

"किन्तु, सव्यसाची, संसार का बहुत कुछ शोध करने और अनुभव होने के बाद सब को जिस एक निर्णय पर आना पड़ता है, वह इतना ही है कि यह संसार चारों दिशाओं में असीम रूप से फैला हुआ है, तीन गुणों से पुष्ट हुआ है और विषयों से चित्ताकर्षक प्रतीत होता है। कर्म के रूप में इस वृक्ष से शाखाएं निकल कर मनुष्य लोक में फैली हैं और उसमें जड़ें डाली हैं।

"अर्जुन, इस वृक्ष को कोई भी पूरा पूरा नहीं जान सका है। इसकी रचना ऐसी अटपटी है कि यह कहां से उत्पन्न हुआ, इसका मूल भाग कौनसा है, बिचला भाग कौनसा है, अन्तिम कौन सा है, यह संसार आरम्भ में कैसा था अन्त में कैसा होगा, इस का विस्तार कितना है और कहां तक रहेगा,—इस विषय में कुछ भी पता नहीं लगता। पण्डित जन इस विषय में विचार कर कर के पच चुके हैं, और सारा जीवन इसी विचार में बिता चुके हैं। प्रत्येक विद्वान अपनी बुद्धि के अनुसार इसकी शोध करने का अब भी प्रयास करता रहता है। किन्तु पण्डितों की अपेक्षा भी जो अधिक विद्वान् हैं, उन्होंने देख लिया है कि

इस प्रयास में कुछ तथ्य नहीं है। यह शोध करने से भी कुछ निर्णय हो नहीं पाता उसी तरह शाश्वत सुख का भी कोई मार्ग नहीं निकलता; केवल इसकी डालियों में ही भटकना होता है।

अर्जुन, जिस प्रकार बहुत सी गाटें पड़ी हुई डोरी को सुलझाने बैठने की अपेक्षा उसकी गाँठों को काट डालना ही बुद्धिमत्ता का काम है, उसी तरह इस संसार का भेद खोजने का प्रयत्न करने की अपेक्षा इस संसार को काटकर इसमें से छूट जाने में ही अधिक बुद्धिमत्ता है। स्वयं जहाँ उलझन में पड़ कर बैठा हो, वहाँ अनासक्ति रूपी कुल्हाड़ी से उतना भाग काटते हुए इस वृक्ष की जाल से बाहर निकल पड़ना, यही इस संसार को समझने की और उसमें से छूटने और शान्ती प्राप्त करने की चावी है।

"अर्जुन, जिस प्रकार घर में घुस कर बैठा हुआ मनुष्य यह जान नहीं सकता कि बाहर से घर कैसा दिखाई देता है, अथवा जिस तरह पक्षपात से लीन मनुष्य सत्य को देख नहीं सकता, उसी तरह संसार में आसक्त हुआ मनुष्य संसार के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे तो भी समझ नहीं सकता। एक बार अनासक्ति द्वारा संसार के बाहर निकल पड़े, तो इस संसार को भी अधिक समझ सकेगा, और आत्मा के मार्ग पर लगे बिना न रहेगा। ॥२-३॥

श्लोक ४-६

"धनंजय, सदैव नये-नये रूप धारण करनेवाली अनन्त प्रकृति में आसक्त रहकर उसका अंत खोजने में पचने से न तो जीवन की कृतार्थता प्राप्त होती है और न उसका ब्रह्म मूल ही हाथ लगता है। इसलिए पहले तो अनासक्तिरूपी कुल्हाड़ी इसकी जालों की सी बढ़ी हुई शाखाओं को काट डाल, और फिर जिस मूलवस्तु में से पुराना संसार वृक्ष उत्पन्न हुआ है और जिसमें पहुँच जाने से फिर इसमें फँसना नहीं पड़ता, उस मूल आत्मत त्व

की ही शरण में जा। संसृति कहाँ से हुई? किस प्रकार हुई? कहाँ तक फैली है? कबतक रहेगी? इन प्रश्नों पर ब्रह्माण्ड के अन्त तक चर्चा होती ही रहेगी, किन्तु इनका किसी प्रकार निपटारा न होगा। इन प्रश्नों के मूल में बीजरूप में संसार के प्रति मोह रहा होता है, इस कारण इस के पाश से छुटकारा न हो सकेगा। जिस प्रकार जाल में घुस कर उसका माप निकालने की इच्छा करने वाली मछली उसका माप निकाल नहीं सकती, वरन उस में फँस जाती है, उसी तरह संसार में आसक्त रहकर उसका माप निकालने की इच्छा करने वाला पुरुष उसका माप नहीं ले सकता, वरन उस में बँध जाता है। इसलिए पहिले तू इस जाल को तोड़ कर बाहर निकल कर परमात्मा के स्वरूप की ओर जा और फिर बाहर रहकर जितना पहिचाना जा सके, उतना उसका स्वरूप पहचान ले। इस प्रकार ही तत्व एक है अथवा अनेक हैं, एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है अथवा अनेक आत्मा हैं, ऐसे अतिशय उलझन वाले प्रश्न तेरे लिये सरल हो जायँगे और, तर्क से जो आज समझ नहीं सकता, वह मानों आँख से प्रत्यक्ष देखता हो इस प्रकार प्रज्ञा से समझ जायगा।

"परन्तप, मान और मोह से रहित हुए, आसक्ति के दोष को जीते हुए, परमेश्वर में नित्य रत रहने वाले और उसके सिवा सब कामनाए छोड़ देने वाले सुख-दुःख आदि सब द्वन्द्वों से मुक्त हुए मुनि ही, उस निर्विकार वस्तु को पहुंच सकते हैं, जिसे पहिचानने के लिये सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती, जिस में पहुँचने के बाद फिर से उसके स्वरूप के विषय में संशय पैदा हो ही नहीं सकता और उससे अलग होकर रहा ही नहीं जा सकता।

"कौन्तेय, आत्मा और विश्व को समझने का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।"

॥ ४–६ ॥

"पार्थ, जिस समय तू आत्मतत्व को पहचान लेगा, उस समय तू यह अच्छी तरह समझ जायगा कि जिस प्रकार पानी की

श्लोक ७-११ जुजे-जुजे बिन्दु पानी ही हैं, और अलग होने पर भी शामिल हो सकते हैं, उसी तरह जुदा-जुदा जीवरूप दिखाई देने वाले पदार्थ भी उस अच्युत ब्रह्म के, यों कहना चाहिये कि अंश ही हैं। परंतप, जिस प्रकार छोटा सा बीज अपने में रहने वाली नैसर्गिक शक्ति द्वारा आस पास की भूमि, पानी और हवा में से तत्व खींचकर अपने में से मूल, तना, डाल, पत्ते, फूल तथा फल आदि का विस्तार करता है, उसी प्रकार जीव के मूल में ही रहने वाली स्वभाव सिद्ध शक्ति द्वारा वह चारों ओर फैली हुई प्रकृति में से आवश्यक तत्व खींच कर मन तथा पंचेन्द्रियों का विस्तार करता है और स्थूल शरीर का निर्माण करता है। ॥ ७ ॥

"अर्जुन, जिस प्रकार पक कर वृक्ष से विलग पड़ा हुआ बीज वृक्ष को निर्माण कर सकने जितनी सारभूत सामग्री अपने में भरकर ही वृक्ष से जुदा होता है, जिस प्रकार वायु जहाँ चलती है, वहां से, उसमें रहने वाले गन्ध को खींच लेती है, उसी तरह जीव शरीर से अलग होते समय स्थूल शरीर को निर्माण करने वाली सूक्ष्म इन्द्रियात्मक सामग्री, अपने में भर कर अलग होता है। मन की अध्यक्षता के नीचे रहने वाली पञ्चेन्द्रियों द्वारा वह विषयों को भोगता है और इस भोग से ही अपने शरीर का निर्माण और उसी प्रकार विनाश करता है। ॥ ८-९ ॥

"महाबाहो, इस प्रकार भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाले जीव चाहे शरीर को छोड़ते हों या धारण करके रहते हों अथवा गुणों से लिप्त होकर भोग भोगते मालूम होते हों, तो भी जिस प्रकार अनुभवी और कुशल मनुष्य अपने सामने के मनुष्य को उसकी आँखों से पहचान लेता है, जिस प्रकार राजनीति जानने वाला पुरुष अपने विरोधी के

मन में रहने वाले आशय को उसके विचित्र से आचरण से जान लेता है, जिस प्रकार जासूस पैर की अच्छी छाप से चोर को खोज निकालता है और जिस प्रकार ग्वालन दूध में अंगुली डुबोकर यह जान लेती है कि उसमें कितना मक्खन है, उसी तरह ज्ञानचक्षु से देखने वाले मुनि जीव भाव के मूल में स्थित अविनाशी एवं अविकारी आत्मतत्व को खोज निकालता है मूढ़ इसे नहीं देख सकते, प्रयत्न करने पर भी, चित्त शुद्धि के अभाव में, जिस प्रकार सामान्य पुरुष हीरे अथवा मोती का मूल्य नहीं जान सकता, वे इसे नहीं जान सकते प्रयत्न करने वाले, संयमी तथा शुद्ध चित्त वाले पुरुष को ही आत्मतत्व की पहचान होती है। ॥ १०-११ ॥

श्लोक १२-१५

"महाबाहो, इस प्रकार आत्मतत्व को पहचान कर उस में स्थिर होने वाला मुनि जो वस्तु तर्क करने और समझाने पर भी समझ में नहीं आती, वह मानों प्रज्ञा से देखता हो इस प्रकार जान लेता है। उसे यह निःसंशय प्रतीत होती है कि ब्रह्म ही एक तत्त्व है और वही सर्व सृष्टि का कारण है। वह जानता है कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि का प्रकाश ब्रह्म का ही प्रकाश है, ब्रह्म ही पृथ्वी रूप होकर भूतों को धारण करता है और रस पोषक चन्द्र होकर वनस्पतियों का पोषण करता है, वही जठराग्नि रूप होकर प्राणियों के अन्न को पचाकर उन के शरीर को पोषण देता है; और फिर वही भिन्न-भिन्न जीव रूप में सब के हृदय में रहता हुआ अनुभवित होता है, तथा उन में स्मृति और और ज्ञान तथा विस्मृति और अज्ञान का भान कराता है। वेद जिसकी खोज करते हैं, वर्णन करते हैं अथवा पहिचान करवाते हैं, वह वस्तुतः यह परमात्मा ही है, सर्वज्ञान का जहां अन्त आता है वह यही वस्तु हैं, और सर्व ज्ञान को भी जो जानता है वह भी वह सनातन आत्मा ही है।" ॥१२-१५॥

"अर्जुन, मैं ने तुझे समझाया था कि इस परमदेव की विविध और और अनेक प्रकार की स्वभावभूत शक्तियाँ हैं। इन

श्लोक १६–२० शक्तियों को अनेक लोग शक्ति कहते हैं, कई एक दैव कहते हैं और अनेक इनके लिये बल सूचक पुरुष शब्द का प्रयोग करते हैं। गुडाकेश, इस तरह परमात्मा की शक्ति के दो मुख्य प्रकार क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष के नाम से पहचाने जाते हैं। पदार्थमात्र में दिखाई देते जो बाह्य, नाशमान, और प्रतिक्षण बदलने वाले धर्म हैं, वह इस की शक्ति है। ब्रह्म स्वयं क्षर धर्म और अक्षर धर्म दोनों का आधार और दोनों से परे होने के कारण वह इन दोनों शक्तियों से श्रेष्ठ है। वही तीनों लोकों में व्याप्त, तीनों का आधार और पालक है। इससे लोग और शास्त्र जिस तरह उसे परमदेव, परमेश्वर, परमात्मा पारब्रह्म अथवा परम पुरुष कहते हैं, उसी तरह पुरुषोत्तम नाम से भी इस का वर्णन करते हैं। ॥१६–१८॥

"भारत, इस तरह जो मनुष्य किसी प्रकार के भ्रम बिना, स्पष्ट प्रतीति पूर्वक इस पुरुषोत्तम को पहचानता है, वही सब का सार जानता है। वह फिर यदि सम्पूर्ण भाव से उसी को सेवा करे, उपासना करे और भजन करे, तो इस में कहना ही क्या है? ॥१९॥

"अर्जुन, एक वाक्य से अथवा अनेक वाक्यों से, एक शास्त्र जानकर अथवा सब शास्त्रों का विचार कर जो सार रूप ज्ञान है, वह यही है जो मैं ने तुझ से कहा है। उसे आज ही समझ लिया जाय अथवा कालान्तर में समझा जाय, किन्तु जिस ने इतना समझ लिया है, वही बुद्धिमान है और वही कृतकृत्य होता है।" ॥२०॥

सोलहवाँ अध्याय

दैवी और आसुरी सम्पद

प्रास्ताविक

अर्जुन के प्रश्नों का अन्त नहीं आया था। श्रीकृष्ण ने उस से सर्व शास्त्रों का सार कहा, किन्तु उसके मन को अभी पूरा समाधान हुआ नहीं था इसलिए, तब तक इसके प्रश्न कभी अध्यात्म विषय के आरम्भिक भाग के सम्बन्ध में, कभी मध्य भाग के विषय में और कभी अन्तिम भाग के सम्बन्ध में होते थे। श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा था, वह सब उसकी स्मृति में अङ्कित हो गया था, किन्तु प्रत्येक विषय का निर्णय नहीं हो पाया था। इस से ज्यों-ज्यों शङ्का उत्पन्न होती जाती थी, त्यों-त्यों वह पूछता जाता था।

इस तरह उसने अब निम्न लिखित प्रश्न पूछा—

"हृषीकेश, आपने एक बार कहा था कि, आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य परमात्मा की शरण नहीं लेते और उसे नहीं पहचानते, वरन् दैवी प्रकृति के पुरुष ही उसे भजते हैं। कोई मनुष्य दैवी प्रकृति का है अथवा आसुरी का, यह किस तरह जाना जाय? माधव, मैं खुद अपने हृदय को टटोलता हूँ तो मुझे यह शङ्का होती है कि मुझमें सच्ची मुमुक्षता है भी नहीं। आपने जैसी बतलाई वैसी परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति और निष्ठा के लक्षण मैं अपने में नहीं देखता। मैं देखता हूं कि मुझमें मान, मोह, आसक्ति, सुख-दुःख में विषमता तथा अध्यात्म ज्ञान के सिवा अन्य अनेक ऐहिक विद्याओं के प्रति अनुराग अच्छी तरह भरा हुआ है। इसलिये मैं आसुरी प्रकृति का मनुष्य हूं

अथवा देवी प्रकृति का यह, तथा दैवी और आसुरी प्रकृति के लक्षण मुझे विस्तार पूर्वक कहिये।"

इस पर घनश्याम बोले—

"अर्जुन, मनुष्य अपूर्ण होने से ही आसुरी प्रकृति का नहीं कहाता। मैंने तुझ से बारम्बार कहा है कि जीव की उन्नति दैन्य से ऐश्वर्य की ओर, अधर्म से धर्म की ओर आसक्ति से वैराग्य के प्रति और अज्ञान से ज्ञान की ओर होती है, और अवनति अल्प कार्पण्य से विशेष कार्पण्य के प्रति, छोटे अधर्म से बड़े अधर्म के प्रति, थोड़ी आसक्ति से विशेष आसक्ति के प्रति और अल्प अज्ञान से दृढ़ अज्ञान के प्रति होती है।

"धनञ्जय, राज्य का विस्तार, राज्य की आय, सैन्यबल, युद्ध-सामग्री के भण्डार, जवाहिरात, सोना, चांदी, मूल्यवान वस्त्र, और आभूषणों के भण्डार, सुशोभित महल, धान्य और घास के कोठार, हाथी, घोड़े, ऊँट, गाय आदि पशु इन सब की गिनती पर से राज्य की सम्पत्ति आँकी जाती है और इन की वृद्धि उस राज्य की समृद्धि का लक्षण माना जाता है। इसके विपरीत, राज्य की अल्प मर्यादा, राज्य का ऋण, आत्मरक्षार्थ दूसरे राजा का आश्रय लेने की आवश्यकता, साधनों की अल्पता, खाली पड़े हुए भण्डार, कोठार और पशु शालाएं, खण्डहर तथा मकान, प्रजा में भुखमरी और असन्तोष एवं नौकरों के चढ़े हुए वेतन, इन सब की गिनती पर से राज्य की दरिद्रता का अनुमान होता है और इन की वृद्धि उस राज्य के पतन का चिह्न होता है।

"इस के सिवा, पार्थ, श्रीमन्त के यहां साधन-सामग्री पुष्कल होती है, केवल इतना ही नहीं, वरन वह सब उच्चकोटि की और मूल्यवान होती है, किन्तु दरिद्री के यहां यह बहुत थोड़े परिमाण में ही नहीं होती वरन साथ ही निम्न श्रेणी की टूटी-फूटी और मूल्यहीन होती है।

"कौन्तेय, इसी प्रकार दैवी प्रकृति की सूचक सम्पत्तियां भिन्न प्रकार की होती हैं और आसुरी प्रकृति की सूचक संम्पत्ति—अथवा यों कहो कि आपत्ति भिन्न प्रकार की होती हैं। यह सम्पत्ति उस के चित्त के गुणों में, उसके मन और इन्द्रियों के व्यापार में और उस की सांसारिक प्रवृत्तियों में दिखाई दे जाती हैं। मनुष्य दिनों दिन कैसी सामग्री इकट्ठी करता जाता है, उस सब की एकत्र गिनती पर से यह निश्चय किया जा सकता है कि उस की प्रकृति दैवी है अथवा आसुरी।

"पार्थ, जिस प्रकार एकाध व्यक्ति के पास केवल स्थावर जायदाद ही हो, किन्तु उस के उपयोग कर सकने योग्य अन्य साधनों का अभाव हो, तो केवल स्थावर मिलकियत से ही वह सम्पत्तिवान् नहीं हो सकता; अथवा एकाध प्रकार की सम्पत्ति के अभाव से वह आपत्ति में पड़ा हुआ भी नहीं कहा जा सकता; उसी तरह एकाध गुण की प्राप्ति अथवा अभाव से किसी मनुष्य को दैवी प्रकृति अथवा आसुरी प्रकृति का मान लेना उचित नहीं। प्रत्युत उस की सम्पत्तियों के प्रकार की इकट्ठी गिनती करके ही उसके विषय में निर्णय करना चाहिये।

"इसलिए, मैं तुझ से दैवी और आसुरी प्रकृति के अलग-अलग गुण धर्म कहता हूँ, वह सुन—

"गुड़ाकेश, दिनोदिन निर्भय होते जाना, कठिन प्रसंगों में हतवीर्य न होना, कठिनाइयां देख कर उनका मुकाबला करने की शक्ति संग्रह करना, खतरों में भी धर्म से न डिगने का साहस पैदा करना—यह अभय नाम की एक अत्यन्त मूल्यवान दैवी सम्पत्ति है।

श्लोक १–३

"अर्जुन, जीवों को जन्म से ही भयभीत रहने की आदत पड़ी हुई है, यही इनकी आध्यात्मिक दरिद्रता का बड़े से बड़ा कारण है। स्वयं परमात्मा के ही गुण धर्म वाला, स्वतन्त्र और सम्पूर्ण चैतन्य स्वरूप

होने पर भी, यह अनेक प्रकार से सच्चे अथवा काल्पनिक एवं क्षणिक निमित्तों से डरा करता है और इस लिये अपने धर्म और स्वरूप दोनों से पतित हो जाता है। जरा, मरण, रोग, प्रियजनों का वियोग, सर्दी, धूप, भूख, प्यास, आदि का त्रास तथा भोगों में न्यूनता आदि का ही उसे भय नहीं लगता, प्रत्युत साथ ही यह भय उस में ऐसी अबुद्धि और जड़ता निर्माण कर देता है कि वह छाया तक से डरने लगता है। इस से वह घबराया सा होकर देवी-देवताओं को बलि चढ़ाता है, राज्य के नौकरों से कांपता है, श्रीमन्तों की गुलामी करता है; सर्प, भूत, प्रेत आदिक की पूजा करता है और जिस तिस की खुशामद तथा प्रार्थना करता फिरता है। धनञ्जय, भय जब तक अल्प मात्रा में होता है, तबतक मनुष्य दूसरे को रिझा कर और उस के अधीन रहकर आचरण करता है; भक्ति न होने पर भी भक्ति प्रदर्शित करता है। किन्तु जब भय की मात्रा बढ़ जाती है, तब वह, मनुष्य होते हुए भी सर्प जैसा ज़हरीला बन जाता है और वैर तथा हिंसा का उपासक बन जाता है। आसुरी स्वभाव स्वयं भयभीत रहता है, इतना ही नहीं, बरन उसके परिणाम में वह दूसरों को भी भय से ही वश में करने का प्रयत्न करता है। अर्जुन, भय से अभय प्राप्ति और अभय दान की ओर प्रयाण दैवी भाव हैं; और भय से भयङ्करता, वैर तथा हिंसा बल की ओर गमन आसुरी भाव है। भयभीतता निर्बलता होने के कारण न तो दैवी बल है, न आसुरी बल है, बरन के पामरता है।

"अर्जुन, सत्व संशुद्धि एक दूसरी दैवी सम्पद् है।

सत्व संशुद्धि

"अर्जुन, सत्व, बुद्धि अथवा चित्त का दूसरा नाम है और उस में चित्त की भावनाएँ और उसी प्रकार विचार शक्ति दोनों का समावेश होता है। प्रसन्नता, प्रेम, समभाव आदि कोमल वृत्तियों की तीव्रता, तथा विचार विवेक

तथा न्याय वृत्ति की स्पष्टता एवं सूक्ष्मता इस सत्त्व गुण के उत्कर्ष के परिणाम से ही प्राप्त होती है और ये सब बातें चित्त की न्यून होने के चिह्न हैं। ऐसा निर्मल बना चित्त ही सत्त्व के नाम से जाना जाता है। उस की वृद्धि दैवी भाव है और उस का क्षय आसुरी भाव।

ज्ञानयोग-व्यवस्थिति

"ज्ञान योग की व्यवस्थिति तीसरी सम्पत्ति कही जा सकती है। विचार में, वाणी में और कर्म में व्यवस्था रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्राप्त करने योग्य गुण है। अर्जुन अव्यवस्थित मनुष्य में किसी न किसी प्रकार भी जड़ता और पशुता भी रही जाती है। कई वार अत्यन्त बुद्धिमान मनुष्य तक अत्यन्त अव्यवस्थित देखने में आते हैं, किन्तु तू इसे कभी इनका भूषण अथवा प्रशंसा करने योग्य लक्षण न समझ बैठना। वरन् यह निश्चित जानना कि इन्होंने विवेक, विचार, कर्म कौशल्य और इन्द्रियों तथा मन को समुचित रूप से अभ्यस्त करने में कुछ-न-कुछ न्यूनता रक्खी है। धनञ्जय, यह सम्भव हो सकता है कि अन्य अनेक सद्गुण होने के कारण मित्र और स्नेही जन इस त्रुटि को कदाचित क्षम्य मान कर निभालें, किन्तु इस के साथ व्यवहार करने में यह त्रुटि असुविधा जनक हुए बिना नहीं रहती। साथ ही, इस त्रुटि के कारण वह पुरुष अनेक प्रकार की अन्य दैवी सम्पत्ति होते हुए भी पूर्ण कृतार्थता और समाधान प्राप्त नहीं कर सकता। इस त्रुटि के कारण स्वयं उस को ही पग-पग पर असुविधा उत्पन्न होती है। इस के कारण उसके आरोग्य में एवं व्यवहार में बारम्बार विघ्न उत्पन्न होते हैं, और इस कारण जीवन से कहीं न कहीं असन्तोष रह ही जाता है। अतएव, महारथि, तू ज्ञान और योग में व्यवस्थिति को नगण्य गुण समझ कर उस की उपेक्षा न करना। अत्यन्त परिश्रम करके भी यह सम्पत्ति प्राप्त करने योग्य है।

"अर्जुन, जो यह समझता है कि सोना-चांदी सम्पत्ति है, उसे यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि जुदे-जुदे गहने भी सम्पत्ति हैं, उसी प्रकार सत्त्व संशुद्धि तथा ज्ञान-योग व्यवस्थिति रूपी सोने-चांदी का मूल्य जिसने जान लिया है, उसे दान, इन्द्रिय-निग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय तथा तप आदि में श्रद्धा तथा उसके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। यह बात बिना समझाये ही समझ लेने योग्य है। इसलिये इस विषय में विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं।

दानादि

"किन्तु, मित्र नन्दन, गुरुजन तथा प्रियजन जिसके बदौलत मनुष्य सन्तुष्ट रहते हैं और उसे अपने प्रेम तथा विश्वास का पात्र बनाते हैं, वह सरलता का गुण भी एक महत्व-पूर्ण दैवी सम्पत्ति है। अर्जुन, आसुरी प्रकृति वाले की वक्रता और कपट में ही श्रद्धा होती है और सकारण अथवा अकारण उसी का प्रयोग करता है, इसके विपरीत, दैवी प्रकृति का पुरुष सरलता में ही नीति मानता है और दिन प्रतिदिन इस प्रकार सरलता बढ़ाने का प्रयत्न करता है, मानो वह फिर बाल्यवस्था भोगने की इच्छा रखता है।

सरलता

"प्रियवर, चित्त में मलिनता रहे बिना कपट और वक्रता सम्भव ही नहीं होती और स्वभाव की सरलता बिना समबुद्धि के योग की सिद्धि के सम्भव नहीं होती। इसलिये सरलता को तू महत्व पूर्ण सम्पत्ति जानना। ॥ १ ॥

"अर्जुन, अहिंसा धर्म की ओर प्रगति होना दैवी प्रकृति का एक दूसरा महत्त्व पूर्ण धन है। हिंसा से अहिंसा की ओर गमन श्रेयः साधन है और हिंसा से विशेष हिंसा की ओर गमन अधोगति का साधन है।

अहिंसा

"किन्तु धर्मानुज, अहिंसा के विषय में बड़ी गलत फहमी होती है, इसलिए अहिंसा का क्या अर्थ है यह तू ध्यान पूर्वक समझ ले।"

"परन्तप, जिसमें हम भूख-प्यास, वृद्धि-क्षय, सुख-दुख, प्रफुल्लता-खेद, जरा-व्याधि, जन्म-मरण आदि भावों का थोड़ा-बहुत भी दर्शन कर सकते हैं, उसे हम जीव-सृष्टि कहते हैं। जहां हम इन भावों का दर्शन नहीं कर सकते, उसे हम जड़ सृष्टि कहते हैं।

"अर्जुन, खुद अपने जीवपन के अनुभव से हम जानते हैं कि भूख-प्यास, क्षय-व्याधि, आघात-मरण, तथा कटु वाणी आदि से अपने को खेद तथा पीड़ा होती है और ये वेदनाएँ अपने को प्रतिकूल प्रतीत होती हैं।

"महानुभाव, यह स्वाभाविक ही है। अपना अभ्युदय चाहने वाला, सत्व संशुद्धि द्वारा वेदनाओं को सूक्ष्म रूप से पहचानने वाला दैवी प्रकृति का पुरुष अपने को प्रतिकूल प्रतीत होने वाले कर्मों का दूसरे के प्रति आचरण न करने का व्रती हो। इसीमें से अहिंसा उत्पन्न होती है।

किन्तु, धनञ्जय, विश्व के चक्र की रचना इस प्रकार है कि जीव का धारण-पोषण दूसरे जीवों द्वारा ही होता है। बड़े जीव छोटे जीवों पर ही निर्वाह करते हैं और असंख्य जीव इतने सूक्ष्म रूप से चारों ओर फैले हुए हैं कि श्वासोच्छ्वास से ही ऐसे सैकड़ों जीवों को पीड़ा हुए बिना नहीं रहती।

'धर्म प्रिय, मनुष्य चाहे जितनी दैवी प्रकृति से विभूषित हो, फिर भी, जब तक उसे कुछ भी प्राप्त करने अथवा जानने की इच्छा शेष रहती है, तब तक उसको जीवन के धारण-पोषण की वासना टाली नहीं जा सकती। दैवी प्रकृति वाला पुरुष मृत्यु से डरता नहीं, फिर भी जिस विशेष धर्म के पालन के लिये वह आजन्म पचता रहता है, इसकी सिद्धि के लिये ही वह जीने की इच्छा और आवश्यकता पड़ने

पर मरने की तैयारी रखता है। किन्तु उस के सिवाय दूसरे अनेक धर्मों के पालन के लिये वह प्रयत्न करे तो भी जीवन का धारण-पोषण अशक्य हो जाने की हद तक वह जा नहीं सकता। अर्जुन, किसी समय आवेग के वश होकर वह अपने जीवन को खतरे में डालकर भी अपना व्यवहार करता है, फिर भी इससे उसकी वासना निवृत्त नहीं होती और वह फिर संसार रचने की प्रवृत्ति में पड़ जाता है।

"द्रौपदीप्रिय, इस प्रकार हिंसा कर्म की अनिवार्यता और अहिंसा धर्म का आदर्श, इन दोनों की मर्यादा खोजने के लिए सब दैवी प्रकृति वाले पुरुषों के प्रयत्न चलते रहते हैं।

"अर्जुन, मैं तुझ से कह चुका हूं कि दैवी प्रकृति का अर्थ सर्व राजस-तामस भावों का अभाव नहीं, प्रत्युत राजस-तामस भावों से निकल कर सात्विक भावों की ओर प्रयाण दैवी प्रभाव है, और सात्विक भावों की अवहेलना कर राजस-तामस भावों का अधिक दृढ़तापूर्वक पोषण, आसुरी भाव है। यही बात सब गुणों तथा धर्मों के विषय में कही जा सकती है।

इससे दैवी प्रकृति वाला मनुष्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं होता, किन्तु उसका सतत प्रयत्न विशेष हिंसा से छोटी हिंसा की ओर, अर्थात् अहिंसा की ओर प्रयाण करने का रहता है, और इससे वह अहिंसा-धर्मी कहलाता है।

'पार्थ, हिंसा के दो अंग हैं—द्वेष और पीड़ा। इनमें से द्वेष मानसिक कर्म है और पीड़ा वाणी तथा शरीर का कर्म है।

"पाण्डव, श्रेयः साधन में चित्त शुद्धि मुख्य है; चित्तशुद्धि होने के फलस्वरूप वाणी तथा शरीर के आचार में सहज रूप से जो-जो अन्तर पड़ता है, वही वास्तविक धर्माचरण कहाता है। जिस प्रकार दण्ड के भय से कोई मनुष्य चोरी न करे और भले ही यह आवश्यक भी हो

फिर भी इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह मनुष्य दैव सम्पत्ति वाला है, उसी प्रकार हिंसा के विषय में केवल वाणी और शरीर के आचार का नियन्त्रण आवश्यक होने पर भी इससे दैवी सम्पत्ति बढ़ी है यह नहीं कहा जा सकता।

"इसलिए, कौन्तेय, यह अद्वेषवृत्ति अहिंसा का महत्वपूर्ण लक्षण है और मन में पोषित अद्वेषवृत्ति के परिणाम स्वरूप वाणी और कर्म में जो अहिंसामय आचार होता है, वही इस दैवी सम्पत्ति का बाह्य चिह्न है।

"किंतु, अर्जुन, धर्म का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म और अटपटा है। अनेक संयोगों, परिस्थितियों तथा विषयों का विवेक पूर्वक विचार करके धर्माचरण का मार्ग निश्चित करना पड़ता है। इससे मन की एकाग्रवृत्ति का अनुसरण करके ही वाह्याचरण नहीं किया जा सकता।

"इसलिए अर्जुन, ऐसा होता है कि मन में से द्वेष भाव को पूर्णतया निकाल देने पर भी बाह्यतः दूसरे जीव को पीड़ा पहुंचाने वाले वाणी अथवा शरीर के ऐसे कर्म किये बिना काम नहीं चलता। ऐसी पीड़ा न पहुँचाई जाय तो या तो दूसरे अधर्म होते हैं अथवा, जैसा कि कुछ समय पूर्व कह चुका हूँ, जीवन का धारण-पोषण अशक्यवत् हो जाता है।

"इससे, गुड़ाकेश, दैवी प्रकृति वाला विवेकी पुरुष अहिंसा धर्म का इस प्रकार पालन करता है— मन में से जीवमात्र के प्रति, अत्यन्त अधमशत्रु तक के प्रति किञ्चित द्वेषभाव न रहे, इसके लिये प्रयत्न की पराकाष्ठा करता है। स्पष्टतः स्वधर्मरूप में सिर पर न आ पड़े तब तक वह वाणी से अथवा शरीर से किसी जीव को न खिझाने अथवा न सताने के लिए प्रयत्नशील रहता है। स्पष्ट धर्म हो पड़ने पर हिंसा करने में वह आनन्द नहीं मानता, वरन सङ्कट समझ कर ही

करता है। साथ ही ऐसे धर्म का पालन करने में वह न्यून से न्यून हिंसा करने का मार्ग शोधता है। एक को पीड़ा देने से काम चल जाता हो, तो अनेक को पीड़ित नहीं करता, वाणी से पीड़ित करने से काम चल जाता हो तो शरीर से नहीं करता; ताड़ना से काम हो सकता हो तो घाव नहीं करता, और घाव से चल जाता हो तो वध नहीं करता। इसमें भी जो पीड़ा देनी ही पड़ती है, उसके लिये ऐसे उपाय की योजना करता है जिससे कि उस प्राणी को वह न्यून से न्यून समय सहन करनी पड़े और उसे कम से कम वेदना अनुभव हो।

"क्षत्रिय होने पर भी वह जहाँ-तहाँ युद्ध मोल लेने की इच्छा नहीं करता वरन उसे टालने के लिये सब प्रकार के प्रयत्न करता है। यदि युद्ध अनिवार्य ही हो जाय, तो वहाँ वह धर्म-युद्ध से लड़ता है, कपट-युद्ध नहीं करता। स्त्री, बालक, अतिवृद्ध, विश्वास कर आये हुए, निर्बल, निःशस्त्र शरणागत अथवा निद्रा के वशीभूत शत्रु पर प्रहार नहीं करता। रथी घुड़सवार के साथ नहीं लड़ता। कवच न पहरे हुए के साथ कवच पहर कर नहीं लड़ता। सेना में जिनका काम लड़ने का नहीं, वरन बाजे बजाना रणगीत गाना, सामग्री पूरी करना अथवा शुश्रूषा करना आदि प्रकार का होता है, उन पर इच्छापूर्वक शस्त्र नहीं चलाता। इस प्रकार कठोर कर्म में भी वह अपनी अहिंसा प्रियता बताता है।

"इसके सिवा, अर्जुन, अहिंसक उत्तरोत्तर ऐसे उपायों की खोज करता रहता है, जिससे कि अपने शरीर के धारण-पोषण के लिये भी अन्य जीवों को न्यून से न्यून पीड़ा हो यथासम्भव तो मन्द ज्ञान-शक्ति वाले होने के कारण जिसे पीड़ा की वेदना न्यून होती मालूम होती है, उस वनस्पति-जन्य आहार को ही वह लेता है, मांसाहार में भी अहिंसा धर्म का आचरण करने वाला पुरुष द्वेषभाव को उत्तेजित

किये बिना जिन प्राणियों का वध करना शक्य नहीं होता, आहार के लिये उनका शिकार नहीं करता, और दूसरे प्राणियों का निरुपाय समझ कर ही आहार करता है। साथ ही, वह अन्न का भी इस प्रकार का उपभोग करता है, कि जिससे अकारण ही उसका बिगाड़ न हो।"

इस पर अर्जुन को एक शङ्का हुई। वह बोला—

"माधव, दया-धर्म के उपासक अनेक लोग मांसाहार को वर्ज्य मानते हैं, इस विषय में आपका क्या मत है ?"

"इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण बोले—"अर्जुन, निःसन्देह यह अहिंसा की दिशा की ओर प्रयाण है, और सम्भव है कि भविष्य में केवल वनस्पति से ही जीवन का निर्वाह हो सकना शक्य हो जाय। किंतु, अभी अपने समय में जनता इस प्रकार जीवन निर्वाह कर सके यह शक्य नहीं है। यह सम्भव है कि कालान्तर में वह शक्य हो जाय, किंतु अपने समय में तो अपने जैसे कर्मयोगी के लिये इतना ही शक्य है कि जिस प्रकार शाकाहारी शाक काटते समय शाक के प्रति किसी प्रकार के द्वेषभाव से प्रेरित नहीं होता, उसी प्रकार अपने शरीर को पोषण करने वाले प्राणी के वध में हम द्वेष से उत्तेजित न हों। किंतु, अर्जुन, मेरी धारणा है कि भारतवर्ष में मांसाहार का सर्वथा त्याग करने वाली जनता बढ़ती जायगी। पशुयज्ञों के प्रति बढ़ती जाने वाली अरुचि यह सूचित करती है कि उस दिशा में प्रयाण हो रहा है।

"इस प्रकार पार्थ, समबुद्धि के परिणाम जन्य अहिंसावृत्ति दैवी सम्पत्ति का एक महानव्रत है।

"कुल भूषण, अहिंसा के ही समान महान दैवी सम्पत्ति सत्य है।

सत्य

यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार हाथी के पाँव में सब पाँव समा जाते हैं, उसी प्रकार सत्य में सब व्रत समा जाते हैं।

"पाण्डव, सत्य सम्पत्ति ऐसी तेजस्वी है कि जो आसुरी प्रकृति वाले अपने आचरण में इसकी अवहेलना करते हैं, उनको भी इसकी महिमा स्वीकार करनी पड़ती है। और जिस प्रकार दुष्ट बनिया सोने के बदले उसके समान प्रतीत होती हुई हल्की धातु के सिक्के बनाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इन्हें अर्थात् आसुरी प्रकृति वालों को ऐसा दाम्भिक आचार बताना पड़ता है, जिससे कि वह सत्य प्रतीत हो। किंतु जिस प्रकार बीज पर्वत के टीलों को भी फोड़कर बाहर फूट निकलता है। उसी प्रकार अनेक वर्षों तक ढका रहने वाला सत्य अद्भुत प्रकार से बाहर निकल आये बिना नहीं रहता।

"अर्जुन, गोरी चमड़ी के रंग की एक प्रकार की कान्ति होती है, नीरोगी शरीर का एक प्रकार का तेज होता है, बुद्धिमत्ता में एक प्रकार की चमक होती है, किंतु सत्य की प्रतिमा इन सब से बढ़ जाती है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति कोयले कासा काला, शरीर से रोगी और स्थूल बुद्धि का हो, तो भी उसकी आँख में से निकलते तेज के सामने उपरोक्त तीनों काले पड़ जाते हैं।

"परन्तप, जिसकी यह निष्ठा हो गई है कि सत्य रूप परमात्मा ही सर्व जगत् का फल तथा आधार है, वह जीवन की सब क्रियाओं में सत्य का ही साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। वह असत्य विचार तक को पोषण देने की इच्छा नहीं करता, जिसे स्वयं सत्यरूप जानता है, वही बिना किसी प्रकार की लाग-लपेट के, वाणी द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न करता है, और जिसमें ज़रा भी चोरी न हो, आचरण में ऐसा सत्य व्यवहार करने के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। इससे उसे जीवन के आरम्भ में त्रास अथवा असुविधा होना सम्भव है, किंतु सत्य में श्रद्धा रखने वाला इससे कभी निराश नहीं होता। फिर, विशेष अनुभव से वह यह भी जान लेता है कि सत्य का दुष्कर प्रतीत होता

हुआ मार्ग ही अन्त में सरल, संक्षिप्त और निश्चयपूर्वक फलदायी निकलता है।

"धनञ्जय, असत्य को छोड़कर सत्य का सेवन करना दैवी प्रकृति है। दिनों दिन असत्य में पारंगत होते जाना आसुरी प्रकृति है।

अक्रोध

"तत्पश्चात् क्रोध का शमन एक दैवी सम्पत्ति गिनी जा सकती है। मनोनिग्रह तथा तितिक्षा का ही यह एक भाग है, इसलिए इसका महत्व समझने योग्य है। हिंसा, आपत्ति, रोग, चित्तभ्रम, मरण आदि लाने वाले इस क्रोधरूपी दुर्गुण को जीतना बड़ा कठिन है। इसके मूल में जड़-तामस अहङ्कार अत्यन्त लोभ तथा अदम्य काम रहता है।

"परन्तप, पारा अथवा संखिया जैसे ज़हर को अनेक लोग शरीर की रग-रग में व्याप्त हुए सर्पादि के विष को मन्त्र विद्या से उतारते हैं; इसी प्रकार दैवी प्रकृति वाला पुरुष, क्रोध को मन के मन में ही पचा डालता है, और शान्ति के मन्त्र से दूसरे पर व्याप्त क्रोध को भी उतार देता है।

शान्ति-क्षमा

"अर्जुन, जिस प्रकार कर्ज़ का बोझ उतारने का उपाय खर्च में काट-कसर और परिश्रम है, उसी प्रकार क्रोध का वेग उतारने का उपाय शान्ति और क्षमा है। इसलिए, जिस प्रकार काट-कसर और परिश्रम एक प्रकार की सम्पत्ति गिनी जाती है, उसी तरह शान्ति और क्षमा भी दैवी सम्पत्ति ही है।"

"वीर श्रेष्ठ, अब मैं तुमसे त्याग नाम की दैवी सम्पत्ति का लक्षण कहता हूँ।

"इस दैवी सम्पत्ति से उल्टी आसुरी सम्पत्ति लोभ है। अर्जुन, 'जीव जीव पर निर्वाह करते हैं, यह वचन सत्य की एक ही बाजू है, अथवा जीव जीव पर निर्वाह करते हैं, यह वचन दो अर्थों में सच्चा है और

त्याग

उसका दूसरा अर्थ भी ध्यान में रखना उचित है। इसका पहिला अर्थ यह होता है कि जीव दूसरे जीवों को मारकर अथवा उनकी आजीविका हरण करके निभते हैं। आसुरी प्रकृति वाले इस वाक्य का इतना ही अर्थ करते हैं, और इसी को जीवन-निर्वाह का नियम मानते हैं; किन्तु इसका अर्थ इतना ही नहीं है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि जीव दूसरे जीवों के लिए उदारतापूर्वक और इच्छापूर्वक किए त्याग के बिना निभ नहीं सकते। पशु-पक्षियों की योनि में, तथा मनुष्य योनि में, माता-पिता स्वयं भुखमरी सहकर भी अपने बच्चों का पोषण करते हैं तथा सबल प्राणी निर्बल की बारम्बार सहायता कर निभाते हैं। अर्जुन, जिस प्रकार कुलीन स्त्री अच्छे से अच्छे पदार्थ का स्वयं उपभोग करने में आनन्द नहीं मानती, वरन् अपने पति अथवा बालकों को देकर सन्तुष्ट होती है, उसी प्रकार दैवी प्रकृति वाले पुरुष अपने उत्तमोत्तम पदार्थों का स्वयं उपयोग करके प्रसन्न नहीं होते, वरन् उनके दूसरों के उपयोग में आने पर हर्षित होते हैं। गुड़ाकेश, जो दूसरों की उत्तम वस्तुएँ प्राप्त करने और भोगने की आकांक्षा रक्खा करते हैं, और उसका अवसर ढूंढा करते हैं, यह जान कि वह लोभी पुरुष आसुरी प्रकृति का है। वरन् जिसकी सदैव यह उदार अभिलाषा रहती है कि मेरे पास जो कुछ है वह दूसरे के उपयोग में आवे, ये वस्तुएँ मेरे अधिकार में केवल रक्षणार्थ ही रहें, मेरे अपने निजी स्वार्थपूर्ण उपयोग के लिए नहीं, और ऐसी अभिलाषा से प्रेरित होकर जो स्वयं असुविधाएँ सहकर भी खुद अपने को एवं धन-सम्पत्ति को सदैव दूसरों की सेवा के लिए

अर्पित करता रहता है, यह जान कि वह उदारचरित पुरुष त्याग-वृत्ति वाला है।

"कौन्तेय, असत्य कभी हितकर हो नहीं सकता। किन्तु यदि सत्य वचन दूसरे को हानि पहुँचाने के हेतु से कहा जाय, तो वह सत्य, विष मिले हुए दूध के समान, असत्य जैसा ही होता है। आसुरी प्रकृति के पुरुष ऐसे सत्य का उपयोग करते देखने में आते हैं। इसे चुगलखोरी अथवा पिशुनता कहते हैं। अपैशुन रूपी दैवी सम्पत्ति वाला मनुष्य ऐसी अधम वृत्ति से दूर रहता है। अर्जुन, चुगलखोर व्यक्ति सत्य के प्रतिपादन के लिए एवं कर्तव्य हो पड़ने से चुगली नहीं खाता, वरन् किसी नीच स्वार्थ से प्रेरित होकर ही ऐसा करता है। इसलिए वह सब कुछ सत्य कहता हो तो भी वह असत्य के समान ही दूषित कर्म है। दैवी प्रकृति का पुरुष इस प्रवृत्ति को कभी पोषित नहीं करता।

पैशुन

"धनञ्जय, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी प्राणी को दुःखित देख कर उसे सह न सकना और उस पर दया करके उसके दुःख निवारण के लिए आतुर होना दैवी सम्पत्ति है। इसी प्रकार यह भी तू सरलता से समझ सकेगा कि त्याग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, इससे अलोलुपता—लालची स्वभाव न होना—भी दैवी प्रकृति का आवश्यक गुण है।

दया इत्यादि

"इससे, अरिदमन, जिस प्रकार मक्खन अन्दर बाहर सब तरह नरम होता है, उसी तरह दैवी प्रकृति वाले मनुष्य का हृदय मृदुता से भरा हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

"इसी प्रकार, अर्जुन, लज्जा (ह्री) भी दैवी सम्पत्ति है और निर्लज्जता-आसुरी सम्पत्ति है। पार्थ, सात्त्विक और कोमल हृदय वाले पुरुष

को ताना देने में शिरच्छेद करने की अपेक्षा, अधिक त्रास होता है। अपने से यत्किञ्चित दोष हुआ तो उससे उसे इतनी शर्म (लज्जा) लगती है कि उसे सुधारे बिना तथा उसके लिए उपर्युक्त प्रायश्चित्त किये बिना उसे जीना भाररूप लगता है।

"इससे, ऐसा पुरुष जल्दी में किसी तरह निर्णय नहीं करता और विचारपूर्वक किये हुए निर्णय को तुरन्त बदल नहीं देता। फिर तर्क अथवा दाँवपेचों में उसकी श्रद्धा होती ही नहीं, वरन् सीधे मार्ग जाता है। इससे आसुरी प्रकृति वाले इसे अचपल कहते हैं, किन्तु ऐसी अचपलता तामस नहीं प्रत्युत सात्विक गुण है।" ॥२॥

"अब, दैवी प्रकृति का एक दूसरा विचारने योग्य लक्षण सुन।

तेजस्विता

वह है तेजस्विता। किन्तु तेजस्विता आसुरी भी होती है और दैवी भी, इसलिए तेजस्विता वैसी होनी चाहिए, यह विवेक पूर्वक समझले।

"अर्जुन, यों कहा जा सकता है कि जहाँ जहाँ विशेष रूप से पुरुषार्थ निवास करता है, वहाँ तेजस्विता का गुण है। क्रोध में भी तेज रहता है, पराक्रम भी तेजस्वी है। सूर्य भी तेजस्वी है और चन्द्र भी तेजस्वी है। किन्तु ये सब तेज एक से नहीं हैं।

"इसलिए, अर्जुन, जो तेज अपने को और दूसरे को उद्वेग पहुँचाने वाला और जलाने वाला हो वह तेज दैवी नहीं है। वरन् जो तेज अपने और दूसरों का उत्साह बढ़ाने वाला, उमंग और प्रकाश पहुँचाने वाला हो, वह सात्विक और दैवी है।

"धनञ्जय, दैवी तेज जीवनदायक शक्ति के समान होता है। यह भय, लोभ, काम आदि पर विजय प्राप्त कराकर मनुष्य को धर्माचरण करने की शक्ति देता है तथा सत्य पर दृढ़ रहने का साहस प्रेरित करता है। वह अपनी सत्व हानि होने नहीं देता, उसी तरह दूसरे की सत्व

हानि करने का भी प्रयत्न नहीं करता। वह स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरे को भी प्रकाश देता है। इसके साहस से कायर डर नहीं जाता, किन्तु साहस धारण करता है ऐसा तेज यह दैवी भाव है।

"गुडाकेश, ऐसी सात्त्विक तेजस्विता में से ही सात्त्विक धृति का गुण भी उद्भूत होता है। धृति वाला पुरुष विषम परिस्थिति में भी दृढ़ रहता है, अपनी टेक को कभी नहीं छोड़ता। वह निश्चयी और सत्य प्रतिज्ञा वाला होता है और कठिन प्रसंग में भी नहीं घबराता।

धृति

"अब, एक दूसरी दैवी सम्पत्ति शौच है। शुचिर्भूतता अर्थात् स्वच्छ और पवित्र रहन-सहन इस व्यवस्थिति का बाह्य लक्षण है और शरीर को निरोगी तथा चित्त को प्रसन्न करने वाला है। यह सभ्यता और मांगल्य का सूचक है और मान्य पुरुषों का अनुग्रह प्राप्त करने का साधन है।

शौच

इसके सिवा अद्रोह, अमानिता आदि अनेक दैवी सम्पत्तियाँ गिनाई जा सकती हैं, किन्तु इन सबका विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। जिन मुख्य सम्पत्तियों का विस्तार किया गया है, उनपर से दैवी प्रकृतियों के लक्षण समझे जा सकते हैं।" ॥३॥

"अर्जुन, दैवी सम्पत्ति से उल्टी आसुरी सम्पत्ति है। इसका चलनी सिक्का अज्ञान है, और इस अज्ञान की सहायता से खरीदी जाने वाली दूसरी सम्पत्ति में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता आदि वस्तुएँ आती हैं। स्वयं होता है, उससे अधिक दिखाने का जो प्रयत्न अज्ञानी पुरुष करता है, वही दम्भ कहलाता है। अपने वर्ण, कुल, कौशल्य, राज्यादि सफलता के कारण वह अन्य प्राणियों को जिस तुच्छ भाव से देखता है, वह उसका दर्प है। वह अपनी विशिष्टता का सदैव भाव रखता है, जहाँ-

श्लोक ४

तहाँ उसकी चर्चा करता फिरता है, यह उसका अभिमान है। क्रोध को तो तू पहिचानता ही है। और जिस प्रकार पत्थर पानी से पिघल नहीं सकता उसी तरह कठोर पुरुष के हृदय पर दूसरे को होने वाले दुःखों का असर नहीं हो सकता। यह सब आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं।" ॥४॥

"रिपुसूदन, दैवी सम्पत्तियाँ चित्त को शुद्ध कर आत्मस्थिति की ओर पहुँचाने वाली और आसुरी सम्पत्ति चित्त को मलिन कर दिनों दिन अधोगति और संसृति में डालने वाली होती है।"

श्लोक ५—६

यह सुनकर अर्जुन बोला—

"यदुनाथ, अपने चित्त की खोज करने पर मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता, कि अपने जो आसुरी सम्पत्तियाँ बतलाई, उनका मुझमें अभाव है। मुझे तो ऐसा लगता है कि मुझमें दम्भ भी है, दर्प भी है, अभिमान और क्रोध तो हैं ही, और क्षात्र-धर्म को तो कठोरता का ही दूसरा नाम कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। आह! जो धर्म पिता-पुत्र और गुरु शिष्य में परस्पर युद्ध करवावे, जो सर्पाकार बाणों, भयंकर गदाओं और विषैले शास्त्रों से मूक प्राणियों और मनुष्यों का वध करना सिखावे और जो शत्रु के नगर में आग फिकवावे, इससे बढ़कर दूसरी और क्या कठोरता हो सकती है। इस युद्ध के आरम्भ होते ही इस धर्म-क्षेत्र का स्वरूप कैसा बदल जायगा, इसकी कल्पना करते ही यह अनुमान किया जा सकता है कि मुझमें कितनी कठोरता भरी हुई है। इससे वासुदेव, क्षात्रधर्म में रहने वाले मुझ जैसे प्राणी की प्रवृति दैवी गिनी जाय, तो फिर आसुरी प्रकृति भी कही जायगी?"

इस पर श्रीकृष्ण बोले—

'पार्थ, अकारण शोक न कर स्वभाव के कतिपय दोषों के कारण और क्षात्रधर्म के कारण जो कठोर कर्म करने पड़ते हैं, उनसे तू अपने

को आसुरी न समझ। तू दैवी प्रकृति युक्त ही जन्मा है। मैंने आसुरी प्रकृतियाँ का संक्षेप में ही वर्णन किया है, इससे तू इस प्रकार हताश हुआ है। इसलिए मैं अब आसुरी स्वभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"कंसारि, आप आसुरी स्वभाव का वर्णन करें। उससे पहिले मैं आपसे एक प्रश्न पूछ लेना चाहता हूँ। वह यह कि दैवी और आसुरी इस प्रकार दो प्रकार की प्रकृतियाँ होने का कारण क्या है। कितने ही अधोगति की ओर जाते हैं और कितने ही उन्नति की ओर प्रयाण करते हैं, यह किस प्रकार होता है?"

श्रीकृष्ण ने कहा—'पार्थ, तत्वचिन्तकों का मानना है कि दैवी और आसुरी दो प्रकार के सर्ग सृष्टि के आरम्भकाल से चले आते हैं और सदैव बने रहेंगे, सत्व, रज और तम ये तीन गुण अनादि, शाश्वत् और समशक्ति होने वाले होने के कारण विश्व में कहीं और किसी समय सत्वगुण की वृद्धि होती है, कहीं और किसी दूसरे समय रज-तम की वृद्धि होती है। इससे कुछ जीवों में उत्तरोत्तर सत्वगुण का बल बढ़ता है, तो कितनों ही में दूसरे दो गुणों में से एकाध का बल बढ़ाना सम्भव होता है। परन्तु सत्पुरुष यह श्रद्धा रखते हैं कि प्रत्येक जीव को किसी समय, जन्मजन्मान्तर में भी, सत्वगुणी होना सम्भव है ही, कारण कि जीव भले ही राजस और तामस भावों में कितना ही उतर पड़े। फिर भी उसमें सत्वगुण बीज रूप में अवश्य रहता है, वह किसी समय उदय होकर बलवान हो जाता है। किन्तु, कौन्तेय, इस सुयोग के अशक्त न होने पर भी, यह इतना अधिक दुर्लभ है कि व्यवहारिक-दृष्टि से यह कहा जाय तो अत्युत्तम होगी कि आसुरी भाव वाले के लिए अधःपात ही निश्चित है। साधु पुरुष इस पर से ऐसा बोध देते हैं कि मानव देह का प्राप्त होना ही वह शुभ काल और शुभ योग है। यह शुभ योग प्राप्त

करके भी जो जीव आसुरी भाव का ही पोषण करता है उसके लिए यह कहा जायगा कि वह अनन्त कहे जा सकने योग्य दीर्घकाल तक अधोगति को प्राप्त होना ही पसन्द करता है। इसलिए विचारवान् पुरुष को मानव जन्म प्राप्त होने के सुअवसर का दैवी भाव पोषित करने में लाभ उठा लेना चाहिए।" ॥५-६॥

अर्जुन ने कहा—'माधव, अब आसुरी प्रकृति का विस्तार के साथ वर्णन करो।'

श्रीकृष्ण बोले—"धनञ्जय, आसुरी जनों में मुख्य कमी होती है विवेक का अभाव। कहाँ तो कर्म में प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिये, और कहाँ उतने ही प्रयत्न से उसे कर्मों का त्याग करना चाहिये, यह बात वे नहीं समझते।

श्लोक ७–२०

उनमें यह भावना नहीं होती कि जीवन एक पवित्र वस्तु है। एक प्रकार का यज्ञ सा है। चित्त को पवित्र रखना चाहिए, शरीर द्वारा पवित्र ही आचार होने चाहिएँ, इस प्रकार की नीति-धर्म सम्बन्धी दृष्टि को वे वहम या पागलपन समझ कर उसका मज़ाक उड़ा देते हैं। इससे सत्य के प्रति भी उनके मन में आदर ही नहीं होता, तब उसके लिए आग्रह तो होगा ही कहाँ से? सत्य नीति आदि को वे अपने हेतु अथवा उद्देश्य-सिद्धि का साधन समझते हैं और हेतु-सिद्धि को ही मुख्य समझने के कारण वे साधनों के शुद्ध होने की परवा नहीं करते। इसलिए यदि उन्हें असत्य अथवा अनीति द्वारा अपना हेतु सिद्ध होना शक्य प्रतीत होता हो तो वे तत्काल उसका आश्रय ले लेते हैं। ॥७॥

"फिर, पार्थ, वे जीवन को गर्भाधान से आरम्भ होकर मरणपर्यन्त ही टिकने वाली वस्तु समझते हैं। संसार को शून्य आकाश में निर्माण हुआ और अनेक कल्पों तक फिरते रहकर फिर शून्य हो जाने वाला मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि यह कोई सनातन, अविनाशी तथा

अव्यय चैतन्य शक्ति के आधार पर बना हुआ, उसी के आधार पर टिका हुआ एवं उसी में लीन होने वाला है तथा किसी सनातन नियम के आधीन है। वे यह समझते हैं कि कतिपय कारणों से जड़ पंचभूतों में चैतन्य का विकार उत्पन्न होता है, प्राणियों की काम-वासना उसकी उत्पत्ति का तात्कालिक निमित्त कारण है, और अनेक प्रकार के सुखोपयोग के सिवा जीवन का और कोई दूसरा हेतु अथवा उद्देश्य नहीं है।

"परंतप, अपनी ऐसी दृष्टि बनाए रखने के कारण ये अभागे मन्द-बुद्धि वाले अकर्मी संसार का अहित तथा क्षय करने वाले उग्र कर्मों की प्रवृत्तियाँ करते हैं।

"अर्जुन, जिस प्रकार कबूतर यदि रात को अपने बैठने की जगह से चूक जाय, तो उस समय देख न सकने के कारण सफ़ेद दीवार को आगे जाने का रास्ता समझकर बार-बार उसपर चक्कर काटता रहता है, अथवा काच या शीशे पर सिर टकरा कर उसमें से पार होने का प्रयत्न करता है, अथवा जिस प्रकार पतङ्गे दीपक के प्रकाश से मोहित होकर इस आशा से कि वहाँ कुछ खाने को मिलेगा भले-बुरे का विचार न कर एक दम उसमें कूद पड़ते हैं, उसी तरह अपवित्र जीवन वाले आसुरी मनुष्य मोहवश होकर अधर्म का ही आग्रह रखते हैं। इनकी कामवासना सदैव अतृप्त रहती है और इनमें लज्जा एवं मर्यादा कतई नहीं रहती। जिस तरह घूरा दुर्गन्ध से भरा होता है, उसी तरह ये दम्भ, मान और मद से सदैव भरे रहते हैं। ॥१०॥

"किन्तु पाण्डव, जो लोग असत्य के आधार पर जीवन बनाते हैं, उनके जीवन में सुसम्बद्धता और मेल नहीं होता। इसलिए, एक ओर तो वे यह मानते हैं कि कामोपयोग ही जीवन का लक्ष्य है और मरने के बाद कुछ शेष नहीं रहता, तिसपर भी दूसरी ओर केवल जीवन तक की ही चिन्ता नहीं करते वरन् पृथ्वी के प्रलय तक की चिन्ता करते हैं।

अपनी सन्तान पीढ़ी-दर पीढ़ी तक अटूट सम्पत्ति का किस प्रकार भोग करती रहे, इसके लिए वे मरण पर्यन्त हाय तोबा करते रहते हैं; हज़ार अथवा दो हज़ार वर्ष आगे की अपनी सन्तति का निर्वाह किस प्रकार होगा, इसकी चिन्ता में संलग्न रहते हैं, और उनके लिए इस समय से जीवित प्राणियों को दुःख देते हैं और यद्यपि अपने जीवन के अस्तित्व को मृत्यु तक ही मानते हैं, लेकिन फिर भी अपने राज्य और सम्पत्ति के लिए तो ऐसा समझते हैं, मानो वह 'यावचन्द्र दिवाकरौ' रहने वाली है ॥११॥

"फिर, इन कामक्रोध परायण लोगों की यह कल्पना होती है कि इन वासनाओं की जितनी वृद्धि होगी उतना ही जीवन-सुधार होगा। इस से उनके चित्त सैंकड़ों प्रकार की वासनाओं में संलग्न रहते हैं और वे वासनाएँ केवल काम और भोग की ही होने के कारण उनकी तृप्ति के लिए वे अन्याय करके भी धन-संग्रह की इच्छा रखते हैं। ॥१२॥

"पार्थ, आज इतनी प्राप्ति हुई, अतः अब मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध हो जायगा; मेरे पास इतना धन है और उसमें इतनी वृद्धि होगी; अमुक शत्रु को मैंने हराया है, अब दूसरे को पछाड़ूंगा; मैं ही सब का नियंता हूँ, मैं ही सब भोगों का अधिकारी हूँ, मैं ही यशस्वी बलवान और सुखी हूँ और सम्पत्ति में कुल में अथवा बल में कोई मेरी समानता नहीं कर सकता। अब फिर मैं यज्ञ के समारोह करूंगा। ऐसे दान दूँगा जिस से कि मेरा नाम अमर रहे और जवानी की हविस पूरी करूँगा। इस प्रकार के अज्ञान से मोहित हुए, मोहकता के जाल में फँसे हुए, अनेक प्रकार की इच्छाओं के कारण विह्वल से रहने वाले, काम और भोग में ही आसक्त ये लोग घोर अवनति को ही प्राप्त होते हैं। ॥१३-१६॥

"कौन्तेय, मान के भूखे, शरीर की सुन्दरता और यौवन के मदमाते, धन के और अधिकार के मद वाले, और अपने ही मन से अपने को श्रेष्ठ

समझ कर फूल उठने वाले, ये लोग अपनी समृद्धि दिखाने तथा नाम प्राप्त करने के लिए बिना किसी विधि के दम्भपूर्ण यज्ञ करते रहते हैं। ॥१७॥

"अहंकार, बल, दर्प, काम, तथा क्रोध इत्यादि से भरे हुए ये लोग अपने में तथा प्राणियों में बसने वाले परमात्मा का अनादर और सद्गुणों की निन्दा करते हैं।" ॥१८॥

'गुड़ाकेश, कर्म-फल का देने वाला परमेश्वर भी इन विद्वेषी तथा क्रूर नराधमों को बारम्बार आसुरी योनि में ही डालता है, और जन्म-जन्मांतर तक आसुरी योनि में ही पड़कर वे कभी परमात्मा को नहीं पहचानते, प्रत्युत् अधोगति को ही पाते हैं।" ॥१९-२०॥

यहाँ अर्जुन ने एक प्रश्न पूछा—'भगवन्! आसुरी प्रकृति में न फँसने के मुख्य उपाय क्या हैं?" श्रीकृष्ण ने

श्लोक २१-२४

कहा—"पाण्डव, अधःपात करने वाले, नरक द्वार के समान, काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रमुख विकार हैं। जो इन तीनों दरवाज़ों को उलांघ जाता है, वह बच जाता है और अपना श्रेय-साधन कर सकता है। जो इन दरवाज़ों में अटक जाता है, वह आसुरी प्रकृति में फँस जाता है, और जिस तरह जाल में फँसी हुई मछली का, अथवा पिंजरे में फँसे हुए चूहे का उससे छूटना कठिन हो जाता है, उसी तरह इसका अधःपात से बचना कठिन हो जाता है। ॥२१-२२॥

"इसलिए सत्शास्त्रों का मार्ग सुरक्षित मार्ग है। सत्पुरुषों के अनुभवपूर्वक बताए अभ्युदय के मार्ग को जो छोड़ देता है और अपनी इच्छा से ही कर्म-अकर्म का विचार करता है, वह सिद्धि, सुख अथवा उत्तम गति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए मनुष्य को, क्या करने योग्य और क्या न करने योग्य है, इसके निर्णय के लिए सच्चे शास्त्रों का

मनन करना चाहिए। सत्पुरुषों ने अपने जीवन के अनुभव से, सत्कर्म, व असत्कर्म तथा कर्म करने की सच्ची विधि का निर्णय किया है, मनुष्य को उन्हीं का अनुसरण करके कर्म-अकर्म का निर्णय करना चाहिए। अर्जुन जिस प्रकार द्रोण आदि कुशल गुरुओं की सेवा करने से तू युद्धस्थल में निपुण हुआ है, उसी तरह सत्पुरुषों की सेवा कर धर्म शास्त्र में निपुण हो।" ॥ २३-२४ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

गुण से क्रियाओं का भेद

जो शास्त्र-विधि को छोड़कर अपने इच्छानुसार कर्माचरण करता है अथवा छोड़ता है, वह सिद्धि प्राप्त नहीं करता, यह सुन कर अर्जुन विचार में पड़ गया। उसने कहा—

श्लोक १

"हृषीकेश, शास्त्रों को तो विद्वान् ही जानते हैं और वे भी सच-मुच जानते हैं या नहीं, यह शङ्कास्पद है। क्योंकि, शास्त्रों में भिन्न २ मत होते हैं और शास्त्री लोग भी एक ही शास्त्र के जुदे-जुदे अर्थ लगाते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य किस पुस्तक को सत्शास्त्र माने और किस को असत्? और शास्त्रों की इस प्रकार की गड़बड़ी के कारण यदि कोई व्यक्ति शास्त्रों को एक ओर रख कर केवल श्रद्धा से आराधना करे, तो उसकी निष्ठा त्रिगुणों में से कौन से गुण की कही जायगी?" ॥१॥

यह सुन कर श्रीकृष्ण बोले—

"अर्जुन, देखने में तेरी शङ्का ठीक है। किन्तु उसमें तू समझता है इतनी कठिनाई नहीं है; क्योंकि सारासार विचार करने की शक्ति मनुष्यमात्र में मौजूद है, और प्रत्येक मनुष्य जान अथवा अंजान में कुछ न कुछ उस शक्ति को काम में लेकर सत् असत् शास्त्र का भेद करता ही है। इससे यदि कोई व्यक्ति असत् शास्त्र को सत् शास्त्र माने सच्चे को झूठा माने तो इसका कारण बहुत कर यही होता है कि असत् अथवा बुरे कर्मों में ही उसकी श्रद्धा रहती है।

श्लोक २—३

"अर्जुन, त्रिगुणों के आविर्भाव के अनुसार मनुष्य की श्रद्धा ही तीन प्रकार की होती है और जैसी उसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही उसका निर्णय होता है। यदि श्रद्धा सात्विक होती है, तो वह सात्विक शास्त्रों को (अर्थात् शास्त्रों में के सात्विक भाग को) राजस-तामस शास्त्रों से (अथवा वैसे भागों से) जुदा करता है और सात्विक को पसन्द करता है। उसका अर्थ करने में भी वह सात्विक दृष्टि रखता है। वह यदि रचयिता होता है तो सात्विक शास्त्र ही बनाता है। इसी प्रकार राजसी और तामसी श्रद्धा वाले लोग क्रमशः उसी प्रकार शास्त्रों का विचार और रचना करते हैं। शास्त्रों की इस प्रकार की विविधता के कारण कठिनाई अवश्य उपस्थित होती है; किंतु अन्त में मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुसार ही निर्णय करता है। जिस प्रकार के कर्म अथवा जीवन में मनुष्य की श्रद्धा होती है, उसी को देखकर वह सज्जन अथवा दुष्ट कहा जाता है।" ॥२—३॥

श्लोक ४–६

"इस प्रकार, अर्जुन जिनकी श्रद्धा सात्विक है, वे आराधना भी सात्विक देवताओं की करते हैं, जो राजस वृत्ति के होते हैं, वे यक्ष-राक्षस आदि की आराधना करते हैं, और तामसी श्रद्धा वाले भूत-प्रेत आदि की पूजा करते हैं।" ॥४॥

"इसी तरह जो दम्भ और अहंकार से युक्त हो, काम, राग और बल से भरे होते हैं, वे किसी भी शास्त्र से सम्मत न होने वाली, घोर, बुद्धि-रहित, शरीर इन्द्रियों तथा अवयवों को पीड़ा देने वाली, मन को रोमाञ्चित करने वाली एवं आत्मा तक का नाश कर देने वाली आराधना करते है। यह समझ कि वे आसुरी निश्चय वाले हैं।" ॥५—६॥

श्लोक ७–१०

"धनञ्जय, आराधना की तरह, तीनों प्रकार की श्रद्धावालों के आहार, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके भेद भी सुन। ॥७॥

"पहिले आहार के भेद सुन —जो आहार आयु, तेज, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ाने वाले हों, वे सात्विक कहलाते हैं और वे सात्विक जनों को प्रिय होते हैं। ये आहार स्वाभाविक रस वाले, स्वाभाविक चिकनाई वाले तथा जल्दी न बिगड़ने वाले और चित्त को प्रसन्न करने वाले होते हैं। ॥८॥

"किंतु राजसवृत्ति के मनुष्यों को ऐसे आहार से सन्तोष नहीं होता। उन्हें तो कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरमागरम, तेज़-चटपटे; रूक्ष मुह और कलेजे में झलझलाहट देने वाले और परिणाम में दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले पदार्थ खाना ही अच्छा लगता है। ॥९॥

"इससे भी आगे बढ़ कर तामसी लोगों को तो प्रहरों बीते हुए (ठण्डे) स्वाद और रस से हीन, बदबूदार, रात के बासी, दूसरों के जूठे किये हुए और अपवित्र भोजन ही रुचिकर होते हैं।" ॥१०॥

"अब, कौन्तेय, तीन प्रकार के यज्ञों के लक्षण सुन—

श्लोक ११–१३ कर्तव्य कर्म समझ कर, फल की इच्छा बिना, विधिपूर्वक मन को एकाग्र कर जो यज्ञ किये जाते हैं, वे सात्विक कहाते हैं।" ॥११॥

'फल की इच्छा रख कर अथवा दम्भ की ही इच्छा से जो यज्ञ होते हैं, वे राजस यज्ञ हैं।" ॥१२॥

"बिना किसी विधि के अन्न उत्पन्न किये बिना अपने परिश्रम से रहित) मंत्र और दक्षिणा से रहित और श्रद्धाविहीन यज्ञ तामस यज्ञ है।" ॥१३॥

"भरत श्रेष्ठ, इसी तरह तप भी तीन प्रकार के होते हैं। किंतु

श्लोक १४ १६ उनके भेद जानने के पहिले तप का अर्थ क्या है यह समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि इस विषय में लोगों की कल्पनाएँ बड़ी विचित्र होती हैं।

"महाबाहो, शरीर से, मन से, तथा वाणी से इस प्रकार तीन तरह का तप होता है।

"इनमें शरीर द्वारा, देव, ब्राह्मण, गुरुजनों और ज्ञानियों का आदर-सत्कार, स्वच्छ और पवित्र आचार, शरीर को सरल (स्थिर और सीधा) रखने की आदत तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये शारीरिक तप हैं।" ॥१४॥

"किसी को उद्वेग न पहुँचाने वाले, लेकिन फिर भी सत्य, प्रिय तथा हितकर वचन बोलना और निरंतर सद्विद्या की उपासना—पठन, पाठन—करना वाणी का तप है। ॥१५॥

"पार्थ, मन की प्रसन्नता, कोमलता, विचारशीलता (मौन) और संयम बढ़ाना तथा भावनाओं की शुद्धि करना मानसिक तप है। ॥१६॥

"अर्जुन, शरीर, वाणी अथवा मन को चाहे जिस तरह कष्ट देना कुछ तप का मर्म नहीं है। वरन् जिस प्रकार अन्न पकाने से पाचक बनता है, फल जिस प्रकार सूर्य की किरणों से पक कर मीठे बनते हैं, उसी तरह शरीर, वाणी और मन को कस कर शीलवान बनाने का नाम तप है। तप के फलस्वरूप इन तीनों की कर्तृत्व शक्ति बढ़ती है, घटती नहीं।

ऐसा तीनों तरह का तप अत्यंत श्रद्धा से और फल की आकांक्षा बिना किया गया हो, तो वह सात्विक तप कहलाता है। ॥१७॥

"यही तप, सत्कार, सम्मान अथवा पूजा कराने के लिए, दम्भ से किया हो तो राजस है। ऐसा तप चञ्चल तथा अनियमित होता है।" ॥१८॥

"किसी तरह की गूढ़ हठ से, अपने को पीड़ा देने अथवा दूसरे को हानि पहुँचाने की इच्छा से जो शरीर, वाणी अथवा मन को त्रास दिया जाता है वह तामस तप है।" ॥१९॥

"पार्थ, दुःख में पड़े हुए की आर्थिक सहायता करना दया-धर्म है और सत्कर्मों को निभाना दान है। दया मनुष्यता का

श्लोक २०—२२ लक्षण है। इसका अभाव मनुष्यता की ही कमी कहलाती है। दान-शीलता मानव धर्म का सद्व्यवहार है। किंतु विवेक के तथा उसी तरह चित्त-शुद्धि के अभाव से दान के तीन भेद होते हैं।

"अर्जुन, डूबते हुए मनुष्य को हाथ पकड़ कर किनारे पर लाना धर्म है, किन्तु यदि कोई उत्तम तैरने वाला गाँव के लोगों से कहे कि जब तक मैं जीवित हूँ, तब-तक आप में से किसी को तैरना सीखने की आवश्यकता नहीं, मैं आप सब को हमेशा मुफ्त में किनारे लगाता रहूँगा', तो इस सेवामें सद्भाव तो है, किन्तु विवेक नहीं। उसका धर्म है कि वह गांव के लोगों को तैरने की कला सिखा कर उन्हें जहाँ तक हो सके स्वावलम्बी बनावे। उसे अपनी विद्या का लोगों को दान करना चाहिए।

"इसी प्रकार, गुड़ाकेश, यदि किसी मनुष्य की दानशीलता दान लेने वाले को सदैव पराधीन एवं पराश्रित ही रखने वाली हो, तो वह अविवेक पूर्ण है। उसका लक्ष्य यह होना चाहिए कि उसके दान के परिणाम से दान लेने वाला स्वाश्रयी बन जाय और अपनी कठिनाइयों से छूटने की शक्ति प्राप्त करले।

इसी तरह, पाण्डव, भूखे को रोटी देना और उस समय उसे भूख के दुःख से बचा लेना दया-धर्म है। किन्तु, उसे उचित मार्ग पर लगा देने, और इस आशय से उसकी सहायता करना कि वह अपनी रोटी स्वयं अपने आप प्राप्त कर ले, यह दान है।

"इस प्रकार, परंतप, सामुदायिक अथवा निजी रूप से कोई ऐसी प्रवृत्ति चलाना तथा निभाना, जिससे कि जनता को आरोग्य और ज्ञान प्राप्त हो तो वह दान है।

"कौन्तेय, यह समझकर कि ऐसी दानशीलता मानव-धर्म ही है, अपने पर जिस का कोई पूर्व उपकार न हो, उसे उचित समय पर उचित स्थान पर, उचित प्रमाण और उचित रूप में, उसकी पात्रता का विचार कर सहायता करना सात्विकदान है। ॥ २० ॥

"किन्तु, अपने पर हुए पूर्व उपकार का बदला चुकाने, अथवा इस दान के परिणाम में अपने को अमुक प्रकार के लाभ होंगे, वह हिसाब लगाकर तथा प्रसन्नता से नहीं, वरन् अपने जी को दुखा कर किये जाने वाले दान राजस हैं। ॥ २१ ॥

"धनंजय जिस दान में देश, काल अथवा पात्र का कुछ विचार न होकर, दान लेने वाले के प्रति तिरस्कार का भाव होता है और अपमान पूर्वक दिया जाता है, वह तामस दान है। ॥ २२ ॥

"अब तुझे जो कुछ जानना हो वह बता"

प्रश्न के आमन्त्रण से हर्षित होकर अर्जुन बोला —

"हृषीकेश, यज्ञ, दान, तप आदि की क्रिया करते समय जो 'ॐ तत्सत्' कहने की विधि सी बनी हुई है, उसका क्या मतलब है ? इन शब्दों का क्या रहस्य है ? यह बात मैं बहुत दिनों से पूछना चाहता था, लेकिन भूल जाता था। अब प्रसंग आया है, इसलिए पूछ लेता हूँ।"

श्लोक २३–२८

श्रीकृष्ण ने उसका उत्तर इस प्रकार दिया—

"गाण्डीव धर, ॐ, तत् और सत् ये तीनों परमात्मा के ही नाम हैं। नाम और व्याख्या रहित ब्रह्म को कोई संज्ञा देनी चाहिए, अतएव उसके लिए अकार, उकार और मकार से बना हुआ 'ॐ' उच्चारण प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। पार्थ, वर्णमाला के सब उच्चारण अकार, उकार और मकार के उच्चार-स्थान के बीच समाते हैं। अर्थात कण्ठ में जिस जगह से 'अ' बोला जाता है, उसकी अपेक्षा अधिक

नीचे स्थान से किसी वर्ण का उच्चारण नहीं होता, ओष्ठ अपना होठ में जिस स्थान से 'उ' बोला जाता है, उससे अधिक बाहर के किसी स्थान से कोई वर्ण नहीं बोला जाता, और नाक में से 'म' बोला जाता है उससे अधिक ऊंचे स्थान से कोई अक्षर नहीं बोला जाता। इस प्रकार 'ॐकार' में उच्चारणमात्र का अन्तर्भाव हो जाता है। इस तरह यह सर्व उच्चारणों का राजा होने के कारण ब्रह्म का निर्देश करने के लिए पसन्द किया गया है। किन्तु ऋषि-मुनि इसकी विशेषता के इसके सिवा और भी अनेक कारण बताते हैं, किन्तु यहाँ उनसब का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन इसी तरह 'तत्' भी ब्रह्मवाचक है। वाणी में, परमात्मा को कोई नाम देने की शक्ति नहीं है, सूचित करने के लिए, जिस प्रकार किसी बिना नाम वाले का 'वह' सर्वनाम से ही निर्देश किया जा सकता है, उसी तरह विद्वान् लोग 'तत्' सर्वनाम से ब्रह्म का निर्देश करते हैं।"

"और, धनञ्जय, यह सूचित करने के लिए कि परमात्मा वर्णन से परे है, ज्ञानी लोग उसे 'सत्' (है, होने वाला) नाम देकर ही सन्तोष मानते हैं। किसी पहिचानी न जा सकने वाली वस्तुओं को देखकर बालक अपनी माता से कहता है कि 'यहाँ कुछ है!' माता पूछती है कि 'क्या है?' तो, वह इतना ही कहता है कि 'मैं समझता नहीं, लेकिन 'कुछ है।' इसी तरह ज्ञानी लोग भी परमेश्वर के सम्बन्ध में, वह है, इससे अधिक कोई पहचान न बता सकने के कारण, उसे 'सत्' कह कर मौन हो जाते हैं।

"इस प्रकार परमात्मा के 'ॐ तत् सत्' इन तीन नामों के उच्चारण, पूर्वक शुभ कर्म करने की विधि है। इसी से ब्राह्मणों (ज्ञानियों) ने वेद (ज्ञान) और यज्ञ का निर्माण किया है। और इनके उच्चारण से ब्राह्मण

पहचाने जायें, वेदों का अध्ययन और यज्ञों का आरम्भ समझा जाय, ऐसा संकेत प्राचीन काल से चला आता है।

"गुडाकेश, यज्ञ, दान, तप आदि जो कुछ वैदिक कर्म किए जाते हैं, उनमें 'ओ३म्' का उच्चारण यह सूचित करता है कि कर्म विधिपूर्वक किये जा रहे हैं; 'तत्' का उच्चारण यह सूचित करता है कि ये कर्म फल के त्यागपूर्वक, केवल मोक्ष की इच्छा से किये जाते हैं; और 'सत्' यह सूचित करता है कि ये कर्म सत्य, कल्याणकारी तथा प्रशंसनीय हैं। साथ ही अर्जुन! यज्ञ, तप और दान के कर्मों में निष्ठा का नाम भी 'सत्' है। तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये दूसरे सब कर्म भी सत् कहलाते हैं। इसके विपरीत श्रद्धा रहित सब यज्ञ, तप और दान असत् कहलाते हैं। क्योंकि जिस तरह आग में डाला हुआ बीज जल जाता है, उसी तरह इस लोक या परलोक में वे कुछ फल नहीं देते।" ॥२४-२८॥

अठारहवाँ अध्याय

गुण-परिणाम और उपसंहार

इसके बाद अर्जुन ने नीचे लिखेनुसार प्रश्न पूछा—

"केशव" आपने मुझसे सङ्कल्प सन्यास की, कर्म के सन्यास की तथा कर्म-त्याग की अनेक बातें बताईं। इनमें सन्यास

श्लोक १—२ और त्याग में आप क्या भेद करते हैं, और इन दोनों का क्या रहस्य है, यह मैं अच्छी तरह समझना चाहता हूँ।" ॥१॥

"अच्छा" कहकर श्रीकृष्ण ने नीचे लिखेनुसार संन्यास और त्याग का रहस्य समझाना आरम्भ किया।

"पाण्डव, कोई कर्म न करने अथवा कोई पदार्थ न रखने अथवा स्वीकार न करने के निश्चय से किया हुआ आचरणन्यास अर्थात् त्याग है; और ऐसे निश्चयपूर्वक किया हुआ सम्पूर्ण व्यवहार संन्यास है। त्याग का अर्थ है छोड़ना; अपने पास हो, अपने अधिकार में आया हो अथवा आने वाला हो, उसे दूसरे के लाभ के लिए छोड़ देने का नाम त्याग है। यह हो सकता है कि जब तक उसका लाभ उठा सकने वाला कोई न मिले तब तक वह अपने पास पड़ी रहे और सहज स्वभाव से उसका हमें लाभ भी मिल जाय, किन्तु दूसरे को उसका लाभ मिलने का अवसर पाते ही, उसे उसके लिए दे देना त्याग है।

"अर्जुन, और दूसरी तरह संन्यास और त्याग का भेद सुन—जिस का त्याग किया जाय, उसे स्वीकार करने वाला दूसरा कोई मिले अथवा न मिले, संन्यासी इसकी परवाह नहीं करता। जिस प्रकार सड़े अनाज

अथवा कचरे को हम फेंक ही देते हैं, किसी को सौंपने अथवा देने का विचार नहीं करते; उसी तरह बिना विलम्ब और किसी की प्रतीक्षा किए त्याग करने का नाम संन्यास है। और, दूसरे को पहुँचाने के लिए जो त्याग होता है, उसका नाम त्याग है।

'अब संन्यास और त्याग का रहस्य सुनः—

"ज्ञानियों का मत है कि काम्य कर्मों का तो संन्यास ही करना चाहिए। राज्य, सम्पत्ति, पुत्र, कीर्ति आदि की प्राप्ति के लिए जो अनेक प्रकार के यज्ञ, दान, तप, पूजा आदि किये जाते हैं उन कर्मों का करने वाला कोई दूसरा मिले अथवा न मिले - इसकी चिन्ता न कर श्रेयार्थी उनसे दूर रहने का निश्चय रखता है। यह संन्यास है और सत्पुरुषों ने उसकी प्रशंसा की है। अर्जुन, जिस तरह हमें यह मालूम हो कि अमुक अन्न में विष मिला हुआ है, अथवा जिस घड़े में सांप घुस कर बैठा दिखाई दे, या जो घर अब गिरा तब गिरा हो गया हो, अथवा जिस मुहल्ले में भयङ्कर रोग फूट निकला हो या प्रचण्ड आग लग गई हो, उसे हम बिना किसी दूसरे को सौंपे ही उसका त्याग अथवा नाश कर देते हैं; उसी तरह जो कर्म कामनाओं से ही हो सकते हों, श्रेयार्थी को उन्हें दूसरे को सौंपने की चिन्ता किये बिना ही उनका संन्यास कर देना चाहिए।

किन्तु, गुड़ाकेश, विवेकशील पुरुषों का कहना है कि जो काम्यकर्म न हों, उनका संन्यास करने की आवश्यकता नहीं, वरन उनके केवल फल का ही त्याग करना चाहिए। अर्थात् इनका फल दूसरों के लाभ के लिए छोड़ देना, स्वयं उससे कुछ लाभ न उठाना, तिस पर भी दूसरा उनसे लाभ न उठा सके, तब तक उसकी साध-सम्भाल रखनी पड़े तो रक्खी जाय। अर्जुन, मनुष्य यदि निष्काम भाव से खेती का काम करे और उससे उत्पन्न अनाज का परोपकार के लिए उपयोग करे, तो वह फल त्याग कहा जायगा। किन्तु इस अनाज का विवेक पूर्वक त्याग

करने के लिए वह उसका रक्षक बन कर रहे, उसे फेंक न दे, वरन् देश काल और पात्र को पहचान कर उसका त्याग करे।" ॥२॥

अब, परन्तप, कैसे कर्म करना और कैसे न करना इस सम्बन्ध में विद्वानों में जो जुदे-जुदे मत हैं और मैंने स्वयं इस विषय में जो निर्णय किए हैं, वे मैं तुमसे कहता हूँ।

श्लोक ३–११

"गाण्डीव पाणि, अनेक मुनियों का यह मत है कि श्रेयार्थी पुरुष को सदोष और निर्दोष कर्मों का भेद करके, जो कर्म सदोष हों, उनका, प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए। जितने निर्दोष कर्म हों, उतने ही किये जायँ। सदोष कर्म यज्ञ, दान और तप से सम्बन्धित समझे जाते हैं तो भी न करें और निर्दोष कर्म इस कोटि में आते हों तो भी करें।

"अर्जुन, दूसरे अनेक मुनि इस विचार को पसन्द नहीं करते। उन का कहना है कि यज्ञ, दान और तप के कर्मों का त्याग कदापि न करना चाहिए। इन कर्मों को दोषयुक्त कहना ही दोष है।

"अब, भरतश्रेष्ठ, इस सम्बन्ध में मेरा निर्णय सुन।

'एक ओर सदोष और निर्दोष कर्मों का भेद करना कठिन है; क्योंकि कर्ममात्र में कुछ दोष और कुछ गुण, दोनों रहते ही हैं। इसलिए मैं कर्म की सदोषता अथवा निर्दोषिता की दृष्टि से कर्माचरण अथवा कर्मत्याग का विचार नहीं करता, वरन् कर्मत्याग एवं कर्माचरण की पद्धति का विचार कर उनमें भेद करता हूँ। अर्थात् कि त्रिगुणों के भेद के अनुसार सात्विक, राजस और तामस, तीनों प्रकार का कर्मत्याग भी हो सकता है और इन तीनों ही प्रकार का कर्माचरण भी हो सकता है।

"इनमें से पहले, तीन प्रकार के कर्म त्याग का भेद तुझे समझाऊँगा।" ॥ ३–४ ॥

"इसके पहले, पार्थ, मैं तुझे इतना बता देता हूँ कि मैंने यज्ञ, दान और तप के कर्मों को कभी न छोड़ने जैसा मान रक्खा है। मनुष्य को

चित्त-शुद्धि के ये आवश्यक साधन हैं। किन्तु, जैसा कि मैं बार-बार कह चुका हूँ, मेरा यह निश्चित और उपयुक्त निर्णय है कि ये कर्म भी आसक्ति-रहित और फलत्याग पूर्वक किए जाने चाहिए।" ॥ ५-६ ॥

"इसके सिवाय, वीर श्रेष्ठ, जो कर्म नियत, अर्थात् इन्द्रिय तथा मन के संयम पूर्वक और मान व धर्म तथा स्वधर्मानुसार कर्त्तव्य रूप मे करने योग्य हैं, उनका सन्यास करना उचित नहीं है। अर्जुन, मोह से, अर्थात विवेक और विचार-रहित दृष्टि से, जड़ता से, आलस्य से, अज्ञान से, भ्रम से अथवा भय आदि से ऐसे कर्मों का त्याग करना तामस त्याग है; यह त्याग ही त्याग करने योग्य है।" ॥ ७ ॥

"पाण्डव, जो कर्म नियत अर्थात्, कर्त्तव्यरूप नहीं, उन का त्याग करना उचित अवश्य होता है; किन्तु उसमें उस त्याग के मूल में क्या दृष्टि रहती है, यह बात महत्त्व की होती है। यह सोच कर कि इस कर्म के करने में शरीर को कष्ट पहुंचेगा, उस कष्ट के भय से, कर्म को दुःख कारक समझ कर उस का त्याग किया जाय तो वह राजस त्याग कहा जाता है। इस त्याग से चित्त शुद्धि में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती और इस प्रकार यह त्याग निष्फल जाता है।

"इससे, यज्ञ, दान और तप के कर्मों के सिवाय-दूसरे नियत कर्म भी सदैव कर्तव्य बुद्धि से और सावधान हो कर करना उचित है जो कुछ छोड़ना है, वह इन कर्मों के विषय की आसक्ति तथा इनके फल हैं। आसक्ति का, फल का और अनियत कर्मोंका त्याग सात्त्विक त्याग है ॥६॥

"गुड़ाकेश, बुद्धिमान, संशयहीन, और स्थिर सत्त्व वाला त्यागी, कर्म में कठिनता, अरुचिकरता अथवा जोखिम या खतरा देख कर उस का तिरस्कार नहीं करता, और सुगमता, रुचिकरता अथवा सुरक्षितता देख कर उस में आसक्त नहीं होता। क्योंकि, जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, शरीर धारी के लिए कर्म का सम्पूर्ण त्याग कर सकना सम्भव

ही नहीं है, इस लिए जो कर्म के फल का त्याग करता है, वही त्यागी है।" ॥१०–११॥

"अर्जुन, जीव को कर्म से बन्धन होता है, इस विचार-सरणी में से कर्म त्याग का यह सम्प्रदाय निकला है; इसलिए बन्धन किस तरह होता है, और किस तरह नहीं, यह समझ लेना ज़रूरी है।

श्लोक १२–१७

"अर्जुन, जिस प्रकार द्विदल को बोने पर आरम्भ में दो पत्ते निकलते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक कर्म के इष्ट और अनिष्ट दो प्रकार के परिणाम उत्पन्न होते हैं। किन्तु, जीव, इष्ट फल सम्बन्धी अतिशय आसक्ति के कारण कई बार अनिष्ट परिणाम को, अथवा अनिष्ट फल के द्वेष के कारण इष्ट फल को देख नहीं सकता; इस से कर्म करने अथवा छोड़ने का आग्रही बनता है। कभी-कभी वह इष्ट तथा अनिष्ट दोनों परिणामों को देखता है, किन्तु उस समय भी राग और द्वेष के कारण इसकी वृत्ति द्विधा और अनिश्चत बनी रहती है। इससे, यद्यपि वास्तविक तौर पर प्रत्येक कर्म इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार का फल देने वाला होता है, फिर भी लौकिक दृष्टि से यह कहा ज़ा सकता है कि कर्म के इष्ट, अनिष्ट और मिश्र तीन प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं। इनमें से इष्ट फल के प्रति आसक्ति, अनिष्ट फल के प्रति उपेक्षा, और मिश्र फल के प्रति द्विधा भाव के कारण जीवन के लिए ये कर्म बन्धन-कारक हो जाते हैं। किन्तु जो मुनिवर इन फलों का त्याग किए बैठा है—इनके प्रति राग-द्वेष छोड़ बैठा है—उसके लिए ये कर्म केवल चित्त-शुद्धि के साधन ही बनते हैं, और इसीलिए, बन्धन-कारक नहीं होते। ॥ १२ ॥

"फिर, कर्म के बन्धन रूप होने का एक दूसरा भी कारण है। जिस तरह कर्म फल विषयक आसक्ति के कारण कर्म का बन्धन होता है उसी तरह कर्त्तापन के अभिमान के कारण भी वह बन्धन रूप होता

है। क्योंकि, कर्त्तापन के अभिमान में कर्म के फल के विषय में ही नहीं, वरन् स्वयं कर्म के प्रति आसक्ति रही होती है।

"किन्तु, मनुष्य विचार करके देखता नहीं, इसी का परिणाम यह कर्त्तापन का अभिमान है। यदि वह ठीक तरह से विचार करके देखे तो वह तुरन्त यह जान सकेगा कि कर्त्तापन का यह अभिमान करने योग्य है ही नहीं।

"सांख्य सिद्धान्त में यह विचार अच्छी तरह समझाया गया है, अतः वह मैं तुझे सुनाता हूं।

"कौन्तेय, रथ, घोड़ा, हाँकने वाला, लगाम आदि सब साज, खुला मार्ग और हांकने का श्रम आदि सब कारण इकट्ठे होकर कार्य करें तभी रथ चल सकता है, इसी तरह किसी भी कर्म के पूर्ण रूप से पूरा हो सकने के लिए पाँच तरह के कारणों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इनमें का एक भी कारण उपस्थित न हो अथवा अनुकूल होकर सहयोग न दे, तो वह कर्म पार नहीं पड़ता। कर्म पूरा करने के लिए जिन पाँच अंगों की आवश्यकता है, उनमें से पहिला अधिष्ठान कहाता है। जिसका आश्रय लेकर कर्म करना पड़ता है, उसे अधिष्ठान कहते हैं, उदाहरणार्थ, जीव को शरीर का आश्रय लेकर कर्म करना पड़ता है, इसलिए शरीर अधिष्ठान कहाता है; किसान को ज़मीन का आश्रय लेकर खेती करनी पड़ती है, इसलिए ज़मीन उसका अधिष्ठान कहाती है, कुम्हार के बर्तनों के लिए मिट्टी उसका अधिष्ठान है।

दूसरा अंग स्वयं वह कर्त्ता है। जीव, किसान अथवा कुम्हार कर्म करने को तैयार न हो, तो कुछ भी उत्पन्न न हो सकेगा, इसलिए उनका सहयोग आवश्यक है।

तीसरा अंग आवश्यक साधन हैं, उदाहरणार्थ, जीव के लिए मन, ज्ञानेन्द्रिय, तथा कर्मेन्द्रिय। पांव न हों तो शरीर और कर्त्ता की इच्छा

होने पर भी चला नहीं जा सकता, आँखें न हों तो देखा नहीं जा सकता। किसान के पास बीज न हो, अथवा हल आदि साधन न हों तो उसका काम रुक जाता है। कुम्हार का चाक टूट जाय तो उसे हाथ पर हाथ रखे बैठा रहना पड़े। इसलिए इस कर्माचरण के लिए इस प्रकार अनेक साधन आवश्यक हैं।

"चौथा अंग है जुदी-जुदी प्रकार की क्रियाएँ। किसान ज़मीन तय्यार करने के लिए अनेक प्रकार की क्रियायें करता है, फिर बोनी करने के लिए विविध प्रकार की क्रियायें करता है, फ़िर फ़सल को अच्छी उगाने के लिए नींदन आदि अनेक क्रियाएँ करता है और अन्त में निराई से लेकर फ़सल तैयार होने तक अनेक क्रियाएँ करता है, तब कहीं खेती कर्म सिद्ध होता है। इसी तरह कोई भी कर्म पार पाड़ने के लिए जुदी-जुदी इन्द्रियों और भिन्न-भिन्न बाह्य साधनों द्वारा अनेक प्रकार की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं।

"और अन्त में, इन सब कारणों के उपस्थित होने पर भी एक पाँचवाँ अंग अनुकूल न हो तो वह कर्म पूरा नहीं होता। यह पाँचवाँ अंग है, दैव। धनञ्जय, दैव का अर्थ है कर्त्ता के अधिकार के बाहर की सब दृश्य अथवा अदृश्य शक्तियाँ। किसान के सब परिश्रम करने पर भी यदि वर्षा न हो अथवा अति वृष्टि हो, तो कर्म पार नहीं पड़ सकता, फ़सल में रोग पैदा हो जाय अथवा टिड्डी आ गिरे तो भी वही परिणाम होता है: कोई अधर्मी राजा अथवा लुटेरों का दल लूटमार कर जाय तो इससे भी कर्म-असिद्ध रहता है; आग लग जाय तो सब कुछ जल जा सकता है, अवसर-साधने के समय मृत्यु अथवा बीमारी आजाय, तो इस कारण भी काम बिगड़ जा सकता है। इन सब बातों को अनुकूल करने के लिए मनुष्य के हाथ में पूर्ण रूप से कुछ नहीं है। कर्त्ता से बाहर रहने वाली शक्तियों का यह व्यापार है। ऐसे सब निमित्त

देव के नाम से जाने जाते हैं। दैव अनुकूल हो, अर्थात् ये सब निमित्त अनुकूल हों तो कर्म पार पड़ सकता है।" ॥ १३—१४ ॥

"धनञ्जय, मनुष्य इस प्रकार शरीर, मन अथवा वाणी के धर्म युक्त अथवा धर्म रहित जिस किसी भी कर्म का आरम्भ करे, उसकी सिद्धि के लिये इन पाँचों अंगों के सहयोग की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सेनापति के चाहे जितना कुशल होने पर भी, यदि सैनिक आगे बढ़ने से इनकार कर खड़े रह जायँ तो वह हार जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता की दूसरी चाहे जितनी शक्ति हो, फिर भी यदि दूसरे चार अंगों का सहयोग न हो तो कर्म पार नहीं पड़ सकता। ॥ १५ ॥

"पार्थ, इस प्रकार जब पाँच साधनों के सहयोग से ही कर्म सिद्ध होता है, तब जीव के अपने खुद को ही कर्म का कर्त्ता मानकर, उसका सब अभिमान, श्रेय और उत्तर दायित्व लेने में विचार की कमी ही है। कर्म की उत्पत्ति में जिस तरह दूसरे अनेक अंग हैं, उसी तरह जीव स्वयं भी एक अंग है। वह अकेला स्वयं ही सब कुछ है यह मान लेना भूल और मिथ्याभिमान है और यही उसके बन्धन का कारण है, क्योंकि, इस मिथ्याभिमान के कारण वह कर्म की सिद्धि के लिए आग्रही बनता है और उसके यश-अपयश से सुखी अथवा दुःखी होता है। वह चित्त की शुद्धि के लिए नहीं, वरन् फलासक्ति के कारण कर्म का कर्त्ता बनता है। ॥ १६ ॥

"किन्तु जो विवेकशील और विचारवान पुरुष बुद्धि को स्थिर रखता है, कर्म के पाँच अंगों में से अपने को केवल एक निमित्त अथवा अंग समझता है, और, इसलिए, उसका अभिमान नहीं करता और उसकी सिद्धि-असिद्धि से अलिप्त रहता है, उसको वह कर्म बन्धन कारक नहीं होता। और ऐसे ज्ञानी पुरुष के सामने यदि कर्तव्यवशात—विशुद्ध धर्म रूप में—सारी सृष्टि के संहार करने का प्रसंग आ पड़े, तो ऐसे

कठोर धर्म का पालन करते हुए भी वह अहिंसक और बन्धन-रहित रहता है।" ॥ १७ ॥

इसके बाद अर्जुन ने पूछा—"वासुदेव, यह तो मैं समझ गया कि किसी भी कर्म के पार पड़ने के लिए पाँच साधनों का सहयोग होना चाहिए। किन्तु कर्म का प्रारम्भ करवाने वाला और वह पूरा हो तब तक कर्त्ता को उसमें संलग्न रखने वाला कौन है? क्यों तो कर्म की प्रेरणा होती है और किस से उस कर्म प्रवृत्ति को पोषण मिलता है, यह मुझे समझाइये।"

श्लोक १८

श्रीकृष्ण बोले—"तीन प्रकार के निमित्तों से कर्म को प्रेरणा होती है, और तीन प्रकार के बलों से कर्म का संग्रह होता है, अर्थात् कर्माचरण को पोषण मिलता है। जो तीन बल कर्म में प्रेरणा करने वाले होते हैं, वे हैं ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। धनञ्जय यहाँ ज्ञान का अर्थ है अनुभव, निरीक्षण और अवलोकन। जिसे कुछ अनुभव है, अर्थात् जिसने कुछ निरीक्षण अथवा अवलोकन किया है, उसे किसी समय कर्म करने की प्रेरणा होती है।

ज्ञेय का अर्थ है अनुभव से जानने का विषय। कुछ अनुभव प्राप्त करने योग्य है इस इच्छा में से अथवा इतनी जानकारी से कभी-कभी कर्म के लिए प्रेरणा होती है। "और, कौन्तेय, कभी कोई परिज्ञाता अर्थात् विशेष अनुभवी पुरुष प्राणी को कर्म में प्रेरित करता है।

"फिर इन कर्मों को टिका रखने और पोषण करने वाले तीन बलों में कर्म के साधनों का अस्तित्व पहिला बल है। जिस प्रकार, मनुष्य के पास उसकी इन्द्रियाँ, कारीगर के पास उसके औज़ार राजा के पास उसके अधिकारी, और सेनापति के पास उसकी सेना, हथियार आदि हों तभी वे अपने-अपने कर्म निभा सकते हैं।

"अपना अथवा दूसरे का कर्म अर्थात् क्रिया इस कर्म प्रवृत्ति को

पोषित करने वाला दूसरा बल है। जैसे कि, शत्रु की ओर से अन्याय होता रहने तक उसके साथ लड़ाई चलती ही रहती है; हिरण तथा अन्य पशु-पक्षियों के कृत्यों के कारण खेती की रखवाली करनी ही पड़ती है।

'अथवा, जिस तरह थोड़ा सिर मुँडाया हो तो पूरा मुँडाना ही पड़ता है, उसी तरह एक बार कर्म का आरम्भ कर देने के बाद उसमें से जब जी चाहे पार नहीं हुआ जा सकता। उन कर्मों की धर्मानुसार व्यवस्था करने के बाद ही उनसे छुटकारा मिल सकता है। युद्ध का आरम्भ करने के बाद उसे पूरा करने पर ही छुटकारा हो सकता है, गृहस्थाश्रम आरम्भ करने के बाद उसे निभाना ही पड़ता है। इस तरह एक कर्म दूसरे को पोषित करता है।

'कर्म को पोषित करने वाला तीसरा कारण स्वयं कर्ता है। इसे जब तक कर्म की वासना और उसकी इच्छा होती है, तब तक वह कर्म को पोषित करता रहे तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।" ॥ १८ ॥

"अब, गाण्डीव पाणि, मैंने तुझे कर्म के लिए प्रेरणा करने और पोषित करने वाले जो निमित्त गिनाए हैं, उनमें भी

श्लोक १९—२२ तीन गुणों के बल से भेद पड़ता है। इस तरह ज्ञान, अथवा अनुभव और अवलोकन, तीन प्रकार का होता है। कर्म तीन प्रकार का होता है और कर्ता भी तीन प्रकार का होता है।" ॥ १९ ॥

"इनमें, पहले, सात्विक ज्ञान का लक्षण सुन—धनञ्जय, जो अवलोकन अथवा अनुभव सर्व भूतों और भिन्न-भिन्न पदार्थों में बसे एक अविनाशी, निर्विकार और सतत भाव को पहचानता है, वह सात्विक ज्ञान है। परंतप, अवलोकन की यह दृष्टि पदार्थों में रहने वाले समान धर्मों की खोज निकालती है और भेद अथवा अन्तर की अपेक्षा समता को अधिक महत्व देती है।" ॥ २० ॥

"इसके विपरीत, जो राजस है, वह भिन्न-भिन्न भूतों और पदार्थों के भेदों का ही अवलोकन करता है। वह एक प्राणी दूसरे से किस प्रकार भिन्न है, एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ से क्या भेद है, इसी को अनुभव करता है। इस प्रकार, इसे भेद अधिक महत्त्व के और समता गौण लगती है।" ॥ २१ ॥

"अर्जुन, तामस ज्ञान इन दोनों से निकृष्ट है। इसमें भेद करने की ही शक्ति नहीं होती, तब भेद अथवा साम्य देख ही कैसे सकता है। वह तो गाय को गाय, घोड़े को घोड़ा, कड़े को कड़े और कुण्डल को कुण्डल के रूप में ही पहचान पाता है, और इस प्रकार जिस पदार्थ को देखता है, उसकी दूसरे किसी पदार्थ के साथ तुलना कर ही नहीं पाता। पाण्डव, इसे चांदी के गहने की इच्छा हो और उसके बदले सोने का दे दिया जाय, तो भी वह घबराकर खड़ा रहेगा और झगड़ा करेगा, क्योंकि यह ज्ञान पदार्थों के तत्व को पहचान नहीं सकता, अल्प-बुद्धि होता है, और अपने तात्कालिक कार्य के लिए इतने मूढ़ आग्रह वाला होता है, कि विशेष लाभ होता हो तो भी उस मूढ़ता को नहीं छोड़ सकता।" ॥ २२ ॥

"अब, कुन्तीनन्दन, तीन प्रकार के कर्म के भेद सुन—

श्लोक २३—२५

जो कर्म, मन और इन्द्रियों के नियमनपूर्वक, कर्तव्य रूप होने के कारण आसक्ति-रहित होकर, और फल की इच्छा रक्खे बिना किया गया हो, वह सात्विक कहाता है।" ॥ २३ ॥

"जो कर्म कामना के वश होकर, अथवा अहंकार पूर्वक तथा बहुत अधिक धांधली मचा कर किया जाता है, वह राजस कर्म है।" ॥ २४ ॥

"जिस कर्म में पूर्वापर सम्बन्ध का, योग्यता-अयोग्यता का अथवा आगे-पीछे के परिणामों का विचार नहीं होता, जिसमें इस बात का

विचार नहीं होता कि इस कर्म से कितनी हानि तथा हिंसा होगी, तथा जिसमें अपनी शक्ति का विचार न होकर, पागल हाथी की तरह जो मनमें उठा वह कर डालने का भाव रहता है, वह तामस कर्म है।" ॥ २५ ॥

"पाण्डव सुत, तीन प्रकार के कर्मों की तरह, तीन प्रकार के कर्त्ता भी उनके लक्षणों से जाने जा सकते हैं।

"सात्विक कर्त्ता आसक्ति-रहित, निरहंकार, धृति (दृढ़ धारणा) वाला तथा उत्साही एवं यश-अपयश में समान वृत्ति

श्लोक २६—२८ रखने वाला होता है। ॥ २६ ॥

"इसके विपरीत, राजस कर्त्ता आसक्ति युक्त, फल की इच्छा रखने वाला, लोभी, दूसरों की हिंसा करके भी अपना काम निकालने वाला, अपवित्र आचार-विचार वाला और हर्ष-शोक से विचलित हो जाने वाला होता है। ॥ २७ ॥

"और तामस कर्त्ता अव्यवस्थित, अकुशल, असंस्कार युक्त, फक्की, शठ, स्फूर्ति रहित, आलसी, निराश हो जाने वाला, आज के काम को कल पर छोड़ देने वाला और अनिश्चयी होता है।" ॥ २८ ॥

"धनञ्जय, अब फिर यह तीन गुणों के भेद का विषय छिड़ गया है, तो तीन-तीन प्रकार की बुद्धि और धृति के

श्लोक २९—३५ लक्षण भी सुनले।" ॥ २९ ॥

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—"गोविन्द, ज्ञान और बुद्धि के बीच क्या भेद है, और धृति का आप क्या अर्थ करते हैं, यह भी कृपा कर मुझे समझाइये।"

श्रीकृष्ण बोले—"अच्छा, अर्जुन, ज्ञान का अर्थ मन तथा इन्द्रियों द्वारा अवलोकन, निरीक्षण इत्यादि द्वारा प्राप्त अनुभव है, बुद्धि का अर्थ है विवेक, विचार और तर्क द्वारा क्या करना और क्या न करना चाहिए, इसका निर्णय करने की शक्ति, और धृति का अर्थ है धारणा अथवा

दृढ़ता—चित्र की, किसी कार्य, विचार अथवा हेतु के पीछे पड़े रहने अथवा चिपके रहने की शक्ति।

"इस प्रकार सात्विक बुद्धि क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, क्या कर्तव्य है, कहाँ कर्तव्य-भ्रष्टता है, कहाँ भय है, कहाँ भय नहीं है, किस से बन्धन होता है, किस से मुक्ति होती है आदि-आदि बातों का स्पष्ट निर्णय कर सकती है। ॥ ३० ॥

"राजस बुद्धि इस विषय में प्रयत्न करती है, किन्तु इसके निर्णय अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण होते हैं। यह धर्म-अधर्म, कार्य और अकार्य का निःसंशय निर्णय नहीं कर सकती, कुछ-न-कुछ सशंक ही रहती है ॥३१॥

"तमोगुण युक्त बुद्धि तो उलटी ही चलती है। उसे धर्म में अधर्म दिखाई देता है, अधर्म में धर्म दिखाई देता है और उसके सब निर्णय उलटे ही होते हैं। ॥ ३२ ॥

"अब धृति के भेद सुन। सात्विक धृति मन, प्राण और इन्द्रियों को अनन्य योगसे अपनी अपनी क्रियाओं में स्थिर रख सकती है। ॥ ३३ ॥

"राजस धृति धर्म, अर्थ और काम-पुरुषार्थ में संलग्न होती है, ज्ञान अथवा मोक्ष-पुरुषार्थ को नहीं छूती। फिर वह जहाँ संलग्न होती है, वहाँ कर्तव्य-बुद्धि से नहीं, वरन आसक्ति से और फल की अभिलाषा से चिपकती है। ॥ ३४ ॥

"और तामस धृति निद्रा, भय, शोक, खेद तथा गर्व आदि सब को स्थिरता पूर्वक पकड़े रहती है। उसकी नींद कभी उड़ती नहीं, भय दूर होता ही नहीं, शोक कम होता ही नहीं, दौड़-धूप भी कम नहीं होती और मिथ्याभिमान की ध्वजा सदैव ऊँची ही फहराती रहती है।" ॥३५॥

श्लोक ३६–३९

"भरतश्रेष्ठ, जीव भिन्न-भिन्न प्रकार की धृति तथा बुद्धि से भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है, इसका कारण यह है कि उस में इसे सुख प्राप्ति का अथवा दुःख के विनाश का उपाय प्रतीत होता है। इससे, उसे अपनी इन प्रवृत्तियों के वारम्वार करने की वृत्ति होती है। किन्तु इस सुख की

नाप ही त्रिगुणात्मक होती है, और इस लिए कुछ सात्विक सुख को कुछ राजस को और कितने ही तामस को पसन्द करते हैं। ॥ ३६ ॥

"इसमें जिस सुख का अनुभव आरम्भ में तो विष के समान कड़वा लगे, किन्तु परिणाम अमृत के समान मीठा प्रतीत हो, और जो बाह्य विषय भोग से नहीं; वरन् अपने मन और बुद्धि की प्रसन्नता से पैदा होता है, वह सात्विक सुख है। यह सुख सद्भाव, ज्ञान और विद्या का है। ॥ ३७ ॥

"जो सुख इन्द्रियों को विषय-भोग से मिलता है, जो भोगते समय अमृत के समान मीठा लगता है, किन्तु अन्त में विष के समान कड़वापन अनुभव कराता है, वह राजस सुख है। यह भोग-विलास का सुख है। ॥ ३८ ॥

"और जो सुख आदि और अन्त दोनों में मूढ़ता उत्पन्न करने वाला है, जो निद्रा, आलस्य लापरवाही आदि के कारण मिलता है, वह अज्ञानमय सुख तामस है।" ॥ ३६ ॥

"पार्थ, इस प्रकार मैंने तुझे यह समझाया है कि किसी प्रकार तीनों गुण नाम और रूप मात्र में व्याप्त हो रहे हैं, और किस प्रकार उनके बल विषमता उत्पन्न कर प्रत्येक में तीन-तीन प्रकार के भेद करते हैं। किन्तु भारत, इस सम्बन्ध में तुझे एक बार फिर याद दिला देना चाहता हूँ, कि जिन जिन को मैं सात्विक, राजस-अथवा-तामस गुण कह चुका हूँ, वे केवल सर्वथा सात्विक, सर्वथा राजस अथवा सर्वथा तामस नहीं होते, वरन जिस समय जिस गुण की प्रधानता दिखाई देती है, उसी पर से उनका यह भेद किया गया है। इससे इन प्रत्येक पदार्थ में इन बलों की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार अनेक भेद पड़ जाते हैं। फिर इन तीनों बलों के निरन्तर काम करते रहने के कारण एक ही जीव, एक समय

श्लोक ४०

सात्त्विक बल के प्रभाव में होता है, तो दूसरे समय राजस अथवा तामस बल के वेग के प्रभाव में आजाता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव में गुणों की आवृत्ति होती रहती है। इन में से जिस में जो गुण अधिक समय तक टिकता है, वह उसी गुण वाला जीव कहलाता है।

"इस प्रकार, पृथिवी में, आकाश में, दृश्यभूतों में अथवा अदृश्य शक्तियों में, नाम अथवा रूप-प्राप्त कोई सत्व (अस्तित्व रखने वाला) ऐसा नहीं, कि जो इन त्रिगुणों से रहित हो।" ॥ ४० ॥

"परंतप, मनुष्य में ब्राह्मण आदि चार वर्णों का जो भेद किया गया है और उन सब के लिए जो जुदे-जुदे कर्म निश्चित हुए हैं, उनके मूल में भी पूर्वोक्त गुणों के भेद का ही विचार है।

श्लोक४१—४४

"श्रद्धा, आहार, ज्ञान, कर्म, कर्तृत्व, बुद्धि, धृति आदि के भेदों के कारण प्रत्येक मनुष्य की विशेष प्रकार की प्रकृति बनती है। इस प्रकृति के कारण उसके लिए एक प्रकार की प्रवृत्ति योग्य हो जाती है और दूसरी अयोग्य। ऐसी प्रवृत्ति जो उसकी प्रकृति के साथ मेल खाती हो, उसके लिए स्वधर्म—अपनी प्रकृति के अनुसार कर्माचरण—होती है। जो प्रवृत्ति ऐसी नहीं होती, वह उसके लिए पर धर्म—दूसरे की प्रकृति के योग्य कर्माचरण—होती है।

"अर्जुन, इस प्रकार प्रकृति बनने में मनुष्य के पूर्व कर्म, आनुवंशिक संस्कार, जन्म के पश्चात् प्राप्त हुए संस्कार, शिक्षा, संगति तथा संसार के अच्छे बुरे अनुभव आदि कारणीभूत होते हैं। इस प्रकार एक तरह से देखने पर जितने व्यक्ति उतनी प्रकृति, और इससे जितने व्यक्ति उतने ही स्वधर्म हो सकते हैं। परन्तु, सामान्यतया, जीवन-पद्धति की, संस्कारों की तथा शिक्षण की समानता के कारण तथा अनुवंशीयता के बल के कारण अधिकांश में ऐसी प्रकृति जन्म से ही दृढ़ और माता-

पिता का अनुसरण करने वाली होती है। इसमें, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य अथवा परशुराम जैसे, ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्र धर्मी होने आदि के अपवाद होते अवश्य हैं, किन्तु वे बहुत थोड़े होते हैं। इसलिए, शास्त्रकारों ने स्थूल मान से तथा बहुजन समाज का अवलोकन कर मनुष्यों के व्यवहार में स्पष्टतः आ सकने योग्य चार वर्ण शोध निकाले हैं और उनके स्वभाव-सिद्ध धर्म का विवेचन किया है।

"धनञ्जय, इन चारों वर्णों के कर्म यथा स्थान और यथा योग्य विधि से किये जायँ तो उनसे जनता का उपकार होता है और वे सब अनासक्त बुद्धि से, फल त्याग पूर्वक तथा चित्त की संशुद्धि के लिये किये जा सकते हैं। इससे वे उनका आचरण करने वाले को श्रेय की प्राप्ति करा सकते हैं। इसके विपरीत, राजस अथवा तामस बुद्धि का मनुष्य प्रत्येक वर्ण के कर्मों को आसक्ति पूर्वक अथवा मोह से करके बन्धन कारक भी बना सकता है। इस से, धनञ्जय, ये कर्म मोक्ष कारक अथवा बन्धन कारक या प्रशंसनीय अथवा निन्द्य नहीं होते, वरन इनका आचरण करने वाले की बुद्धि, धृति आदि के भेद से एक अथवा दूसरी प्रकार के बनते। ॥ ४१ ॥

"द्रोण नन्दन, इस प्रकार ब्राह्मण स्वभाव से ही शान्ति प्रिय, कठोर, सादगी पसन्द, इन्द्रिय-निग्रही तप में अभिरुचि रखने वाला, आचार में अत्यन्त शुद्धि और स्वच्छता का आग्रह रखने वाला, क्षमा-शील, सरल, ज्ञान-विज्ञान का उपासक और श्रद्धालु होता है। जो कर्म-योग इस स्वभाव के अनुकूल पड़ता हो और जिससे इसे पोषण मिलता हो, वही इसका स्वभाव-सिद्ध धर्म कहाता है। ॥ ४२ ॥

"वीर श्रेष्ठ, क्षत्रिय स्वभाव इससे भिन्न प्रकार का होता है। इसमें शौर्य, तेज, धृति (दृढ़ता), दक्षता, पीठ दिखाने में लज्जा, देने और खर्च करने में उदारता, दूसरों पर अपनी शक्ति का प्रभाव जमाकर उन्हें

अपने मार्ग पर चलाने, उन पर आज्ञा करने और पालन कराने की इच्छा, तथा उठने, बैठने, चलने आदि सब क्रियाओं में एक प्रकार का रौब और प्रभुता आदि लक्षण सहज ही दिखाई देते हैं। इसलिए, ऐसे कर्म जिनसे इसकी इस प्रकृति को अनुकूलता मिले, इसका स्वाभाविक धर्म है।

"धनञ्जय, वैश्य स्वभाव धन-धान्यादि उत्पन्न करना, खोजना, बढ़ाना, संग्रह करना, आमद-खर्च पर ध्यान रखना, गिनती कर मित व्ययिता से चलना, इस प्रकार अर्थ अर्थात् धन के लेन-देन में रुचि रखने वाला होता है। इसलिए कृषि, गोपाल, व्याज-बट्टा, दूकानदारी, उद्योग आदि इसके लिए स्वाभाविक कर्म होते हैं।

"अर्जुन, जिस कर्म में मुख्यतः शारीरिक श्रम करना पड़ता हो, उसमें अभिरुचि रखना शूद्र स्वभाव का विशेष लक्षण है। कारीगरी, मज़दूरी, नौकरी आदि धन्धे इसकी प्रकृति के अनुकूल होते हैं।" ॥४४॥

"पाण्डव, जैसा कि मैं अभी कह गया हूँ, इन चारों प्रकृतियों और उनका अनुसरण कर उत्पन्न हुए धर्मों में न तो कोई उत्तम है, न कोई मध्यम; न कोई दैवी है, न कोई आसुरी। प्रत्येक वर्ण का मनुष्य अपनी प्रकृति से निश्चित हुए कर्मों का उचित रीति से आचरण कर जीवन की परम सिद्धि रूप आत्म ज्ञान और परमपद में स्थिति को पा सकता है।" ॥४५॥

श्लोक ४५

यह सुन कर अर्जुन बोला—

"वासुदेव, आपने जो यह कहा कि ज्ञानी श्रेयार्थी पुरुष की दृष्टि से चारों वर्णों में कोई ऊंच-नीच नहीं है, वह मैं समझ सकता हूँ। किंतु, शिष्ट व्यवहार में ब्राह्मण सब से उच्च और पूज्य समझा जाता है और शूद्र हलका माना जाता है, तथा क्षत्रिय और वैश्य इन दोनों के बीच क्रम से आते हैं। भला, यह किस लिये होता है? पवित्र और धार्मिक पुरुष

श्लोक ४६–४८

ब्राह्मण को ही क्यों अधिक मान देते हैं, और शूद्र के प्रति इतना ही सम्मान युक्त व्यवहार क्यों नहीं करते ?"

यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—

"तेरा प्रश्न उपयुक्त है। उसका मैं यथा-विधि उत्तर देता हूँ, वह सुन—

"कौन्तेय, सत्त्वसंशुद्धि नामक दैवी सम्पत्ति के विषय में मैं तुझे बहुत समझा चुका हूँ। ज्ञान की वृद्धि और भावनाओं की शुद्धि में सब दैवी सम्पत्तियों का संक्षेप में समावेश हो जाता है। मनुष्य स्वयं पापी हो अथवा पुण्यशाली हो, उसमें नैसर्गिक रूप में रहने वाली विवेक-बुद्धि के कारण उसके हृदय में ज्ञान और उच्च आचरण के प्रति आदर हुए बिना नहीं रहता। इसलिये चारों वर्णों को समान मानते हुए भी इन वर्णों में भी जो ज्ञान और शील में अधिक है उसके प्रति समदृष्टि पुरुष के हृदय में भी अधिक आदर-भाव होगा, ऐसी दशा में सामान्य मनुष्य के हृदय में यह रहे तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं।

"धनञ्जय, इतिहास-वेत्ताओं का कहना है कि प्राचीन काल में मनुष्यों का एक ही वर्ण था, और प्रत्येक मनुष्य को चारों वर्ण के कर्मों में से अपनी प्रकृति के अनुकूल वर्ण के कर्म करने में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। कोई मनुष्य अपने नित्य करने के कर्मों के कारण ऊँचा और नीचा नहीं समझा जाता था, वरन उसके ज्ञान, बल, वय, धार्मिकता शील आदि के कारण पूज्य अथवा अपूज्य माना जाता था।

"किन्तु, वीर श्रेष्ठ समय बीतने पर वर्ण व्यवस्था अधिक स्पष्टता के साथ अलग अलग होने लगी। ब्राह्मण प्रकृति के लोग आपस में ही अधिकाधिक मिलने और व्यवहार करने लगे और अपने बालकों को अपने ही कर्मों में शिक्षित करने लगे। इस प्रकार इनका पृथक् वर्ग बन गया। इसी प्रकार क्षत्रि, वैश्य एवं शूद्र प्रकृति के मनुष्यों के अपने

अपने जुदे-जुदे संघ बनने लगे ?

"इस प्रकार बना ब्राह्मण वर्ग प्रकृति से और उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक संचित संस्कारों के कारण अधिक ज्ञान-सम्पन्न, चरित्रवान और संस्कारशील होने के कारण, लम्बे अर्से से उनके द्वारा जनता का हित होता रहा है। शेष तीनों वर्गों में ज्ञान की न्यूनता के कारण धर्म के विषय अथवा व्यवहार में उत्पन्न हुई उलझन को अपनी निज की विशेष बुद्धि और शील से दूर करने में और भिन्न-भिन्न विद्याओं की वृद्धि में यह वर्ग दूसरे वर्गों की जनता का मार्ग-दर्शक बना है, और इस लिए, सहज ही वह अधिक आदर-पात्र हो गया है। केवल विद्या की ही उपासना करने वाला होने के कारण वह सामान्य रूप निर्धन रह कर दूसरे वर्गों पर आश्रित रहता है, और दूसरे वर्ग इसके ज्ञान और शील का महत्त्व समझ कर उसका आदर पूर्वक पोषण करना अपना सहज धर्म समझते हैं।"

"किन्तु, कुरुवीर इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान और शील से सम्पन्न दूसरे वर्ण का पुरुष न्यून आदरणीय अथवा कम पूज्य है, और जो ब्राह्मण वर्ग कहलाता है, वह ज्ञान और शील से रहित होने पर भी आदर और पूजा के ही योग्य रहेगा। यह हो सकता है कि अधिकांश ब्राह्मण ज्ञानवान और चरित्रवान हों तो उनके कारण कुछ निम्नश्रेणी के ब्राह्मण भी आदर पा जांय; साथ ही, यह भी सम्भव हो सकता है कि पूर्वजों की सेवा के कारण वंशज भी एक अरसे तक पुज जांय। किन्तु कोई वर्ग केवल इतने ही कारण से सदैव पूजनीय रह नहीं सकता। प्रत्युत जहाँ ज्ञान और शील वास करता होगा, वहीं पूज्यभाव पैदा होगा, फिर चाहे वह किसी कुल अथवा वर्ण में क्यों न जन्मा हो।

"इस प्रकार, धनञ्जय, जो पुरुष अपनी बुद्धि, ज्ञान, तथा विद्याप्रियता आदि का जो कर्म वह करता है अथवा जानता है, उनके सिखाने

सुधारने, वृद्धि करने और शास्त्रीय शोधन करने में उपयोग करता है, वह व्यास की तरह आध्यात्मिक विद्या का आचार्य हो, कृप अथवा द्रोण की तरह क्षात्र विद्या का आचार्य हो, अथवा शुक्र की तरह वैश्यों की अर्थ-विद्या का आचार्य हो, अथवा मय की तरह यन्त्र-विद्या का आचार्य हो, वह ब्राह्मण ही है।

"इसी प्रकार, वीरश्रेष्ठ, जो पुरुष अपने शौर्य, साहस, उत्साह तथा बल आदि का विश्वामित्र की तरह ज्ञान के क्षेत्र में जोखिम उठाने में अथवा कृषि, वाणिज्य, गोपालन आदि के क्षेत्र में अथवा राजाओं की तरह प्रजा-पालन और युद्ध के क्षेत्र में, अथवा परिचर्या, के कला कौशल के क्षेत्र में उपयोग करे, वह क्षत्रिय ही है।

"इसी तरह वैश्य, शूद्र के विषय में भी समझना चाहिये।"

"अर्जुन, इस प्रकार सब अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करने वाले वर्ण व्यवस्था का यथावत पालन तो अवश्य करते हैं। किन्तु, इनमें से जो इन कर्मों का अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिए नहीं, वरन यज्ञ के लिए, लोक संग्रह के लिए, तथा निष्काम रूप से आचरण करते हैं और केवल यज्ञ के शेष के रूप में जो मिले, उससे ही सन्तोष मानते हैं, वे अपने सहज कर्मों द्वारा ही परमात्मा को भजते हैं और वे ही उनके द्वारा परम कल्याण को साध सकते हैं।

"कौन्तेय, ऐसा महर्षि ब्राह्मण न तो धनादिक की कामना से न बुद्धि की तृप्ति के लिए, वरन संसार का हित समझ कर और विचार कर तथा उसके द्वारा अपनी चित्त शुद्धि हो, इस दृष्टि से बुद्धि द्वारा परमेश्वर की सेवा करता है।

"पार्थ, ऐसा पुरुषोत्तम क्षत्रिय राज्य बढ़ाने अथवा केवल साहस, बल और शूरता की हविस मिटाने के लिये नहीं, वरन प्रजा की रक्षा के लिए ही अपनी क्षात्र-वृत्ति परमात्मा के अर्पण करता है।

"पाण्डव, ऐसा श्रेष्ठ वैश्य लक्षाधीश होने के लिये अथवा व्यापार की हविस मिटाने के लिए नहीं, वरन जनता के निर्वाह के पदार्थ निर्माण करने और पहुँचाने के लिए ही वैश्य वृत्ति का आश्रय लेता है।

"विदुर प्रिय, ऐसा महात्मा शूद्र जड़ता से, दीनता से, भय से, आलस्य से अथवा धनादिक की इच्छा से नहीं, वरन लोक-संग्रह के लिए ही भिन्न-भिन्न प्रकार की कला, मज़दूरी तथा शारीरिक श्रम करता है।

"पार्थ, इसमें सन्देह नहीं है कि ऐसे पुण्यात्मा भक्त एक समान ही आदरणीय हैं। इनके अतिरिक्त केवल कामना से प्रेरित होकर ब्राह्मण-कर्म, क्षात्र वैश्य अथवा शूद्र-कर्म करने वाले अपने अपने केवल विद्या कौशल्य, युद्ध-कौशल्य, वाणिज्य-कौशल्य, अथवा यन्त्र-कला-कौशल्य के कारण भले ही संसार में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करते हों; किन्तु इससे वे उसके द्वारा परमात्म-पूजा ही करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

"इस प्रकार, परन्तप, जिस परमात्मा से इन सब प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और इनकी क्रियाएँ चलती हैं, और जो परमात्मा इस अखिल विश्व में व्याप्त हो रहा है, वह उस विश्वरूप परमात्मा की पूजा है अपने अपने स्वभाव सिद्ध धर्म का उचित रूप से आचरण करने में ही समाई हुई है। स्वधर्माचरण ही परमात्मा की पूजा और स्वधर्म भ्रष्टता ही उसकी अवहेलना है। ॥४६॥

"दूसरे के अच्छी तरह पालन किये जा सकने योग्य और उच्च प्रतीत होने वाले धर्म की अपेक्षा अपना अल्पगुण दिखाई देने वाला किन्तु स्वभाव सिद्ध धर्म ही श्रेष्ठ है। नरकेसरी, अपनी प्रकृति से निश्चित हुए धर्म का आचरण करने से दोष नहीं लगता। ॥४७॥

"अर्जुन, दोषयुक्त दिखलाई देने वाला होने पर भी स्वधर्म का छोड़ना उचित नहीं होता। क्योंकि, जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूं, जिस प्रकार अग्नि धुएं से घिरी रहती है, उसी तरह कर्म मात्र किसी न किसी दोष से भरे होते हैं। सर्वथा निर्दोष कोई कर्म है ही नहीं।

"इसलिए, तू वर्ण धर्मों में उत्तम, मध्यम अथवा कनिष्ठ का भेद करने के मोह में न पड़, वरन स्वधर्म के शुद्ध आचरण द्वारा ही परम-पद प्राप्त करने की साधना कर।" ॥४८॥

"कौन्तेय, मैं तुझे पहिले समझा चुका हूँ कि मोक्ष मार्ग की कर्म-संन्यास और कर्मयोग ये दो प्रकार की प्रणालियाँ

श्लोक ४९—५६ हैं। उसी समय मैंने तुझसे कहा था कि इनमें कर्म-संन्यास का अर्थ सर्व कर्मों का संन्यास नहीं वरन सांसारिक माने जाने वाले कर्मों का संन्यास होता है। सांसारिक कर्मों के सिवा दूसरे प्रकार का कर्मयोग तो उन्हें भी सिद्ध करना ही पड़ता है। यह भी मैं तुझे समझा चुका हूँ कि सच्चा, और सब के करने का एवं सब से हो सकने योग्य संन्यास तो कर्म का नहीं वरन सङ्कल्प का ही है और वही तत्त्वतः नैष्कर्म्य सिद्धि है। किंतु, पार्थ, कितनों ही के लिए सांसारिक कर्मों का संन्यास स्वभाव प्रेरित आचरण हो जाता है और इसलिए उनके लिये इस मार्ग का अवलम्बन स्वधर्माचरण जैसा ही हो जाता है। यह समझ कि ब्राह्मण-स्वभाव का यह एक प्रकार है।

'परन्तप, सर्वत्र आसक्ति और स्पृहारहित मनोजयी पुरुष इस मार्ग का अवलम्बन कर किस प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति की साधना करता है, वह संक्षेप में सुन। ॥४९—५०॥

"पाण्डव, वह विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, सात्त्विक धृति से अपने मन को वश में करता है, इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से पीछा खींच लेता है और राग-द्वेष का नाश करता है; अधिकतर एकान्त में बैठकर, आहार को स्वल्प कर, वाणी, शरीर और उसी प्रकार मन को संयम में रखकर, वैराग्य और अभ्यास का आश्रय लेकर ध्यान-योग को सिद्ध करता है। इस प्रकार अहङ्कार, बल, दंभ, काम, क्रोध, परिग्रह आदि सब आसुरी सम्पत्ति का त्याग कर, ममत्व रहित और शान्त बना योगी ब्रह्मज्ञान का पात्र होता है। ॥५१—५३॥

"अर्जुन, ब्रह्मरूप हुआ, प्रसन्न चित्त-साधु न तो किसी बात का शोक करता है, न स्पृहा करता है। सर्व भूतों के प्रति समबुद्धि हो कर यह परमेश्वर की पराभक्ति को पाता है। ऐसी पराभक्ति से वह परमात्मा का सच्चा ज्ञान प्राप्त करता है। और, जैसे ही वह परमात्मा को पहचानता है, वैसे ही तुरन्त उसके स्वरूप के साथ एक रूप हो जाता है। ॥ ५४-५५ ॥

"इस प्रकार, अर्जुन कितने ही पवित्र ब्राह्मण अपनी प्रकृति का अनुकरण कर, इस मार्ग का अवलम्बन करते हुए परमात्मा के साथ तादात्म्य को प्राप्त करते हैं और नैष्कर्म्य सिद्ध करते हैं।

"किंतु, धनुर्धर, जिनकी यह सहज प्रकृति नहीं होती, उनके लिए परमेश्वर-प्राप्ति के कपाट बन्द नहीं हो जाते। उनके लिए निष्काम कर्म-योग ही सच्चा और पूर्ण मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण कर परमात्मा के आश्रय पूर्वक सब कर्म यथोचित रूप से करने वाला पुरुष भी, परमात्मा की कृपा से, अविनाशी स्थान को प्राप्त होता है। ॥ ५६ ॥

श्लोक ५७-६२

"प्रिय सुहृद, इस प्रकार हम फिर अब मूल बात पर आगए हैं और अब इस लंबे संवाद का अन्त करने का भी समय हो गया है। कुछ ही क्षण बाद घनघोर युद्ध का आरंभ होगा। इस लिए मेरे संपूर्ण वचनों का तात्पर्य ग्रहण कर ले।

"पाण्डवश्रेष्ठ, स्थूल रूप से नहीं, बरन बुद्धि से तू सर्व कर्मों का परमेश्वर में संन्यास कर, उसी को वह सब अर्पण कर और तू उसी की इच्छा के अधीन हो जा। ज्ञान योग का आश्रय लेकर परमात्मा के साथ चित्त का सतत अनुसन्धान कर, इस प्रकार चित्त को परमात्मा के अधीन करने से ही, उसके अनुग्रह से तू सब आपत्तियों को पार कर जायगा। अर्थात्; जो संकट आयंगे उन्हें धीरज से सह सकेगा और जो धर्म-संकट

उपस्थित होंगे, उनमें से विवेकयुक्त मार्ग को खोज सकेगा। ॥ ५७ ॥

"किन्तु, गुडाकेश, ईश्वर के आश्रय से रहित केवल अपनी तार्किक बुद्धि से, अपने अहंकार का आश्रय लेकर, तू मेरा कहा न सुनकर अपनी इच्छानुसार कर्म करने लगेगा तो यह निश्चय जानना कि तू मरा पड़ा है। ॥ ५८ ॥

"सव्य साची, तू अपने मिथ्याभिमान से जो यह हठ करके बैठा है कि तू नहीं लड़ेगा, किन्तु तेरा यह अहंकार व्यर्थ है। यह तेरा प्रकृति-धर्म नहीं है। तेरे चित्त की यह प्रकृति नहीं है। तेरा क्षात्र स्वभाव तुझे बरबस लड़ाई में ढकेलेगा।

मोह के कारण जो तू अभी नहीं करना चाहता, अपने पूर्व कर्मों से दृढ़ बने हुए अपने स्वभाव से वही तू पराधीन सा हो कर करने लगेगा। ॥ ५९–६० ॥

"अर्जुन, एक प्रकार से प्राणिमात्र यन्त्र से चलने वाली पुतली के समान हैं। इनका स्वतन्त्र कर्तृत्व केवल नाम का ही है। प्राणियों के हृदय में बसने वाला ईश्वर जिस प्रकार उन्हें नचाता है, उसी प्रकार वे परवश से नाचते हैं। न वहाँ इच्छा चल सकती है, न बुद्धि चल सकती है। पुरुषार्थ का क्षेत्र मर्यादित सा ही है। स्पष्ट हानि को देखते हुए भी उस मार्ग पर जाना पड़ता है। विवेक बुद्धि का विरोध होते हुए भी अकरणीय कार्य हो जाते हैं। यह सब कुछ देखते हुए अपना अहंकार छोड़ कर, सर्व भाव से इस हृदयस्थ परमात्मा की शरण में रहना और वह चलावे उस प्रकार चलाना, यही बुद्धिमत्ता का मार्ग है। इस तरह से ही तू उसकी कृपा का पात्र होकर परम शान्ति और अविनाशी पद पा सकेगा।" ॥ ६१–६२ ॥

"कुरुकुल भूषण, यह मैंने तुझ से ज्ञान मात्र का अन्तिम रहस्य कहा। अब इसका विचार कर तुझे उचित जान पड़े,

श्लोक ६३–६६ वैसा ही कर। ॥ ६३ ॥

"प्रिय मित्र, तू अब भी किसी असमंजस में न पड़ा रहे, इस के लिए मैं एक बार फिर अपना आशय स्पष्ट रूप से प्रकट करता हूं। इस विचार का अनुसरण करने में ही तेरा कल्याण है ॥६४॥

"पार्थ तू अपना मन परमात्मा के अर्पित कर दे। उसीका भक्त बन, उसी का भजन कर और उसी को मान। मैं तुझ से प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूं कि तू उसी को पावेगा। ॥ ६५ ॥

"सुहृद्, एक अन्तिम वाक्य भी सुनले—आजतक तू ने सुख-दुःख सभी में निरन्तर मेरा अनुसरण किया है और मेरे वचनों में विश्वास रक्खा है। यह विश्वास रख कि जिससे धर्म का लोप होता हो, ऐसा कोई काम मैं तुझ से नहीं कराऊँगा। तू यह मानता है क्या कि धर्म क्या है इस विषय में मेरे मन में ज़रा भी शंका होती तो मैं उसके करने के लिए तुझे प्रेरित करता? परन्तप, यदि तेरा यह विश्वास हो कि सत्य और धर्म से बढ़कर और दूसरी वस्तु मुझे प्रिय नहीं है, तो तू ने मुझे गुरु-सा मान रक्खा है, इसलिए इस महत्व पूर्ण परिस्थिति में तेरे हितार्थ मैं अब भी उस पदको स्वीकार कर तुझ से कहता हूँ कि यदि तू धर्माधर्म के विषय में सशंक है तो मुझ पर विश्वास रख कर उसका विचार छोड़ दे और मेरी शरण आकर मुझ पर उसका भार डाल दे। मेरी आज्ञा का अनुसरण कर क्षात्र धर्मानुसार युद्ध कर। इस से यदि पाप होगा, तो उस से मैं तुझे पार कर दूंगा।" ॥ ६६ ॥

"मित्रनन्दन, इस प्रकार हमारे बीच अकस्मात् ही एक अत्यन्त गम्भीर और धर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि सब की समालोचना करने वाला और सब शास्त्रों के सार सा यह संवाद हो गया है। अर्जुन, ऐसी बातें न तो चाह कर निकलती हैं, न चाह कर कही जाती हैं। जब गुरु-शिष्य का विशुद्ध और निकट-सम्बन्ध हो और दोनों अत्यन्त सात्विक भावों से प्रेरित हों,

श्लोक ६७—७२

तभी गुरु-मुख से ऐसे संवाद उचितरूप से बह निकलते हैं और शिष्य के भी हृदय में सफलता पूर्वक पैठकर स्थिर होते हैं। इसलिए धनंजय वाचालता के वश होकर केवल वार्ताभिलाषी प्रश्न कर्त्ता के सामने ऐसी चर्चा नहीं करनी चाहिए, ऐसा करने से इसका रहस्य उसके हृदय में नहीं ठहरता अथवा उल्टी तरह ही ग्रहण होता है। जिन में तप नहीं भक्ति नहीं, सेवा भाव नहीं, और जो ईर्ष्या से भरा हुआ है, ऐसे व्यक्ति को यह ज्ञान बताना ऊसर भूमि में बीज डालने के समान है। ॥ ६७ ॥

"किन्तु, जो ईश्वर का भक्त हो और व्याकुलता के साथ उस की खोज में हो, उसे इस ज्ञान का समझाना महान् धर्म ही है। क्योंकि, यह मुमुक्षु, इस प्रकार निःसंशय ज्ञान प्राप्त कर परमेश्वर की पराभक्ति करके उसे प्राप्त करे"। इस लिए ऐसे मनुष्य का मार्गदर्शक होने से बढ़ कर कोई प्रियकर कार्य अथवा प्रियकर कर्ता दूसरा हो नहीं सकता। ॥ ६८-६९ ॥

"अर्जुन, मेरा यह मत है कि अपने इस धार्मिक संवाद का जो यथोचित रूप से अध्ययन करेंगे। वे ज्ञान-यज्ञ द्वारा परमेश्वर के ही आराधक बनेंगे। साथ ही, जो श्रद्धापूर्वक और निर्मल भाव से इसे सुनेंगे वे भी पुण्य और श्रेय पथ पर ही चढ़ेंगे।" ॥ ७०—७१ ॥

पार्थ, अब मेरा कथन समाप्त हुआ। तू बतला, कि मैंने जो कुछ कहा वह तूने एकाग्र चित्त से सुना है या नहीं ? इससे तेरे अज्ञान और मोह का नाश हुआ प्रतीत होता है या नहीं ? क्या अब भी तेरे मन में कुछ पूछना शेष रह गया है ?" ॥ ७२॥

यह सुनकर अर्जुन गद्‌गद् हो उठा। उसे हर्ष हो रहा है या शोक यह वह कुछ भी समझ नहीं सका। परम ज्ञानी वासुदेव ने उस पर परिश्रम पूर्वक बोध की जो अमृत-धारा बरसाई, उससे इसकी कृतार्थता और कृतज्ञता

श्लोक ७३

की भावना ने इतना जोश खाया कि जिस प्रकार बहुत दिनों में माता-पुत्र का मेल होने पर हर्षातिरेक से वे दोनो रो पड़ते हैं, उसी तरह अर्जुन सिसक-सिसक कर रोने लगा। श्रीकृष्ण की आँख में से मोती टपक पड़े। उन्होंने अर्जुन को अपनी छाती से लगा लिया, और उसका सिर अपनी गोद में रखकर उसकी पीठ पर अपना वरद-हस्त फेरने लगे। कुछ ही देर में अर्जुन चैतन्य हुआ और दोनों हाथ जोड अत्यन्त शक्ति पूर्वक श्रीकृष्ण के चरणों में मस्तक रखकर बोला -

"गुरुदेव, मैं अपने भाव किन शब्दों में प्रकट करूं? आप देखकर ही समझ लें। आपने आज मुझ पर कृपा-दृष्टि कर मुझे कृतार्थ कर दिया। आपने मुझे आज मानो नया जन्म दिया है। आह, आज यदि मैं आप के बोध से इस प्रकार अनुगृहीत हुए बिना ही युद्ध में पड़ा होता और उसमें पञ्चतत्त्व को प्राप्त हुआ होता तो कितनी खामी रह जाती। आपने आज मुझे नया जन्म दिया है यों कहूं, या मेरे सब जन्म-मरण का एक बारगी अन्त ला दिया है, यों कहूं! मेरी सब शङ्काएं निवृत्त हो गई हैं, मेरा मोह नष्ट हो गया है, और निःसंशय होकर मैं आपके आज्ञाओं का पालन करने के लिए कटिबद्ध हो गया हूं। पूज्यपाद, आपको मेरा सहस्रों बार प्रणाम है। आप ही मेरे परम् देव हैं, आप ही मेरे साक्षात् ब्रह्म हैं। यही समझिये कि मैं आपकी शरण में हूं।" ॥ ७३ ॥

इस प्रकार महर्षि वेद-व्यास की कृपा से श्रीकृष्ण और अर्जुन इन दो महात्माओं के बीच हुए एक अत्यन्त अद्भुत

श्लोक ७४—७८ और रोमाञ्चकारक संवाद के बहाने सर्व शास्त्रों का सार रूप यह गीता शास्त्र इस रूप में हमें प्राप्त हुआ है, मानो स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से ही यह निकला हो। संजय की तरह हमें भी यह अद्भुत और पवित्र संवाद सुनकर बारम्बार हर्ष

होता है। इस शास्त्र के विषय में हमें कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि बस 'अब तो बहुत पढ़ लिया।' नित्य नये-नये अर्थों का उपदेश हमारे जीवन-मार्ग को प्रकाशित करता है। उस अद्भुत विश्व-रूप का वर्णन हमें आश्चर्य चकित कर डालता है और इस मधुर रस में हमें हर्ष से डुबा देता है। यह अध्याय हमारी कल्पना शक्ति को जाग्रत कर, हमें इस सत्य को स्पष्ट कर दिखाता है कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का स्वरूप है और उसके काल चक्र के अधीन है।

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण जैसा मार्ग दर्शक हो और धनुर्धर अर्जुन जैसा अनन्य शिष्य हो, वहाँ श्री, विजय, विभूति और स्थिर नीति अवश्य रहती है, यह निसंशय है।" ॥ ७८ ॥

ओ३म् शान्तिः।

उपसंहार

गीता का क्रमानुसार मंथन पूरा हुआ। अब इसके कतिपय सामान्य विचार और इसके सम्बन्ध में पूछे जाने वाले कतिपय फुटकर प्रश्नों की चर्चा करना चहता हूं।

(१)

धार्मिक ग्रन्थों के रचने वाले और मनन करने वाले दो प्रकार के होते हैं। स्थूल रूप में इनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

एक वह, जिसके मन की स्वाभाविक अभिलाषा यह रहती है कि मैं किस प्रकार जीवन की उच्च से उच्च सफलता प्राप्त करूं; किस प्रकार जैसा हूं, उससे अधिक शुद्ध वृत्ति का, अधिक सज्जन, अधिक प्रेमल, परोपकारशील, अपने दुःखों की परवा न करनेवाला और सत्य-निष्ठ बनूं; मैं संसार में जो कुछ कर्म करूं वे अनेक सद्गुणों से ही प्रेरित होकर और उन्हीं की वृद्धि के लिए करूं इन सद्गुणों को छोड़ने से मेरा अथवा दूसरे का चाहे कितना ही ऐहिक लाभ क्यों न होता हो, तो भी मैं उसके लालच में न फंसू; और इस प्रकार प्रयत्न करते-करते मैं ईश्वर की पहचान कर उसमें लीन हो जाऊं?

इस प्रकार का बल प्राप्त करने के लिए वह ईश्वर की शरण लेता है; उसकी भक्ति और उपासना करता है, तथा उसके लिए व्रत, तप, उपवास, इन्द्रिय निग्रह, मनोजय, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त आदि करता रहता है। अपनी उक्त अभिलाषा को पोषण और प्रेरणा मिलती रहने के लिए, और आस पास के वातावरण और परिस्थिति के कारण कहीं लालच में न फंस जाय, इस खयाल से सदैव सत्पुरुषों और सद् ग्रन्थों

का समागम खोजता रहता है। जिस पुरुष का समागम और जिस ग्रन्थ का पठन-मनन इसकी भलाई के मार्ग पर जाने की अभिलाषा को पोषित करता है, वह भले ही लोक दृष्टि से अपठित समझा जाता हो, और वह ग्रन्थ भले ही आधुनिक और संस्कृत भाषा में लिखा हो, तो भी वही उसके लिए आदरणीय होता है। जिसकी प्रवृत्ति उसकी वासनाओं को उत्तेजन देने वाली हो, वह पुरुष चाहे जितना विद्वान और बहुजन समुदाय का माननीय हो, और वह ग्रंथ चाहे जितना प्राचीन, स्मान्य और तर्कयुक्त हो, तो भी उसका इस पर विशेष प्रभाव नहीं होता।

धार्मिक ग्रंथ पढ़ने वालों की दूसरी श्रेणी के लोग चित्त-शुद्धि अथवा आत्मज्ञान की ही आकाँक्षा रखने वाले नहीं होते। न वह सर्वथा आसुरी ही होते हैं। वरन वे धर्म, अर्थ, और काम परायण होते हैं और इनकी सिद्धि के लिए ऐसे धर्म शास्त्रों की इन्हें आवश्यकता रहती है जो साधारण बुद्धि को स्पष्ट दिखाई देने वाले मार्गों की थोड़ी-बहुत स्वीकृति दे दें। यदि ये मार्ग दोष-युक्त हों, तो उन दोषों को कम करने के अथवा उनके बदले में कुछ प्रतिकार, प्रायश्चित अथवा पुण्य कार्य ठहराकर उन दोषों को निभा लेने वाले उपाय सुझाये जायं, तब तक तो इन्हें धर्म के ऐसे बन्धन स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होती। इसके विपरीत, इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति को जारी रहने देने के लिये वे इस शास्त्रकार का आभार मानकर उसकी पूजा भी अवश्य करेंगे। उदाहरणार्थ, बहुत से मनुष्यों को खूब धनवानी होने की इच्छा होती है। यदि कोई धर्मशास्त्री उनकी इस वासना को सर्वथा अधर्म ठहरा कर उसकी मनाई करे और धनवानों की निन्दा ही करे तो उन शास्त्रों की बात इन के गले नहीं उतरेगी। यदि उसमें इन शास्त्रों के विरोध करने का बल न हो, तो वे इनका ज़ुबानी आदर करेंगे, किंतु यदि बल हो,

तो उस धर्म के उपदेश का प्राण ले लेने तक भी विरोध करेंगे। परन्तु यदि वह उपदेश अथवा शास्त्र इन्हें धन-सम्पादन की अनुमति और केवल इनपर इसके बदले में दान आदि के छोटे-छोटे कर्तव्य लगा कर इनकी सम्मति को आशीर्वाद दे दें, तो वे इन कर्तव्यों को स्वीकार कर लेंगे और उस उपदेशक अथवा शास्त्र को सच्चा मानकर उसकी पूजा करेंगे। इस प्रकार ईसाईधर्म में गुलामी प्रथा मान्य है यह निर्णय देने वाले पादरी लोग अथवा अस्पृश्यता हिंदू धर्म के लिए आवश्यक है यह व्यवस्था देने वाले पण्डित लोग अधिक सच्चे हैं, यह माना जाता था और माना जाता है। इनके लिए गुलाम अथवा अस्पृश्य बनाये रखकर, इन्हें थोड़ा सा दानादिक करने अथवा कुछ दया दिखाने तक की ही धर्म की आज्ञा रहे, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं।

(२)

एक बार ऐसा माना जाता था कि इन दो धर्मवृत्तियों में मेल हो ही नहीं सकता। इससे, ये दोनों, मानों, एक दूसरे से स्वतन्त्र हों, ऐसे मार्गों का उपदेश होना शुरू हुआ एक ओर से दूसरे धर्म में पहिले मार्ग को सर्वथा असत्य ही ठहराने का साहास नहीं था। इसका आदर्श ऊँचा है, यह स्वीकार किये बिना काम ही नहीं चलता था। अर्थात् दूसरे प्रकार के धर्मप्रवर्तकों को भी पहिले के धर्म को पुष्पांजलि तो अर्पित करनी ही पड़ती थी। किन्तु, इतनी पुष्पांजलि अर्पित करके उसे छोड़ देना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग माना गया। यह धर्म दूसरे मार्ग में छेड़-खानी न करे इतना काफी था। इस प्रकार मोक्षधर्म और त्रिवर्ग-(अर्थात् धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी) धर्म में विरोध माना जाने लगा।

गीता इन दोनों मार्गों में मेल कराने का मार्ग सूचित करती है। और वह निष्काम कर्मयोग द्वारा इसके मूल में रहने वाली विचारसरणि इस प्रकार है, त्रिवर्ग परायण लोग तो इस मार्ग से जायेंगे ही। मोक्ष-

धर्म और सन्यासवृत्ति के प्रतिपादक सहस्त्रों धर्म-ग्रन्थ उत्पन्न हों और कर्म-मार्ग का तिरस्कार करें, तो भी लोग उस मार्ग पर चलेंगे ही। आवश्यक योग्यता बिना इस मार्ग में पड़ने वाले बाद में पाखण्ड से भी त्रिवर्ग की ही प्रवृत्ति करने लगेंगे। उन्हें यदि अच्छे मार्ग-दर्शक न मिलें तो वे चाहे जिस तरह कर्म मार्ग का आचरण करेंगे, किन्तु उसे छोड़ेंगे नहीं। इससे, न तो सच्ची मुमुक्षुता की वृद्धि होती है, और न कर्ममार्ग में ही सफलता मिलती है। लेकिन इसके विपरीत यदि सत्पुरुष इनके मार्ग-दर्शक बनें तो ये अधिक शुद्ध, धर्म्म, और कुशल उपाय खोज कर कर्म-मार्ग को उत्तरोत्तर विशुद्ध कर सकते हैं, और उसमें अपनी रत्तीभर भी स्वार्थबुद्धि न होने के कारण अपनी भी चित्त शुद्धि कर सकते हैं। ऐसा यह गीता का सुझाया हुआ मार्ग है।

(३)

किन्तु जो धर्म-ग्रन्थ अप्रत्यक्ष रूप से भी अर्थ और काम की वासना को उत्तेजन देता हो, वह राज-द्वेष-पोषक माना जाने लगा अतः यह जानना आवश्यक है कि उसे धर्म नाम ही किस प्रकार दिया जा सकता है, अथवा, किस दृष्टि विन्दु से इसे धर्म कहा जा सकता है, और इस धर्म का कितना महत्त्व समझा जाय ? राग-द्वेष तो हम में होता ही है। इसको पोषित करने के लिए धर्म की कोई आवश्यकता ही नहीं। जुए जैसी कोई चीज खेली जाती है यह बात कोई सा पीनलकोड अथवा शास्त्र पढ़कर नहीं सीखता, और जुआ किस तरह खेला जाय यह सिखाने वाली शास्त्रीय पुस्तक कोई सत् शास्त्र नहीं बन जाता। ऐसी पुस्तक यदि धर्म शास्त्र बनती है तो इसलिए नहीं कि वह किसी प्रकार से जुए को उचित करार देती, प्रत्युत राज्यकर्त्ताओं से लेकर सर्वसाधारण वर्गों तक में रहने वाली जुए की अदम्य वासना देखकर यह अङ्कुश लगाती है कि यदि वह खेलना ही हो तो अमुक मर्यादा तक ही खेला जाय।

इसी तरह यदि किसी धर्म-ग्रन्थ में लिखा हो कि मनुष्य को पचीसवें वर्ष विवाह करना चाहिए, अथवा यज्ञ में किया गया मांस-भक्षण हिंसा नहीं होती, अथवा युद्ध में होने वाली हिंसा से पाप नहीं लगता, अथवा क्षत्रिय को युद्ध का आह्वान सदैव स्वीकार करना चाहिए, अथवा अमुक मनुष्यों को अस्पृश्य समझना चाहिए, तो इसका यह अर्थ नहीं कि पचीसवां वर्ष लगते ही विवाह कर लेने में ही मुक्ति है, यज्ञ में मांस भक्षण करने मेंही मुक्ति है, अथवा युद्ध में बराबर डायरशाही चलाई जा सकती है, अथवा क्षत्रिय को युद्ध का प्रसंग ढूँढ़ते रहना चाहिए, अथवा अस्पृश्य को स्पृश्य समझा ही नहीं जा सकता। प्रत्युत यह देखकर कि मनुष्य में रहने वाली अदम्य कामवासना, मांसाभिरुचि, युद्धप्रियता, जात्यभिमान, आदि राग-द्वेषों को अपने समय के समाज से सर्वथा निर्मूल करना सम्भव नहीं है,—अतः इन राग-द्वेषों से समाज को और भूतप्राणियों को कम में कम हानि हो, और संसार का चक्र तो अवश्य चलने वाला है ही, इसलिए इसे ठीक-ठीक रीति से चलाने के हेतु से – ये धर्म निश्चित किये गये हैं। ऐसे धर्मों की अमुक या अमुक बात कभी भी सनातनकाल के लिए एकसी हो नहीं सकती। प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार इनमें अदलबदल होती ही रहती है। चाहे दीर्घ दर्शी और अधिक पूर्णता को प्राप्त पुरुष ये घटबढ़ निश्चित करें अथवा परिस्थिति से उत्पन्न रूढ़ियाँ इनका निश्चय करें, किन्तु इनमें हेर-फेर होता अवश्य रहता है। किस काल में जनता में किस प्रकार के विचार और रिवाज को यह जानने के लिए भले ही ये धर्म-ग्रन्थ उपयोगी हों किन्तु उनका वह प्रयोजन नहीं होता कि उनमें की सूक्ष्म बातें सर्वकाल के लिए उपयोगी हैं।

एक उदाहरण देने से यह बात अधिक स्पष्ट होगी। मान लो कि जापान-सरकार के अत्याचारों के कारण अथवा जापान के प्रति द्वेष

बढ़ने के कारण कोरिया की जनता में अत्यन्त प्रचण्ड वैराग्नि सुलग उठे और जापान-सरकार के कर्मचारीमात्र के विरुद्ध तीव्र से तीव्र द्वेष उत्पन्न हो जाय। इसके परिणाम में कहीं उनका खून हो जाय, कहीं मारपीट हो जाय, और सर्वत्र बहिष्कार तो हो ही। मान लो कि कोरिया की जनता का ज़ोर इतना बढ़ता जाय कि सरकारी नौकरों की दशा अंत में प्रजा की दया पर ही अवलम्बित हो जाय, और उस अरसे में कोरिया में प्रजाकीय राजतन्त्र स्थापित हो जाय। मान लो कि इस राजतन्त्र के सञ्चालक हैं तो सब धार्मिक और न्याय-वृत्ति के पुरुष, किन्तु उन्हें यदि ऐसा राजतन्त्र स्थापित करना हो जो जनता को मान्य हो, उनके लिए जनता की भावनाओं की अवहेलना कर सकना शक्य नहीं होगा। अब जनता का जापानी सरकार के नौकरों के प्रति द्वेष अभी मिटा नहीं है। कई स्थानों पर तो यह द्वेष इतना बलवान है कि वश चले तो उन नौकरों के काट कर टुकड़े कर डाले। वहां ये धार्मिक और न्याय शील व्यक्ति क्या करें? मैं समझता हूँ इन लोगों को अस्पृश्यसा बनाकर भी उन्हें उबार लेने का यदि कोई मार्ग ये निकाल सकें तो उसी से उन्हें सन्तोष हो जायगा और यह आशा करेंगे कि समय बीतने पर पुराना द्वेष विस्मृत हो जायगा और भावी अग्रगण्य उन्हें अपना लेंगे। अब यह सम्भव है कि इन समझदार अथवा बुद्धिमान मनुष्यों को जो क़ानून बनाना पड़े, वह देखने में तो इस प्रकार का होगा मानो वह पुराने सरकारी नौकरों पर अस्पृश्यता लादकर सज़ा देता है, क्योंकि ऐसी भाषा में क़ानून बनाये बिना जनता की द्वेष वृत्ति का शान्त न होना सम्भव ही नहीं मालूम होता। इस प्रकार उस समय की परिस्थिति में उक्त क़ानून का बनाया जाना उचित था, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वह कानून सनातन काल तक के लिए उसी रूप में रहना चाहिए। भविष्य के अग्रगण्य लोग इन समझदार मनुष्यों की अपेक्षा अन्य बातों

में भले ही कम शुद्ध चित्त के हों, फिर भी यदि उन्हें जनता के इस भाग पर लादी गई उक्त सज्ञा को उठा देने का धर्म सूझ पड़े, तो वैसा करना उनके लिए कर्त्तव्य रूप ही हो जाता है।

इस प्रकार के पुरातन धर्म-ग्रन्थों के विषय में भी यही विचार-सरणि लागू पड़ती है।

(४)

लेकिन, इस तरह तो हरेक आदमी प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में दखल देने की छूट ले सकता है। इससे जनता की हज़ारों वर्षों की मान्यताएँ टूट जायँगी, और इसे सामान्यतया लोग सहन कर नहीं सकते। जनता का अधिकांश भाग लगातार नये-नये सुधार किये जाना कभी पसन्द नहीं करता, क्योंकि प्रचलित व्यवस्था में कुछ उखाड़-पछाड़ किये बिना, कतिपय पुरानी प्रथाएँ तोड़े बिना सुधार हो नहीं सकते, और ऐसी उखाड़-पछाड़ से तात्कालिक असुविधाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। इसलिए अमुक पुराना अथवा नया नियम धर्म का स्थायी अंग है अथवा तात्कालिक है यह जानने का साधन होना चाहिए। अर्थात् धर्म का धर्मत्व क्या है? धर्म का आत्मा क्या है? जैसे भिन्न-भिन्न पदार्थों के विषय में कहा है कि—

जल में रस मैं पार्थ,—प्रकाश शशि—सूर्य में,
ऊंकार सर्व वेदों में, शब्द आकाश में, तथा,
पुरुषत्व नरों में हूं, भूमि में गंध हूं भली,
अग्नि में तेज कौन्तेय, तापसों में तथा तप,

(अ० ७, ८-९)

उसी तरह क्या यह कहा जा सकता है कि धर्म में प्रभु किस रूप में बसते हैं? यह जानने की आवश्यकता है। इसका अर्थ गीता के प्रवचनों में ढूंढा जा सकता है या नहीं यह देखना है।

महाभारत में अन्यः अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि सत्य धर्म का आत्मा है। किन्तु सत्य अधिक व्यापक और इसलिए और भी कठिनाई पैदा करने वाला शब्द है। फिर, वहाँ धर्म शब्द के अर्थ का भी अधिक व्यापक होना सम्भव है। यहाँ हमें 'धर्म' अर्थात् आचार-धर्म, जीवन-व्यवहार के नियम के अर्थ में इसका आत्मा खोज निकालना है।

यदि मुझे यह उत्तर देने का अधिकार हो तो मैं कहूँगा कि समबुद्धि इस धर्म का आत्मा है। अमुक ग्रन्थ अथवा अमुक सलाह धर्म-युक्त है या नहीं यह जानने की कुञ्जी यही है कि उससे परिणाम में समदृष्टि की दिशा में प्रयाण होता है अथवा विषम दृष्टि में स्थिरता होती है? धर्म की अमुक विधि अथवा निषेध उस धर्म का आत्मा नहीं, वरन बाह्य कलेवर अथवा परिधान मात्र हैं। यदि इसके मूल में धर्म रचियता की दृष्टि समबुद्धि से उत्पन्न हुई हो और उसे बढ़ाती अथवा उस ओर प्रेरित करती हो तो वह धर्म है अन्यथा अधर्म अथवा केवल तात्कालिक उपाय भर है।

युग-युग में इस समबुद्धि का प्रत्यक्ष स्वरूप व्यापक होता जाय तो धर्म का विकास हुआ समझा जाता है, और यदि सकुचित होता जाय तो ह्रास हुआ माना जाता है। उदाहरण के तौर पर, जहाँ सर्वत्र यह प्रथा हो कि शत्रु को जहाँ देखे वहीं, चाहे जिस समय, और चाहे जिस स्थिति में खतम ही कर डालना चाहिए, वहाँ, यदि कोई ऐसे आचार का उपदेश करे कि उसके मारने में अमुक मर्यादा का पालन होना चाहिए, तो इससे यह सूचित होता है कि उस उपदेश करने वाले के हृदय में समबुद्धिका उदय हुआ है। यद्यपि इस समबुद्धि का प्रत्यक्ष स्वरूप उस समय की परिस्थिति के कारण मर्यादित ही रहेगा; फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि उसने धर्म का मार्ग निश्चित किया

है। उसके बाद जब समबुद्धि इससे भी आगे बढ़ेगी, तब इसके नियमों का फिर से शोधन होगा, और अन्त में यहाँ तक पहुँचा जा सकता है कि शत्रु को शत्रु ही न समझा जाय।

इसी प्रकार जहाँ किसी कारण से समाज के द्वारा तिरस्कृत किए गये कुछ लोगों को अनेक कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हों, वहाँ किसी उपदेशक का यह उपदेश कि उन्हें, अमुक दिवस तो दान देना ही चाहिए, उसकी समदृष्टि की भावना में से उत्पन्न समझा जायगा। वैष्णव आचार्यों की यह प्रवृत्ति कि जो वैष्णवी कण्ठी पहिरें उन्हें अर्थात् उन्हें हरिजन का चिन्ह देकर, स्वीकार कर लिया जाय, उसी दृष्टि से पैदा हुई हैं। यह समबुद्धि आगे बढ़ कर अन्त में जबतक इस सारे ही वर्ग को दूसरे के समान ही अधिकारी न बना डाले तब तक उसका विकास होना शेष है यह समझाया जायगा। शेष सभी बीच की नियम मर्यादाएँ एक ओर समबुद्धि का ध्येय तथा दूसरी ओर परिस्थिति और धर्म-प्रवर्तक की शक्ति के बीच तारतम्य समझा जायँगा।

धर्म ग्रन्थों के पढ़ने-विचारने में श्रेयार्थी धार्मिक पुरुष की यही दृष्टि रहती है। वह यह देखता है कि अमुक धर्म-ग्रन्थ मुझ में रहने वाली समदृष्टि की नैसर्गिक वृत्ति के विकास में उत्तेजन देने वाली है अथवा मुरझा देने वाली हैं, मुझे अपने काल की संकुचित रागद्वेष से बन्धी हुई मर्यादाओं से जकड़ रखने वाला है, अथवा उन्हें तोड़ कर समदृष्टि बढ़ाने में प्रोत्साहन देने वाला है। जो शास्त्रवाक्य उस की समदृष्टि को उत्तेजन देते हैं, वे ही उसे धर्म के आत्मारूप प्रतीत होते हैं, और ऐसे वाक्यों के कारण ही वह ग्रन्थ उस के लिए पूज्य और प्रमाणिक बन जाता है।

इस प्रकार यदि वह बाइबिल पढ़े तो उस में आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत निकाल लेने की छुट्टी है, इस लिए ईसामसीह का यह उपदेश कि कोई, बायें गाल पर थप्पड़ मारे तो अपना दाहिना

गाल भी उस के सामने कर दो, योग्य है अथवा बाइबिल के 'पुराने वचन' का खण्डन करने वाला है यह सार नहीं निकालता। वरन यह समझता है कि जिस समय में यहूदी लोग इतने उत्तेजित होंगे कि आँख अथवा दाँत के बदले में खून कर डालते हों, उस समय में जितनी चोट पहुँचाई गई हो उस से अधिक दण्ड न दिया जासके एसा नियम सम-दृष्टि की ओर प्रयाण सूचित करने वाला ही समझा जाता था, और इस लिए पवित्र धर्म ही था, किन्तु ईसामसीह को धर्म के आत्मा की पहचान थी इस लिए उन्हों ने उस के विकास की दिशा का निर्देश दिया।

इसी प्रकार ऐसा श्रेयार्थी कुरान पढ़कर यह संकुचित अर्थ नहीं करता कि उसमें चार स्त्रियाँ करने की इजाजत है; दासी रखने की छूट है, दोषी अथवा गुनहगार स्त्री के पति को उस अमुक प्रकार का दण्ड देने की स्वतन्त्रता है, अथवा स्लाम के शत्रुओं का अमुक प्रकार से नाश करने की इजाज़त है। प्रत्युत वह यह अर्थ निकलता है कि पैगम्बर के पहिले स्त्री जाति की जो दुर्दशा थी, इस ग्रन्थ की वृत्ति उनकी उस दशा के सुधार की ओर है, जङ्गली अरब लोग अपने विरोधियों पर जो घातक अत्याचार करते थे उन पर अनेक अनेक मर्यादाएँ लगाने की हैं, और इस प्रकार पैगम्बर के उपदेश की सार-ध्वनि समबुद्धि की पोषक है, विरोधी नहीं। इस प्रकार विचार करने वाला मुसलमान श्रेयार्थी उस के उपदेशों की मर्यादा बढ़ाने का इस तरह प्रयत्न करेगा जिस से कि धर्म का यह आत्मा अधिकाधिक विकास पावे।

इसी प्रकार श्रेयार्थी हिन्दू-धर्म के इस स्वरूप की ही शोध के लिए महाभारत गीता आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। इन की, कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिऐ प्रेरित किया, युद्ध में कपट किया, स्थल-स्थल पर ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता का बखान किया है, आदि बातें धर्म का प्राण रूप अङ्ग नहीं हैं। समदृष्टि, निष्काम बुद्धि, सत्य अहिंसा, यही इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की सार-ध्वनि है। कृष्ण के अमुक आचरण ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य हों तो भी यह नहीं मानना चाहिए कि वे सनातन धर्म

के द्योतक हैं, वरन् यही समझना चाहिए कि समदृष्टि का ध्येय और अपने काल अथवा समय की परिस्थिति और शक्ति, इन दो कारणों के मिश्रण से हुए मर्यादित प्रयोग हैं। अति प्राचीन उपनिषद् काल से आज तक के धर्मप्रवर्तक यह कहते आये हैं कि भूतकाल में हुए महापुरुषों के फुटकर सभी आचरण अनुकरणीय नहीं होते, वरन् इन आचरणों के मूल में रहने वाली धर्मनिष्ठा ही आचरणीय होती है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरेयोपनिषद् में घर जाते हुए शिष्य से गुरु कहता है।

यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि॥
यान्यस्माकंसुचरितानि, तानि सेवितव्यानि। नोइतराणि॥*

इसी प्रकार श्री सहजानन्द स्वामी अपनी 'शिक्षा पत्री' में लिखते हैं—

पूर्वैरपि महद्भिर्यदधर्माचरणं क्व चत्।
कृतं स्यात्तु नग्राह्य ग्राह्योधर्मस्तु तत्कृतः।×

इससे, शत्रु को मारने के लिये अथवा उसके साथ कपट करने की इजाज़त लेने के लिये धर्म ग्रन्थों के पढ़ने की आवश्यकता होती ही नहीं। उसके लिये धर्म के आधार की आवश्यकता ही नहीं। महाभारत अथवा गीता पढ़कर बिल्ली ने चूहे को मारने का धर्म निश्चित नहीं किया, उसके आधार पर एक कुत्ता दूसरे कुत्ते के पास रोटी देख कर उस पर हमला नहीं करता, अथवा साँप और नौले ने परस्पर बैर करने का धर्म स्वीकार नहीं किया। मनुष्य इन सब से अनेक गुना

---

* जो अनिन्द्य कर्म हों उन्हीं का आचरण करना चाहिए, दूसरों का नहीं। जो हमारे सत्कर्म हों उन्हीं का पालन करना चाहिए दूसरों का नहीं।

× पूर्व के महा पुरुषों ने भी यदि कभी अधर्माचरण किया हो तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन उनके आचरित धर्म का ही अनुकरण करना चाहिए।

अधिक बुद्धिशाली है अतः इतना जानने के लिये उसे एक लाख श्लोक वाला धर्म धर्मग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता नहीं। धर्म ग्रन्थ न पढ़ने पर भी मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणाएं ही उसे उस ओर प्रवृत्त करेंगी, इतनाही नहीं, प्रत्युत धर्म-ग्रन्थ में स्पष्ट प्रतिबन्ध होने पर भी अनेक लोग चरी, व्यभिचार आदि की तरह यह भी करेंगे ही।

कहा जाता है कि महाभारत की कथाएँ सुनकर शिवाजी महाराज पर वीर रस का जोश चढ़ता था। उन को ऐसा जोश चढ़ना स्वाभाविक ही था, क्यों कि वे क्षात्रजीवन ही बिताते थे। महाभारत के बदले यदि उन्हों ने 'इलियड' नामक अंग्रेजी महाकाव्य पढ़ा होता तो उस से भी उन्हें वैसा ही प्रोत्साहन मिलता। महाभारत सुनकर उन्हों ने अपने में कुछ क्षात्र वृत्ति पैदा नहीं की थी वरन इतना हीं होता था कि इनमें क्षात्रवृत्ति होने के कारण इन कथाओं से उसे पोषण भी मिलता था। यह पोषण महाभारत के धार्मिक स्वरूप के कारण नहीं, वरना वीर रस के काव्य रूप के कारण मिलता था। धर्म ग्रन्थ से तो वे यह सीखे थे कि कहीं क़ुरान मिल जाता तो उसे आदर पूर्वक मुसलमान के पास भेज देते, कोई अविवेकी कर्मचारी नज़राने के तौर पर कोई सुन्दर अबला भेंट करता, तो उसे माता कह कर उसके पति के सुपुर्द कर देते, अष्टप्रधान की योजना करते, साधु-सन्त की पूजा करते और गाय की रक्षा करते थे। यदि इन के चित्त पर धर्म के संस्कार होते तो कदाचित इन्होंने भी शत्रु के किसी शहर में क़त्ले आम मचाकर आनन्द माना होता, मस्जिदें तोड़कर, क़ुरान जलाकर, शत्रु के प्रति द्वेष प्रकट किया होता और शत्रुओं की स्त्रियों पर बलात्कार किया होता।

धर्म का आत्मा समबुद्धि है, यदि यह दृष्टि हम समझ सकें, तो गीता हमें बल प्रद, आशा प्रद और बोध प्रद ग्रन्थ प्रतीत होगा। धर्म

का यह तत्व अपने जीवन में और संसार में दिनों दिन बढ़ता जाय, उसका अधिकाधिक व्यवहार होता देख सकें, तो वह धर्म की गति है। किन्तु, यदि इस विषय में जहां तक पूर्वज पहुँचे हैं वहीं रुक जायं तो यह कहना होगा कि धर्म को पक्षाघात अर्थात् लक़वा हो गया है; और यदि उसको भी सङ्कुचित बनाया जाता हो, तो कहना चाहिए कि हम अधर्म के पथ पर चल रहे हैं।

(५)

ऊपर कहा जा चुका है कि निष्काम कर्म योग द्वारा कर्म मार्ग को श्रेयः–प्राप्ति का वाहन बनाना गीता का प्रमुख उपदेश है। ईशोपनिषद् में इस विषय की चर्चा है; किन्तु वह २०–२२ मन्त्रों की छोटी सी पुस्तक होने के कारण उसमें तो इसका स्पर्श मात्र है, विवेचन नहीं। यदि यह कहीं यथावत समझाया गया है तो वह केवल गीता में ही है।

किन्तु निष्काम कर्म योग के विचार का गीता में समुचित रूप से निरूपण हुआ है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इसका निरूपण करने वाले महापुरुष में उस धर्म का सम्पूर्ण रूप में विकास हो गया था अथवा उसका पूरा-पूरा रहस्य और दूर तक का परिणाम उनकी कल्पना में आ गया था। चक्र का सर्व प्रथम निर्माण करने वाले ने गोल आकृति द्वारा उत्पन्न हुई काम करने की सुविधा की प्रथम खोज की, किन्तु क्या इससे यह कहा जा सकता है कि चक्राकृति कैसे-कैसे यन्त्रों का निर्माण कर सकेगी, इसकी चक्र ऋषि को उस समय पूरी-पूरी कल्पना हो गई होगी? चक्राकृति के सम्बन्ध में इनकी नज़र गाड़ी, चर्खा अथवा चक्की आदि २ तकक ही पहुची होंगी, किंतु वर्त्तमान युग के विशाल कारखाने इनकी इस शोध का ही उपयोग करेंगे, यह बात स्वप्न में भी इन की कल्पना में न आई होगी। उसी प्रकार यह

सम्भव है कि निष्काम कर्म योग के आदि द्रष्टा को सम्भव है, इस सिद्धान्त के सम्पूर्ण रहस्य—जीवन के विविध क्षेत्रों में उसके स्वरूप—की कल्पना न हुई हो। उसने अपने काल में निष्काम कर्म योग के अथवा समबुद्धि के योग के जितने क्षेत्र की कल्पना की और उसकी व्याख्या स्वीकार की हो, उसकी अपेक्षा आज उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्याख्या अधिक स्पष्ट करने की गुंजायश हो सकती है, और आज जितना है, भविष्य में उससे और भी अधिक क्षेत्र में उसका दर्शन होना चाहिए, और उसकी व्याख्या अधिक स्पष्ट बननी चाहिए। ऐसा होने पर ही धर्म का विकास होना कहा जा सकता है।

गीता के बाद के हमारे धार्मिक साहित्य में एक नया शब्द बार बार व्यवहार किया जाता है, और वह है साक्षात्कार।' ईश्वर का साक्षात्कार 'आत्मा का साक्षात्कार,' धर्म का साक्षात्कार' आदि अनेक शब्द प्रयोग रुढ़ि बन गये हैं। यह साक्षात्कार' क्या है इस विषय में लोगों में अनेक प्रकार की कल्पनाएं हैं, और विद्वानों में भी बहुत कम इसका वास्तविक आशय समझते देखे गये हैं। मैं इसके अर्थ का—

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्। ॥ गीता ९-२ ॥९—२॥

अर्थात् स्पष्ट रूप से समझा जा सके और व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया जा सके यह रूप सूचित करता हूँ और उसके द्वारा धर्म का विकाशशील स्वरूप समझाना चाहता हूं।

जिस मनुष्य की यह आग्रहपूर्ण श्रद्धा हो कि '**शरीरमाद्यं खलुधर्म साधनम्**'के अनुसार नीरोग, बलवान और दृढ़ शरीर धर्म प्राप्ति का प्रथम साधन है, वह व्यक्ति इस धर्म-साधन का साक्षात्कार कब और किस प्रकार कर सकता है। यदि वह चाहता हो कि संसार में धर्म की वृद्धि हो, तो यह कब समझे कि उसे अपने धर्म साधन का साक्षात्कार हो गया वह अवश्य ही पहले तो अपने जीवन में ही उसका साक्षात्कार करने का

प्रयत्न करेगा, अर्थात् अपने शरीर को नीरोग, बलवान और दृढ़ बनाने का जी तोड़ प्रयत्न करेगा। यदि इस व्यक्ति का इतना ही संकुचित दृष्टि-कोण होगा और उस में इतना ही पुरुषार्थ करने की शक्ति होगी, तो वह यहीं अटक जायगा। इसने यही समझा जायगा कि अपने जीवन में अपनी निज की आवश्यकता जितना ही इस धर्म-साधन का साक्षात्कार किया है। लेकिन जिस मनुष्य का जीवन केवल अपने शरीर में ही न समा जाता हो, प्रत्युत संसार के भी छोटे या बड़े प्रदेशों को अपने जीवन का अंग समझता हो, वह इतने से ही इस धर्म-साधन का साक्षात्कार हो जाना नहीं मानेगा। वह कहीं भी रोग और दुर्बलता को देख-कर दुःखी हुए बिना न रहेगा। वह अपने आस-पास सर्वत्र नीरोगिता हृष्ट-पुष्टता और शारीरिक सामर्थ्य का दर्शन करने की इच्छा करेगा। इससे जगह-जगह आरोग्यालय व्यायाम-शालाएं आदि स्थापित करने का प्रयत्न करता रहेगा। मनुष्य ही नहीं वरन पशुओं को भी वह हृष्ट-पुष्ट और निरोगी देखने की इच्छा करेगा, फल-फूल के वृक्षों का भी विकास चाहेगा। जब तक कहीं भी रोग अथवा निर्बलता है, तब तक संसार में धर्म का पहिला साधन ही सिद्ध नहीं हुआ, इस दशा में दूसरे धर्मों की क्या बात की जाय, इस प्रकार के उद्‌गार सदैव उसके मुंह से निकलते रहेंगे।

इसी प्रकार जो आत्मा का साक्षात्कार करना चाहते हों उनका साक्षात्कार किस प्रकार का होगा? व्यवहार रूप से वह आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप मानता होगा। उस का वह स्वयं अपने में और उसी प्रकार जगत् में दर्शन करने की इच्छा करेगा, जब उसी का व्यवहार और पोषण होता देखेगा तभी वह यह मान सकेगा कि वह आत्मा का साक्षात्कार कर रहा है। अर्थात् यदि वह यह कहे कि आत्मा सत्य स्वरूप है तो वह स्वयं अपने में सत्य की मूर्ति बनाने के लिए प्रयत्नशील रहेगा और

संसार में भी सत्य का व्यवहार स्थापित हुआ देखना चाहेगा। यदि वह इस आत्मा को प्रेम मय समझता होगा, तो भूत प्राणियों में इस प्रेम का ही व्यवहार उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा, और यदि ज्ञान स्वरूप समझेगा तो वैसा करेगा। जब तक वह जीवित है और अपने में अथवा आस-पास के असत्य, द्वेष अथवा अज्ञान को मौजूद देखता है तब तक वह अपने को उस आत्मा का साधक ही मानेगा, सिद्ध हुआ कभी नहीं समझेगा। अहिंसा के स्वरूप का वर्णन करते हुए योग सूत्रकार ने कहा है कि उस के सानिध्य में नैसर्गिक वैर वृत्ति भी शान्त हो जाती है। ऐसा हो जाने पर ही यह कहा जा सकता है कि अहिंसा उसे साक्षात दर्शन देती है। यही विचार सरणि आत्मा की विभूति पर दूसरे गुणों को भी लागू पड़ती है।

यह व्यवहार्य्य और ध्येय बन सके यही साक्षात्कार का अर्थ है। इसके सिवा साक्षात्कार की दूसरी बातें कुछ अस्पष्ट कल्पनाएँही होती है। किसीभी प्रकारकी प्रवृत्ति में भाग लेने वाले यदि अपनी भावनाओं और वृत्ति का पृथक्करण करेंगे, तो उन्हें मालूम पड़ जायगा कि साक्षात्कार का अर्थ अनजान में भी उन्हों ने जान लिया था। किंतु इस प्रकार अपनी भावनाओं का साक्षात्कार करने की अभिलाषा क्यों होती है? इसका कारण यह है कि मनुष्य के हृदय में बिना सिखाये ही यह प्रतीति रहती है कि अपने और संसार में किसी प्रकार की एकता है, और इस लिए वह जिसे श्रेष्ठ समझता है, उससे संसार को वञ्चित रखना नहीं चाहता। इस प्रकार वह सत्य, प्रेम, ज्ञान आदि फुट कर गुणों के साक्षात्कार के नाम पर जिस श्रद्धा का जिस अंतः प्रतीति का प्रयोग करता है, वह किसी प्रकार की समबुद्धि होती है, अर्थात् समबुद्धि को ही वह धर्म का धर्मत्व समझता है।

(७)

गीता का सिखाया धर्म निष्काम कर्मयोग है और उस के मूल में समबुद्धि की अप्रत्यक्ष प्रतीत में से निष्काम कर्मयोग उत्पन्न होता है और निष्काम कर्मयोग की साधनाएँ समबुद्धि का स्पष्ट साक्षात्कार होता है। इस धर्म का उपासक पहिले अपने निज के व्यवहार अथवा आचरण में समबुद्धि को और उस के साधन रूप अनासक्ति योग को सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। ऐसा करते हुए वह स्वयं अपने में उस का साक्षात्कार करेगा। किन्तु अपने जीवन में ऐसे साक्षात्कार करने का प्रयत्न तबतक पूरा-पूरा सफल नहीं होगा, जबतक कि उसे संसार में भी सिद्ध हुआ देखने के लिए प्रयत्न किया जाय। इस से वह ऐसा प्रयत्न करता ही रहेगा, कि जिस से पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में वह उस धर्म का ही दर्शन कर सके। दूसरे खुद अपने में साक्षात्कार होना और फिर जगत में साक्षात्कार हो, यह एक दूसरे के बाद होने वाली वस्तुएं नहीं, बरन कई अंशों में स्वतन्त्र रूप से और कई अंशों में एक दूसरे की सहायता से बढ़ता है।

यदि यह बात हम समझ लें और समबुद्धि धर्म का आत्मा है, यदि यह बात हम स्वीकार करते हैं। तो धर्म की स्थापना के लिये कहे धर्म का साक्षात्कार करने के लिये कहे अथवा संसार में धर्म राज्य चलाने के लिये कहे संसारमें किसी प्रकार का व्यवहार बढ़ना चाहिये और उस व्यवहार के बढ़ने के लिये किस दिशा का प्रयोग होना चाहिये यह समझना कठिन न होगा। फिर यदि यह वस्तु हम समझ लें तो आगे बढ़ने वाली मानव जनता के धर्म का बाह्य स्वरुप युग-युग में बदलता बढ़ता विकास पाता और अधिक से अधिक समदृष्टि का साक्षात्कार कराने वाला होता ही रहेगा। जिस जनता का धर्म ऐसा विकास न करे वह धर्म लकवा मारे हुए अवयव की तरह निष्प्राण हो जायगा।

(८)

जीवन को सन्मार्ग पर ले जाना जीवन का साधन है या साध्य, यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है। अनेक लोगों की यह धारणा बनी हुई देखने में आती है कि अध्यात्मिक जीवन में अमुक सीमा के बाद एक ऐसी स्थिति आती है कि जिस के बाद मनुष्य को सन्मार्ग से जीवन बिताने का आग्रह रखने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार कि बालक को जब तक चलना न आवे तब तक वह गड्डलिये का उपयोग करता है, उसी तरह 'ब्रह्म दशा' नाम की मानी गई एक स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद सन्मार्ग से ही जीवन व्यतीत करने का आग्रह रखने की आवश्यकता नहीं रहती। कुछ लोग तो यहाँ तक लिख गये हैं कि ऐसे आग्रह का रहना अज्ञान के शेष रहने का चिन्ह है। यह धारणा वेदान्त मार्ग में घुसी हुई भयङ्कर गन्दगी है, और मुझे यह कहने में ज़रा भी संङ्कोच नहीं है। किसी न किसी रूप में लगभग प्रत्येक धर्म और और सम्प्रदाय में यह घुसी हुई है। यह ब्रह्म-ज्ञान या तो सरासर पाखण्ड होता है। अथवा किसी तरह के पागलपन का चिन्ह होता है। चलने की कला और गड्ड लिये का जैसा साध्य-साधन समवन्ध है, वैसा ब्रह्म स्थिति और सन्मार्ग का नहीं है। प्रत्युत जिस प्रकार बम्बई आगरा रोड़ को बम्बई से आगरा पहुंचने का श्रेष्ठ साधन और आगरा को साध्य समझा जात है, वैसा यह सम्बन्ध है, अर्थात् आगरा पहुँचना हो तो इसी रास्ते पहुँचा जा सकता है, इसे कहीं भी छोड़ देने से नहीं; क्यों कि इस मार्ग का अन्तिम छोर ही तो आगरा है। आगरा पहुँचने के बाद वह रास्ता छोड़ जाय या नहीं यह प्रश्न ही अस्थानीय होजाता है; किन्तु आगरा पहुचने के बाद फिर बम्बई के साथ व्यहार रखना हो तो उसी मार्ग से रक्खा जा सकता है, आड़े माग से रखने में जोखम ही है। इसी प्रकार सन्मार्गी जीवन के अन्तिम छोर का ही नाम ब्रह्म स्थिति अथवा मोक्ष है। अतः वह मार्ग छोड़ा जा ही नहीं सकता। ब्रह्मस्थिति पर पहुँचने के बाद

भी जीवन के व्यवहार चलते रहे तो वे सन्मार्ग द्वारा ही हो सकते हैं; आड़े मार्ग से कभी किये ही नहीं जा सकते। +

किन्तु, तब क्या साधक सिद्ध में कोई भेद ही नहीं है। क्या सब साधन बम्बई-आगरा रोड़ जैसे ही हैं, अथवा जिनका उपयोग पीछे से छोड़ा जा सके ऐसे गट्ठलिये जैसे भी कोई साधन हैं ? इसका उत्तर यह है कि ऐसे भी कितने ही साधन हैं। 'वे कैसे होते हैं' यह एक उदाहरण दे कर समझाऊँगा। व्याकुल साधक इस बात के लिये बहुत डरता और सावधान रहता है कि कहीं चित्त में कुछ अशुद्धि न घुस आवे अथवा विकार जोर न पकड़ जाय। 'बलवानिन्द्रिय ग्रामंविद्वां समपि कर्षति' अर्थात् इन्द्रियों का बलवान समूह विद्वान को भी फंसा लेता है। इसको अक्षरशः सत्य मान कर वह सामान्य सदाचार के नियमों का भी अधिक कठोरता से पालन करता है। उदाहरणार्थ सामान्य सदाचार का नियम यह सिखाता है कि जवान स्त्री-पुरुषों को एकान्त सेवन नहीं करना चाहिये। साधक एकान्त सेवन तो करता नहीं परन्तु कहीं अपने मन में कोई कुविचार उत्पन्न न हो जाय इसलिये यदि वह पुरुष है तो जवान स्त्री के और स्त्री है तो जवान पुरुष के संसर्ग में आते ही अत्यन्त सावधान एवम् सतर्क रहता है। वह किसी भी स्त्री के साथ एक आसन पर भी बैठना नहीं चाहता, लक्ष्मण की तरह उसके पैरों पर ही उसकी दृष्टि रहती है, कुतूहल से भी वह उसके मुँह पर नहीं ठहरती। सामाजिक कार्यों में साथ देना पड़े तो वहां भी वह मर्यादा-पालन में बहुत आग्रही रहता है। ऐसे मर्यादा पालन में से ही उसका चित्त शुद्ध और निर्दोष होता है और वह आगे बढ़ता है। उसे धीरे-धीरे अपने चित्त पर विश्वास होता है। जिस

+ इसके साथ अध्याय ४ श्लोक ३७ का मन्थन फिर पढ़ने से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

प्रकार छः महीने के नग्न बालक को देख कर किसी को विकार उत्पन्न नहीं होता है और जिस तरह ५ बरस के बालक को विकार का अनुभव नहीं होता उसी तरह इस पुरुष में पाँच बरस के बालक की सी निर्दोषिता आती है, और वस्त्र रहित अवस्था में भी तरुण स्त्री दिखाई दे जाय अथवा एकान्त में ही उससे भेंट होजाय तो उससे जिस तरह छः महीने के बालक को देख कर किसी विकार का अनुभव नहीं होता, उसी तरह इसे विकार नहीं होता। उसके बाद इसका आचरण सहज ही अधिक स्वाभाविक बनता जाता है। अर्थात् डरसे स्वयं जो बाड़ खड़ी करली थी वह घटती जाती हैं। घटती जाने का यह मतलब नहीं कि वह किसी दिन एक दम ही सब तोड़ डालता है अथवा तोड़ने का खास प्रयत्न करता हैं, बल्कि जिस प्रकार जिस बाड़ को ठीक रखने का आग्रह न रक्खा जाय वह जिस तरह धीरे-धीरे ढहती जाती है, इसी तरह यह भी धीरे-धीरे ढहती जाती हैं। इस प्रकार के विधि-निषेधों का उद्देश चित्त को प्रलोभनों में से बचाना होने के कारण जिस प्रकार कि पांच बरस के बालक को इनका ध्यान नहीं होता और वह इनकी अवहेलना कर जाता है उसी तरह यह सम्भव हो सकता है कि समाज सदाचारी समाज मे पालन किये जाने वाले कतिपय विधि-निषेधों की भी वह कर्तव्य के आगे अवहेलना कर जाय, यह अवहेलना विधि-निषेध के प्रति अनादर अथवा तुच्छ भाव उत्पन्न होने के कारण नहीं प्रत्युत किसी कर्त्तव्य का पालन करने मे ही हो जाता हैं सज्जन पुरुष अपनी लड़की के साथ जितनी सहज छूट अथवा स्वतन्त्रता लेते हैं, उससे अधिक इसका भंग नहीं होता। इसी पद्धति से विधि-निषेध के दूसरे नियमों का विचार करना चाहिये।

किंतु समाज ने ब्रह्म स्थिति के सम्बन्ध मे जो विचित्र कल्पनाएं बना रक्खी है, उनके कारण जो अपने विषय में उत्तम स्थिति को प्राप्त करने की धारणाएं फैला सकते हैं, वे इस दशा के नाम पर पाखण्ड फैलाते हैं,

और धर्म-ग्रन्थों के फुटकर-फुटकर वचनों का कुछ का कुछ अर्थ निकाल कर उनके आधार पर विस्तार पूर्वक ग्रन्थ निर्माण करते हैं।

(६)

हम लोगों को आड़े मार्ग से जाने का प्रलोभन रहा ही करता है। सत्य और धर्म का मार्ग कठिन लम्बा, अव्यावहारिक और आकाश–गमन जैसा प्रतीत होता है। जिस प्रकार कई बार मुख्य एवं राज मार्ग की अपेक्षा आड़ी-टेढ़ी पगडन्डियों का रास्ता छोटा मालूम होता है, इसी तरह असत्य और अधर्म का मार्ग संक्षिप्त अर्थात् छोटा मालूम होता है।

किंतु ऐसा प्रतीत होने का कारण हम में पोषित अनुचित अथवा असत्य आदतें ही हैं। अनघड़ अध्यापक का मन विद्यार्थी को पीटने को ही करता है। उस बालक को सुधारने का यही सरल उपाय प्रतीत होता है। क्यों कि दूसरा उसे संयम का पालन नहीं करना पड़ता। विद्यार्थी का मन पहचानने और शिक्षा-शास्त्र का विचार करने की झंझट में नहीं पड़ना पड़ता, किंतु हम जानते हैं, कि जो अध्यापक यह मार्ग छोड़ देते हैं और शास्त्रीय होते ही अपना शिक्षण–कौशल बढ़ा कर सिखाने का प्रयत्न करते हैं उन्हें फिर उक्त पहिले मार्ग पर जाना अच्छा नहीं लगता अथवा जाता है तो इसे अपना गुण नहीं त्रुटि ही समझता है शास्त्रीय मार्ग केवल शुद्ध ही नहीं है, वरन साथ ही उसका अभ्यास होजाने के बाद वह अधिक सरल, कार्य-साधक और शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों को रोचक प्रतीत होता है।

यही नियम हम जीवन के दूसरे व्यवहारों में भी देख सकतेहैं। किसी सुतार को अपने औज़ार ग़लत तरीके में पकड़ने की अथवा किसी पिंजारे को अपनी पींजन एवं किसी खिलाड़ी को डण्डा ग़लत तौर पर चलाने की

आदत पड़ गई हो, और बाद में इन्हें कोई सच्ची विधि बताने का प्रयत्न करता है, तो वह इन्हें अधिक कठिन प्रतीत होती है। आरम्भ में इन्हें सच्ची विधि में काम करने पर असफलता भी मिलती है; जितना काम कर-सकने में, इस में कम काम होजाता है। इसलिए, कईबार वह यह कहकर कि 'मुझे तो पहिला ही तरीका अच्छा लगता है। कई विधि को ग्रहण नहीं करता। किन्तु जो धैर्य रखकर नई आदत पड़ने देता है तो हमें अनु-भव होता हो कि उसकी कार्य विधि बदल गई है, श्रम घटगया है, और ग़लत तरीका चाहे जितना पसन्द आगया हो, वस्तुतः श्रेष्ठ तो नवीन विधि ही है।

इसी प्रकार हमें असत्य, अधर्म, कपट, हिंसा आदी का आचरण करके ही अपना काम निकालने की आदत पड़ी होने के कारण सत्य धर्म सरलता और अहिंसा का मार्ग कठिन और निष्फलता की ओर जाने वाला ही प्रतीत होता है, और अधर्म का सरल प्रतीत होता हुआ मार्ग ग्रहण करने को मन चला करता है। किन्तु यह निश्चय करके कि हमें अपना कार्य सिद्ध करने के लिये प्रयत्न तो करना ही है और उसके करने का तरीका भी सही काम में लाना है यदि हम सत्य को ही पकड़े रहने की आदत डालें तो अन्तमें हमें यही अनुभव होगा कि वस्तुतः यही मार्ग सीधा, सरल और पहिले की अपेक्षा कुछ अधिक परिणाम दायक हैं।

इसके आजमाइश करने के लिए एक दम संसार के बड़े कार्यों को न देखना चाहिये वरन अपने नित्य जीवन के व्यवहारों में ही इसकी परीक्षा करनी चाहिए, इनमें यदि हम दृढ़ता से धर्म-मार्ग पर ही टिके रहें और ऐसी आदत पड़जाने तक की सब असुविधाएं सहन करलें तो हमें उपर्यक्त ही अनुभव होगा। फिर तो हमें यह विश्वास हुए बिना रहेगा ही नहीं कि बड़े कार्य भी इसी तरह किये जायं तो वहां भी यही मार्ग सरल होगा। इसलिए इसी में श्रद्धा जमाने की और इसी की आदत डालने की आवश्यकता है।

(१०)

ज्यों-ज्यों सत्य और समबुद्धि के सम्बन्ध में और उनसे उत्पन्न होने वाले धर्मों के विषय में हमारी निष्ठा बढ़ती जायगी, विचार सूक्ष्म होते जायंगे और उनके परिणामों का अनुभव होता जायगा, त्यों-त्यों किसी भी लोक-संग्रह के काम को संक्षिप्त मार्ग से सिद्ध न करने की वृत्ति अधीरता और अश्रद्धा की ही प्रतीत होगी, और आगे चलकर यह निश्चय होगा कि किसी भी उदात्त ध्येय पर पहुंचने का संक्षिप्त-से-संक्षिप्त और कम-से-कम असुविधा जनक मार्ग सत्य का ही है। इस मार्गसे जाने पर भी यदि सिद्धि प्राप्त न होती हो तो इसके तीन कारण हो सकते हैं—अपने सत्याचरण में अभी किसी प्रकार की त्रुटि का रहना, इस मार्ग में हमारा नवसिखियापन अथवा फलोत्पत्ति के लिए आवश्यक समय की कमी। अतएव उसे सिद्ध करने के लिए कोई संक्षिप्त प्रतीत होने वाला अथवा विषम बुद्धि एवं असत्य का मार्ग ग्रहण करने की अपेक्षा हमें सत्य का ही अधिक ध्यान रखना चाहिए और अपनी तपस्या बढ़ानी चाहिए।

किंतु यह तपस्या क्या है? अमुक मार्ग अधर्म का है यह निश्चय करने के बाद सब से पहिले यही निर्णय कर लेना चाहिए कि उस मार्ग पर तो जाया नहीं जा सकता। इस पर शंका हो सकती है कि कहीं इससे पंगुता तो नहीं आजायगी? अधर्म के मार्ग से तो जाना नहीं है और सिद्धि देने वाला कोई निश्चित धर्म्म मार्ग दिखाई नहीं देता, जो दिखाई देता है उसके आचरण की सच्ची विधि मालूम नहीं पड़ती; कचित् धर्म-मार्ग से सिद्धि मिल ही जायगी इसका कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता ऐसी दशा में हमारे फल की आशा न छोड़ सकने वाले लाखों भाई क्या करें? बुद्धि के फलासक्ति छोड़ देने का आदर्श समझ में आजाने पर भी हृदय में रहने वाली आसक्ति क्या तुरन्त ही जा सकती है? अनासक्ति तो चित्त की एकावस्था की अन्तिम सीढ़ी मानी जाती है। तब उसकी निरर्थक बातें करने से क्या लाभ?

इस प्रकार की शङ्काओं का उठना स्वाभाविक है । यहां धैर्य-पूर्वक अपनी पात्रता बढ़ाने का नाम ही तपस्या है। यदि यह सत्य है कि असत्य की अपेक्षा सत्य का बल अधिक है और अन्त में सत्य की ही विजय है, तो अपने ध्येय को सिद्ध करने का कोई धर्मयुक्त शुद्ध मार्ग होना ही चाहिए । चैतन्य में किसी भी प्रचलित दुःख को दूर करने का शुद्ध उपाय निर्माण करने की शक्ति विद्यमान है। इसलिए मुझे वह मार्ग सूझना ही चाहिए । मुझे वह सुझाई दे इसके लिए अपना चित्त शुद्ध करना, अपनी क्षुद्र वासनाओं और आदतों का नियन्त्रण करना चाहिए । और अपने ध्येय पर ही एकाग्र होना चाहिए । इस प्रकार की श्रद्धा के साथ जो अपने कार्य में संलग्न होता है, उसे अन्त में अपनी धर्म-बुद्धि के पूर्णतया अनुकूल मार्ग मिले बिना रहता नहीं । इतनी श्रद्धा और धैर्य के अभाव में लोग अशुद्ध मार्ग को ग्रहण करेंगे यह बात ठीक है । लेकिन, इसमें यह न कहना चाहिए । कि वह मार्ग धर्मानुमोदित है । पिछले ज़माने में धर्मबुद्धि जितने अंशों में आगे बढ़ी हो, उतने ही अंशों में पिछले काल के अमुक या तमुक कृत्य अनुपयोगी हो जाते हैं । उनके जीवन का उपयोग उनके जीवन का झुकाव अथवा रुचि जानने जितना ही हो सकता है ।

(११)

गीता में तीन गुणों सत्व, रज, तम की चर्चा अच्छी तरह की गई है । त्रिगुणों के विषय में मेरी अपनी दृष्टि में और प्राचीन सांख्य-दृष्टि में जो अन्तर है, वह मैंने 'जीवन शोधक'[१] के सांख्य-खण्ड में बतलाया है । इस विषय में मैं यहाँ कुछ भी न कहूंगा।

---

१ लेख की इस गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी सस्ता साहित्य मण्डल से शीघ्र ही प्रकाशित होगा । अनुवादक—श्री हरिभाऊ उपाध्याय ।

किन्तु त्रिगुणों के विषय में लोगों में कुछ एक भ्रमपूर्ण विचार देखने में आते हैं, और गीता भी उनका समर्थन नहीं करती, अतः उनके सम्बन्ध में दो शब्द कह देना उचित होगा।

सत्व, रज, और तम इन तीन शब्दों के अर्थों में अनेक भाव प्रवेश कर गये हैं, और उनके कारण त्रिगुण की कल्पनाओं में भी बहुत अधिक मिश्रण हो गया है। लोगों में एक कल्पना इस प्रकार है- रजोगुण का अर्थ है कर्तृत्व शक्ति के साथ प्रबल राग-द्वेष का होना। जिन में प्रबल राग-द्वेष भी हों और उन्हें व्यवहार में लाने की शक्ति भी हो, तो वह रजोगुणी हैं, जिन के राग-द्वेष क्षीण होने के कारण, कर्तृत्व शक्ति घट जाती है वे सत्त्वगुणी और जिन में राग-द्वेष तो हों किन्तु कर्तृत्व शक्ति न हो तो वह तमोगुणी हैं। तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण में राग-द्वेष तथा कर्तृत्व दोनों कम होते हैं, रजोगुण में दोनों बलवान होते हैं और तमोगुण में केवल राग-द्वेष होता है, कर्तृत्व का सर्वथा अभाव रहता है।

इस के साथ-ही साथ एक दूसरी कल्पना भी लगी हुई है। वह यह कि-ब्राह्मण स्वभाव सत्व गुणी है, क्षत्रिय रजोगुणी, वैश्य रज-तम मिश्रित और शूद्र तमोगुणी है।

ये दोनों कल्पनाएं भ्रम पूर्ण हैं और प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध हैं। कर्तृत्वशक्ति का केवल रजोगुण के साथ ही सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः गीता के अठारहवें अध्याय के २६, २७ और २८ वें श्लोक के अनुसार कर्तृत्व शक्ति स्वयं ही तीन प्रकार की होती है। ऐसा कुछ नहीं है कि राग-द्वेष घट जाने से कर्तृत्व शक्ति भी घट ही जाती हो। यों कहना चाहिए कि राग-द्वेष का तो क्षय हो जाय, किन्तु कर्तृत्व शक्ति बहुत अधिक हो तो वह सात्विक कर्ता कहलायेगा, कर्तृत्व शक्ति बहुत हो किन्तु साथ में राग-द्वेष भी हो तो वह राजस

और कर्तृत्व शक्ति के साथ राग-द्वेष हो और साथ ही उस की बुद्धि अत्यन्त तामस हो तो उसे अधम, तामस अथवा राक्षसी कर्त्ता कहा जा सकता है। राग-द्वेष के घटने से क्रिया-पद्धति में अन्तर पड़ जाता है, किन्तु कर्तृत्व शक्ति घटनी ही चाहिए यह विचार भ्रमात्मक है। किन्तु यह हो सकता है कि कर्तृत्व शक्ति मूल में ही कम हो अथवा तामस हो और राग-द्वेष सुप्त अवस्था में हों वह देखने में सात्विक सा प्रतीत हो। अनेक नामधारी सात्विक स्वभाव के लोग इस प्रकार कर्तृत्वहीन और सुप्त राग-द्वेष वाले होते हैं। किन्तु वस्तुतः वह कुछ सात्विकता नहीं होती।

इसी तरह प्रत्येक वर्ण के कर्मों में सत्व, रज और तमोगुण के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। गीता में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि शूद्रस्वभाव तमोगुण प्रधान है अथवा ब्राह्मण स्वभाव सत्वगुण प्रधान और यदि कोई यह बतावे कि उसमें ऐसा सूचित किया गया है तो वह अनुभवयुक्त नहीं है। प्राचीनकाल से अभी तक कभी ऐसा हुआ नहीं कि प्रत्येक वर्ण के कर्म करने वालों में सात्विक कर्त्ता, राजसकर्त्ता, अथवा तामस कर्ता न हुए हों। फिर, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्वभाव राजस-तामस ही हो तो उन से अनासक्ति योग किस तरह हो सकता है और किस प्रकार वे अपने कर्मों द्वारा ही श्रेयः प्राप्ति कर सकते हैं? मोक्ष का अधिकार सब वर्णों को है यह बात गीता और उसी तरह अन्य शास्त्र स्पष्टतया स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में जो यह कहा गया है कि ब्राह्मणादिक वर्णों के साथ जो स्वभाव अथवा रुचि का भेद है वह गुणों के कारण है, वहाँ गुणों का आशय सत्व, रज अथवा तम नहीं, बल्कि सामान्य अर्थ में वहाँ खासियत विशेषता अथवा रुचि समझना चाहिए। पूर्व कर्म, जन्म, संस्कार, परिस्थिति आदि-आदि अनेक कारणों से प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय में

जो विशेष अभिरुचियाँ उत्पन्न होती हैं, वे इन के गुण कहलाती हैं। उन के कारण किसी को पठन-पाठन आदि विद्या अथवा बुद्धि-सम्बन्धी कर्म करना ही रुचिकर होता है, दूसरों को लड़ना, साहसिक कार्य हाथ में लेना तथा शासन करना आदि ही पसन्द होते हैं, तीसरे का व्यापार करने में ही मन दौड़ता है, और चौथे की कला-कौशल में ही रुचि होती है। ऐसी प्रत्येक कर्म की रुचि सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार की हो सकती है। गीता यह सिखाती है कि यह सब रुचियाँ पवित्र अथवा अपवित्र दोनों तरह की हो सकती हैं। यदि इस रुचि के साथ सात्त्विकता और नम्रता हो तो वह पवित्र है, यदि इस के साथ राजस वृत्ति, लोभ आदि हो अथवा तामस वृत्ति—आलस्य, अज्ञान, आदि हो, तो वह अपवित्र है। इसी तरह ही से रैदास आदि अन्त्यज सन्त पुरुष हो सकते हैं, और वेद-शास्त्र-सम्पन्न ब्राह्मण पामर हो सकता है।

इस प्रकार यह विचार कि सत्वगुण बढ़ने से कर्तृत्व घट जाता है, भ्रमात्मक होने के कारण निकाल डाला जाना चाहिए कर्तृत्व घटने के अनेक कारण हैं और वे स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार चारों वर्ण के कर्म त्रिगुणों में से किसी की प्रधानता सूचित करते हैं, और इस से ब्राह्मण कर्म स्वयं ही श्रेष्ठ हैं और शूद्र के कर्मस्वयं ही कनिष्ठ हैं, अथवा इन वर्णों से ऊँच-नीच का क्रम है, यह विचार भी भ्रमात्मक है।

'गीता-मन्थन' में बहुत अधिक विस्तार हो गया है। मुझे कई बार यह मालूम हुआ कि इतना अधिक विस्तार करने में मैं वाचालता का दोष कर रहा हूँ। क्यों कि, अठारहवें अध्याय के श्लोक ६७ में ऐसी चर्चा कहाँ तो करनी चाहिए और कहाँ नहीं करनी चाहिए इस विषय में जो कुछ कहा गया है, उसे मैं सर्वथा ठीक मानता हूँ। फिर भी यह मान कर कि ज़ोर से बोल कर भी मैं अपने लिए ही यह उपासना

कर रहा हूं' मैंने अपने मन का समाधान कर लिया है। किन्तु इतना अधिक लिखने पर भी यह सम्भव है कि इस का अधिकांश पहिली बार पढ़ने से ही समझ में न आय। यह भी सम्भव है कि समझने पर भी इसका पूरा आशय लक्ष्य में न आये। उपोद्‌घात में कहे अनुसार यह विषय ही ऐसा है कि जीवन के विकास के साथ-साथ ही यह समझा जा सकता है। किंतु अधिकांश के ध्यान में यह बात नहीं आती कि जीवन-विकास का अर्थ केवल आयु की वृद्धि ही नहीं है, वरन् उसका अर्थ शुद्ध जीवन बिताने का प्रयत्न, सत्य का आग्रह, आत्म-निरीक्षण, संसार का निरीक्षण, सूक्ष्म अवलोकन और विचार करने की आदत, तथा पवित्र पुरुषों का सहवास—और इन सब के साथ संसार के अनुभव। बहुतों का यह खयाल होता है कि अच्छी तरह तर्क करने की शक्ति हो, अनेक शास्त्रों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया हो, दर्शन-शास्त्रों की चर्चा में रुचि हो और पर्याप्त भाषा-ज्ञान हो तो तत्त्वज्ञान भी समझ में आना ही चाहिये। किन्तु यह भ्रम है। जीवन विषयक तत्त्वज्ञान अथवा जीवन-विषयक सच्चा दृष्टि-गम्य बिन्दु केवल बुद्धि ही नहीं है। बुद्धि के सिवा उसमें भावना-शुद्धि की और जीवन के अनुभव की अपेक्षा भी रहती है। यह न तो पुस्तकों से मिल सकता है, न उपदेशों से, सहस्रों पुस्तकों से भी जिसकी कल्पना न हो सके वह—अनुभव होते ही- क्षण भर में ही ध्यान में आसकता है।

यहां मैं कुछ गूढ़ योगादि के अनुभव की बात करता हूं, कोई ऐसी कल्पना के घोड़े न दौड़ावें, मैं तो मामूली बात ही करता हूं। जिसके कभी डाढ़ में चीस न चली हो, वह चाहे जितना बुद्धिमान होने पर भी उसके दुःख की कल्पना नहीं कर सकता, उसी तरह जीवन की अनेक बातों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

इसलिए मैं इस पुस्तक के लिए भी विचार-पूर्वक और शुद्ध जीवन के प्रयत्न पूर्वक बार बार पढ़ने और मनन करने की सलाह देता हूँ। इस से लाभ ही होगा। धर्म ग्रन्थ के नित्य पढ़ने और मनन से हमें कुछ न कुछ विचारने की, आचरण करने की और पचाने की सामग्री मिलती ही रहती है। जो सर्वथा संसारिक बुद्धि वाले से प्रतीत होते हैं, उनमें भी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने की आदत अच्छी रुचि पैदा करती है, उनमें भी चाह उत्पन्न करती है और कभी उनके अन्तरात्मा को भी जगा देती है।

(१३)

फिर भी, पाठक को आध्यात्मिक ग्रन्थ का वास्तविक उपयोग ही उसी समय प्रतीत होता है, जबकि श्रेयार्थी किसी धर्म सङ्कट में आ पड़ता है। जब किसी विषय में वह अपने को ऐसी उलझन की स्थिति में फंसा हुआ देखता है कि जब तक अपना कर्तव्य मार्ग स्पष्ट और निःशङ्क रूप से सूझ न जाय, तब तक उसके लिए किसी भी प्रकार का कदम उठाना असम्भव न होजाय, और धर्म-मार्ग के सिवा और कोई दूसरा मार्ग लेने को वह तैयार न हो तो उस समय उसे धर्म-सङ्कट सा प्रतीत होता है। जबतक जीवन के व्यवहारों में ऐसी उलझन उत्पन्न न हुई हो तो, तब तक धर्मग्रन्थ भावनाओं अथवा विचारों के उत्पादक भले ही बन जायें, और इनके अर्थ लगाने में वह ही सूक्ष्म तर्क दौड़ावे, फिर भी उस के लिये उस ग्रन्थ का श्रेष्ठ उपयोग नहीं हो सकता। ऐसा समय आपड़ने पर जिस ग्रन्थ की सहायता से वह अपना धर्म स्पष्ट और निःशङ्क रूप से शोध सके वही ग्रन्थ उसका जीवन-सूत्र बन जाता है। जिस समय ऐसा अनुभव हो जाता है, उस समय उसे वह ग्रन्थ 'श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ सार, पवित्र यह उत्तम'(९-२) प्रतीत होता है।

विचारवान पुरुष के लिए धर्म-सङ्कट का प्रसंग कभी न कभी आ ही जाता है। ऐसे प्रसंग पर मार्ग दर्शक बनने वाले जो

कतिपय ग्रन्थ संसार में गिने जा सकते हैं उनमें गीता का स्थान बहुत ऊँचा है, और हिन्दु धर्म के संस्कारों में जो पले हुए हैं उनमें तो इसका प्रथम स्थान माना जायगा ।

(१४)

इस प्रकार मैं ने अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार गीता का मन्थन किया है । इस प्रयत्न से गीता के रूप को सुशोभित बनाया है अथवा बिगाड़ा है । यह तो पाठक ही कह सकते हैं । सम्भव है कि दोनों प्रकार के मत रखने वाले मनुष्य निकल आवें । यदि कोई कहे कि अमुक रीति से गीता का अर्थ करने अथवा गीता का विचार करने का मुझे अधिकार ही नहीं है और मैंने गीता का अर्थ तोड़ा–फोड़ा है, तो उससे मुझे कुछ आश्चर्य न होगा । क्योंकि जीवन गूढ़ है और शास्त्र प्राचीन हैं। इसीलिये व्यास ने किस विचार से अमुक वाक्य लिखा होगा, यह खुद उनके सिवा कोई दूसरा निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता । मेरे प्रयत्न से गीता का उद्दिष्ट विषय सरल भाषा में सब के समझ सकने योग्य रीति से और इस युग के श्रेयार्थी की दृष्टि से हमें मार्ग दर्शक हो सकने जैसे तरीके से प्रस्तुत किया जा सका हो तो मैं समझूंगा कि मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया । इसमें त्रुटियां हैं ये बात मेरे ध्यान से बाहर नहीं है किन्तु उदार पाठकों से आशा है कि वे इन त्रुटियों को निभा लेंगे और सुधार लेंगे ।

॥ ॐतत्सत् ॥

सस्ता साहित्य मण्डल

'सर्वोदय साहित्य माला' के प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य १।)
३—तामिलवेद ॥।)
४—व्यसन और व्यभिचार ॥=)
५—(अप्राप्य)
६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग) ३)
७—(अप्राप्य)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥।=)
९—यूरोप का इतिहास २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—(अप्राप्य)
१२—(अप्राप्य)
१३—(अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १।)
१५—(अप्राप्य)
१६—अनीति की राह पर ॥=)
१७—सीता की अग्नि परीक्षा ।=)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ॥)
२२—अँधेरे में उजाला ॥)
२३—(अप्राप्य)
२४—(अप्राप्य)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफाई ।=)
२७—क्या करें ? १॥)
२८—(अप्राप्य)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—(अप्राप्य)
३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे ।)
३२—(अप्राप्य)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥।=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरङ्गित हृदय ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ।=)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)

४३—आत्म-कथा (गांधीजी) १॥)
४४—(अप्राप्य)
४५—जीवन-विकास १) १॥)
४६—(अप्राप्य)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्तियोग—गीता बोध (दे० नवजीवन माला)
४९—(अप्राप्य)
५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १)
५२—स्वगत ।=)
५३—(अप्राप्य)
५४—स्त्री-समस्या १॥।)
५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबिला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—(अप्राप्य)
५८—इंगलैण्ड में महात्माजी ॥।)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलङ्क ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)
६६—(अप्राप्य)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता १॥)
६८—स्वतन्त्रता की ओर— १॥)
६९—आगे बढ़ो ! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥=)
७१—कांग्रेस का इतिहास २॥)
७२—हमारे राष्ट्रपति १)
७३—मेरी कहानी २॥)
७४—विश्व इतिहास की झलक (ज० नेहरू) ८)
७५—हमारे किसानों का सवाल ।)
७६—नया शासन विधान-१ ॥।)
७७—(१) गाँवों की कहानी ॥)
७८—(२) महाभारत के पात्र ॥)
७९—सुधार और सङ्गठन १)
८० (३) सन्तवाणी ॥)
८१—विनाश या इलाज ! ॥।)
८२—(४) अंग्रेजी राज में हमारी दशा ॥)
८३—(५) लोकजीवन ॥)
८४—गीतामंथन १॥)